Women's Position And Role In North Indian Society From The 10th To The 13th Century As Depicted In The Contemporary Hindi Literature.

दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के समकालीन हिन्दी साहित्य के आधार पर उत्तर भारतीय समाज में नारी की स्थिति एवं भूमिका का चित्रण"

Thesis for the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

University of Allahabad

Presented by :

RITU JAISWAL

Under the supervision of

Dr. HERAMB CHATURVEDI

University of Allahabad

Allahabad

1997

विषय-सूची

प्राक्कथन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध ''दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के समकालीन हिन्दी साहित्य में चित्रित नारी की स्थिति एवं भूमिका''।

भारतवर्ष के इतिहास का पूर्वमध्ययुग हमारी सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक संस्कृति में परिवर्तन एवं देश की समूची स्थिति के करवट लेने का युग था। परिवर्तित हो रहे सामाजिक परिवेश में स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि उसकी स्थिति में परिवर्तन सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तनों का वास्तविक द्योतक होता है।

साहित्य और समाज का सम्बन्ध सदैव अनन्य और अपूर्व माना जाता है। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है, इस उक्ति के साथ साहित्य और समाज को एक दूसरे का प्रतिरूप और आदर्श माना जाता है। सार रूप में साहित्य किसी भी देश, काल, युग के विशिष्ट जनों एवं सामान्य जनों दोनों के विचारों, व्यवहारों, कार्यों और सुख-दुख की अनुभूतियों का चित्रण करता है। अतः साहित्य को समकालीन समाज की जीवन धारा, चेतना, आदर्श, मूल्य, व्यवहार और प्रगति-अवनति का एक सामान्य एवं बेबाक लेखा-जोखा माना जा सकता है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में पूर्व मध्यकालीन स्त्रियों की स्थिति को साहित्यिक साक्ष्यों से खोजने एवं उसके

यह मेरा पुनीत कर्त्तव्य है कि मैं उन सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करूँ जिन्होंने मेरे इस कार्य की पूर्ति में अमूल्य सहयोग दिया। इनमें अग्रणी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विद्वान डा. हेरम्ब चतुर्वेदी हैं। जिनसे मुझे इस शोध प्रबंध के विषय की प्रेरणा मिली तथा नितान्त व्यस्तता में भी उनकी मुझ पर अनुकम्पा रही। उनके योग्य मार्गदर्शन तथा बहुमूल्य निर्देशन के लिए मैं उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। उनका स्नेह एवं आशीर्वाद मुझे सदा ही प्राप्त होता रहा है। श्रीमती आभा चतुर्वेदी, पत्नी श्री हेरम्ब चतुर्वेदी की भी मैं आभारी हूँ, जिनका असीम स्नेह एवं आशीर्वाद मुझे सदैव मिलता रहा है तथा उन्होंने मुझे घर का एक सदस्य मानकर मेरा समय-समय पर उत्साहवर्द्धन किया।

भारतीय पूर्व मध्ययुग के सामाजिक जीवन का वर्णन करने वाले दस्तावेजों, साक्ष्यों और ग्रन्थों को प्राप्त करने, अध्ययन करने और सारतत्व निकालने के लिये सदा से भारत में प्रसिद्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से अभूतपूर्व सहायता मिली। साथ ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ईश्वरी प्रसाद शोध संस्थान, इलाहाबाद, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद संग्रहालय पुस्तकालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, गंगानाथ झॉ रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद, लोक भारती पुस्तकालय, इलाहाबाद आदि से तत्कालीन सामाजिक जीवन शैली से सम्बन्धित सामग्री की कार्यपूर्ति और प्रस्तुति हेतु इन पुस्तकालयों के प्रति मैं निस्संदेह आभारी हूँ।

अन्त में मैं उन सभी के प्रति जिन्होंने मुझे मौखिक एवं क्रियात्मक सहयोग तथा प्रोत्साहन दिया हृदय से आभारी हूँ। श्रद्धा तथा उत्साह के अवलम्बन पूज्य पिताजी तथा पूज्य मॉ को मैं अपना यह शोध कार्य समर्पित करती हूँ।

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति एवं भूमिका

विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के निर्माण में नारी का योगदान महत्वपूर्ण रहा है तथा सभी युगों में किसी भी राष्ट्र की संस्कृति का मुख्य मापदण्ड, भी नारी की स्थिति ही रही है।[1] स्त्रियों की स्थिति समाज की स्थितियों का वास्तविक व सत्यनिष्ठ प्रतिबिम्ब होती है, उसकी स्थिति में परिवर्तन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व सांस्कृतिक परिवर्तनों का वास्तविक, द्योतक होता है। प्राचीन काल से ही भारतीय स्त्रियों ने पराधीनता किन्तु समाज में एक सम्मानित अवस्था का उपभोग किया है। प्राचीन हिन्दू व्यवहार-विधि-स्रष्टा मनु ने अपनी धर्म-संहिता में स्त्रियों पर पराधीनता की स्थिति का आरोपण अवश्य किया है, किन्तु किसी भी दशा में उन्हें समाज में असम्मानित नहीं माना है। मनु के अनुसार "एक स्त्री को अपने बाल्यकाल में अपने पिता, यौवनावस्था में अपने पति एवं जब उसके स्वामी (पति) का देहान्त हो जाये तो अपने पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिये, एक स्त्री को कदापि स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये। उसे

---

1. ए.एस. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** दिल्ली-1973, पृ-1; बेदर **वुमैन इन एन्शियेन्ट इण्डिया,** अनुवाद, मेरी ई.आर. मार्टिन, वाराणसी-1964, पृ. 23; ए.सी. बनर्जी, **दि स्टेट एण्ड सोसायटी इन नार्दन इंडिया,** कलकत्ता-1982 पृ- 75।

कदापि अपने पिता, पति अथवा अपने पुत्रों से पृथक नहीं होना चाहिये, इन्हें त्याग कर वह (अपने एवं पति दोनों) परिवारों को अपमानित करती हैं।"[2]

यद्यपि मनु ने स्त्रियों को सदा ही एक पराधीन अवस्था में सौंपा है तथापि समाज में स्त्रियों की सम्मानित दशा की ओर भी उसने संकेत किया है – "पिताओं, भाइयों, पतियों तथा देवरों (जो स्वयं अपने कल्याण की कामना करते हैं) को चाहिये कि स्त्रियों को प्रतिष्ठित एवं सुशोभित रखें। जहाँ स्त्रियों की प्रतिष्ठा होती है वहां देवता प्रसन्न होते हैं, किन्तु जहाँ उनका सम्मान नहीं होता-किसी भी पवित्र (धार्मिक) संस्कार का प्रतिफल नहीं प्राप्त होता। जहाँ स्त्रियाँ क्लेश में रहती हैं, (वहाँ) सम्पूर्ण कुटुम्ब का नाश हो जाता है, किन्तु वह कुटुम्ब जहाँ वे दुःखी नहीं होती, सदा कृतार्थ होता है। वह गृह जहाँ स्त्रियों की समुचित प्रतिष्ठा नहीं होती है – शाप का भागी होता है। अतः जो पुरुष अपने कल्याण की इच्छा रखते हैं उन्हें अवकाश के दिनों एवं तीज-त्योहारों में आभूषणों, वस्त्रों तथा स्वादिष्ट भोजन की भेंट देकर अपनी स्त्रियों को सम्मानित करना चाहिये। उस परिवार में, जहाँ पति अपनी पत्नी से एवं पत्नी अपने पति से तृप्त (प्रसन्न) हों – निश्चित रूप से आनन्द का राज्य होता है।[3]

---

2. **दी लॉज ऑफ मनु** (मनु के सिद्धान्त) अध्याय-5 भाग 147-149, जैसा कि 'दि सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, सम्पादक एफ. मैक्समूलर, खण्ड-25 ऑक्सफोर्ड 1886 पृ-195 पर उद्धृत है।

3. **दि लॉज ऑव मनु,** अध्याय-3 भाग-55-60 जैसा कि सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, खण्ड 25 पृ-85-86 पर उद्धृत है।

इसके अतिरिक्त मनु की मानव धर्म संहिता से विदित होता है कि वह इन (स्त्रियों) की (राजकीय सेवा में, औद्योगिक तथा कृषि कार्यों में) नियुक्ति के पक्ष में था। उसके अनुसार "उन स्त्रियों के लिये जो कि राजकीय सेवा में रत हों, उनकी पदवी और उनके कार्य के महत्वानुसार उसे (राजा को) उनके दैनिक निर्वाह निश्चित करना चाहिये।"[4] इस प्रकार मनु के अनुसार पूर्व मुस्लिम काल में हिन्दू स्त्रियों को समाज में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। उनकी यह प्रतिष्ठा सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों रूप में विद्यमान थी।

मुस्लिम आगमन के साथ ही अवलोकित काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में एक परिवर्तन का प्रादुर्भाव हुआ। कुरआन से विदित होता है कि मुस्लिम स्त्रियों को भी समाज में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। कुरआन में वर्णित है "हे ईमान लाने वालों! तुम्हारे लिये यह वैध नहीं है कि स्त्रियों के बलपूर्वक उत्तराधिकारी बन बैठो, और न यह वैध है कि उन्हें इस कारण रोको कि जो कुछ तुमने उन्हें दिया है उसमें से कुछ भाग ले लो, हाँ यदि वे प्रत्यक्ष रूप से अश्लील कर्म करें तो अन्य बात है।[5] हिन्दुओं का उल्लेख करते हुये अलबेरुनी ने लिखा है – सभी समस्याओं

---

4. **दि लॉज ऑव मनु,** अध्याय-7 भाग-125 पृ-236।

5. **दि होली कुरआन,** अनुवादक, मौलवी मुहम्मद अली, लाहौर-1920 अध्याय-4 भाग-3, उपदेश-19, पृ-205-206; **'मुस्लिम आउटलुक'** खण्ड-28, 1938 पृ-153-163 पर बेगम सुल्तान मीर अमीरुद्दीन का **'वीमेन्स स्टेटस इन इस्लाम'** शीर्षक लेख।

एवं संकटों में वे स्त्रियों से परामर्श लेते हैं।[6] किन्तु परवर्ती कालों में स्त्रियों की दशा में अवनति प्रारम्भ हो गई जिसके प्रमुख कारण राजनीतिक अस्थिरता और सामाजिक संकीर्णता माने जा सकते हैं।

पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँट जाने के कारण व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण या सामाजिक आदर्श खो बैठा। ग्यारहवीं शताब्दी में जब अल्बेरूनी ने उत्तर भारत का भ्रमण किया तो उसने हिन्दुओं को विभिन्न जन्मगत, स्थानगत, व्यवसायगत, सम्प्रदायगत और वंशगत जातियों एवं उपजातियों में बॅटा हुआ पाया। वर्णभेद के कारण जातिगत और वंशगत अभिमान, फलतः पार्थक्य और पारस्परिक संघर्ष बढ़ता जा रहा था। विलासिता की प्रवृत्ति बढ़ने और यवन, शक हूणादि के सम्पर्क में आने के कारण विवाह योग्य अवस्था धीरे-धीरे कम हो रही थी जिसका अन्त बाल-विवाह में हुआ। कन्यादान के कारण भी ऋतुमती होने से पूर्व ही कन्या का विवाह कर दिया जाने लगा। स्त्री शिक्षा का यद्यपि ह्रास हो रहा था तो भी विदुषी स्त्रियों का नितान्त अभाव नहीं था। इस्लामी प्रभाव और स्त्रियों की सुरक्षा की दृष्टि से परदा-प्रथा प्रचलित होती गई। वैसे तो जीवन की विभिन्न स्थितियों में स्थित व्यक्तियों ने स्त्री को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा, अपने-अपने दृष्टिकोणों से लोगों ने उसकी निन्दा या प्रशंसा की; किन्तु कुछ नियन्त्रण की आवश्यकता का अनुभव करते हुये भी वह माता, पत्नी, पुत्री आदि विविध रूपों में समाज द्वारा समाद्रत थी।

---

6. **अलबेरुनीज इंडिया** अनुवादक, एडवर्ड सी. सचाऊ भाग-1, नई दिल्ली, 1964, पृ-181।

वैदिक युग में नारी की स्थिति

वैदिक युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारी समान रूप से आदृत और प्रतिष्ठित थी। गृह की साम्राज्ञी के रूप में उसे प्रतिष्ठापित किया गया तथा घर के अन्य सदस्यों को उसके शासन में रहने के लिये निर्देशित किया गया।[7] धीरे-धीरे वैदिक कालीन समाज में उसका महत्व इतना अधिक बढ़ गया कि उसके बिना अकेला पुरुष अपूर्ण और अधूरा समझा गया।[8] वैदिक कालीन समाज में पुत्री के जन्म पर दुःखी होने का कोई प्रमाण हमें नही मिलता है। तत्युगीन ग्रन्थों में ऐसे धार्मिक कृत्यों का उल्लेख है जिनका उद्‌देश्य विदुषी पुत्री प्राप्त करना था।[9] वैदिक युग में स्त्री-शिक्षा अपनी उच्चतम सीमा पर थी। पुत्री का भी उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था तथा वह भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थी।[10] उसे यज्ञ सम्पादन और वेदाध्ययन

---

7. **अथर्ववेद**, सम्पादक, आर. रौथ एवं छिटने, बर्लिन-1856, 14.14

8. **शतपथ ब्राह्मण** सम्पा. ए. वेबर, लन्दन 1885, अनुवाद जे. एजलिंग, 5.2.1.10; **मनुस्मृति** मनुवादक, विलियम जोन्स कलकत्ता 1794, 9.45

9. **वृहदारण्यक उपनिषद**, सम्पादक एवं अनुवादक-ओ. बोटलिंक लिपजिंग- 1889, 4.5.18

10. **अथर्ववेद** 11.5.18; **मनुस्मृति** 11.66, सम्पादक, जौली लन्दन 1887

करने का पूर्ण अधिकार भी प्राप्त था।[11] दर्शन और तर्कशास्त्र में भी स्त्रियाँ निपुण थीं।[12] ऋग्वेद की अनेक प्रसिद्ध ऋचाओं का प्रणयन तत्युगीन विदुषी स्त्रियों ने किया था।[13] वैदिक युग में छात्राओं के दो वर्ग थे सद्योवधू एवं ब्रह्मवादिनी[14] ब्रह्मवादिनी वे थीं जो जीवनपर्यन्त अध्ययन में लीन रहती थी और विवाह नहीं करती थी।[15] ऐसी स्त्रियाँ बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न होती थी, वे दर्शन, तर्क, मीमांसा, साहित्य आदि विभिन्न विषयों में पारंगत होती थी।[16] सद्योवधू वे छात्रायें थीं जो विवाह के पूर्व तक कुछ वेद-मन्त्र और याज्ञिक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेती

---

11. **ऋग्वेद** सम्पादक मैक्समूलर, 1890-92, वैदिक संशोधन मंडल पूना-1933; 52/28/1; **अथर्ववेद** 2.36.1, 11.1.17.27; **तैत्तिरीय संहिता** सम्पा. ए. वेबर, बर्लिन 1871-72, माधव की टीका सहित, कलकत्ता 1854-99
12. **वृहदारण्यक उपनिषद्**, सम्पादक, बोटलिंक, लिपजिंग 1889, 2.4
13. **ऋग्वेद** 1.179, 5.28, 8.91, 11-20, X. 39, 40
14. अल्तेकर, **एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इंडिया,** नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस, तृतीय संस्करण - 1948
15. वाल्मीकि, **रामायण**, सम्पादक रघुवीर लाहौर 1938, 7.17
16. **महाभारत**, नीलकंठ की टीका सहित, पूना 1929, 4.1.14, 3.155 **वृहदारण्यक उपनिषद** 2.4, 4.5, 36.1

थी।[17] अध्ययन-मनन के क्षेत्र में स्त्रियों की रुचि निरन्तर बढ़ती गई। दर्शन जैसे गूढ़ और गम्भीर विषय में भी स्त्रियाँ पारंगत होने लगी। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी प्रसिद्धि दार्शनिका थीं। जिनकी रुचि अलंकारों में न होकर दर्शन में थी।[18] जनक की राजसभा में होने वाली विद्वद्गोष्ठी में गार्गी ने अपनी अद्भुत तर्कशक्ति से याज्ञवल्क्य जैसे महर्षि को चौंका दिया तथा अपनी पृच्छाओं से उन्हें ही नहीं, अपितु पूरे विद्वत्समाज को स्तब्ध कर दिया।[19]

---

17. **'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'**, भाग-10, पृ-553, 38 में प्रकाशित श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्वारा लिखित **'स्त्री शिक्षा'** शीर्षक लेख। "छात्रायें दो श्रेणियों में विभक्त थी – ब्रह्मवादिनी एवं सद्योदवाह। प्रथम श्रेणी की छात्रायें धर्मशास्त्र एवं दर्शन का अध्ययन आजीवन किया करती थीं, द्वितीय श्रेणी की छात्रायें अपना अध्ययन विवाह तक, अर्थात् पन्द्रह या सोलह वर्ष की आयु पर्यन्त जारी रखती थीं। इस आठ या नौ वर्ष की अध्ययनावधि में वे वैदिक स्त्रोत्रों को कंठाग्र कर लेती थीं। स्तोत्रों का उचित उपयोग वे दैनिक एवं सामयिक प्रार्थनाओं में तथा उन अनुष्ठानों में किया करती थीं, जिनमें इनको विवाहोपरान्त सक्रिय भाग लेना पड़ता था ...."; अल्तेकर कृत, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन**, पृ-10-11

18. **वृहदारण्यक उपनिषद**, 2.4, 4.5, सा होवाच मैत्रेयी। येनाहं नामृता स्याम् किं तेनाहं कुर्यामिति।

19. **वही** 36.1 अनतिपृश्न्यां वै देवतामति पृच्छसि।

उत्तरवैदिक काल में कन्याओं को पूर्वजों की पूजा के लिये यज्ञ करने का अधिकार न रहा। पुत्र ही यह धार्मिक कृत्य कर सकते थे। इसलिये इस काल में कन्या का जन्म दुःखदायी समझा जाने लगा तथा पुत्र को ही परिवार का रक्षक माना जाने लगा।[20] किन्तु परिवार में पुत्री के लालन-पालन की उपेक्षा नहीं की जाती थी। उनकी शिक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। कन्यायें साधारणतया सोलह वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहती थीं और उनका उपनयन संस्कार किया जाता था।[21] अथर्ववेद में कन्या के ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने एवं शिक्षा प्राप्त करने का स्पष्ट उल्लेख है।[22] गार्गी और आत्रेयी भी वैदिक सिद्धान्तों से भली-भाँति परिचित थी।[23]

प्राचीन भारतीय समाज में विवाह का उद्देश्य पति-पत्नी के अन्तर्निहित गुणों का विकास करना था जिससे उनकी निज की उन्नति हो सके और वे सन्तान को जन्म देकर समाज की प्रगति में योग दे सकें, हिन्दू संस्कृति में विवाह को एक धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण किया गया है। [24] गार्हस्थ्य जीवन का प्रारम्भ

---

20. **ऐतरेय ब्राह्मण**, षड्गुरुशिष्य कृत, सुखप्रदावृत्ति सहित, त्रावणकोर विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम, 7.94

21. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** , पृ-200

22. **अथर्ववेद** 11, 5, 18

23. **वृहदारण्यक उपनिषद** 3, 6, 8

24. **ऋग्वेद** 10.85.36, 10.85.45; **शतपथ ब्राह्मण** 5.2.1.10

विवाह से ही माना गया है।[25] वैदिक काल में जो व्यक्ति अविवाहित रहता था उसे अपवित्र समझा जाता था।[26] एक परवर्ती सूत्र में लिखा है कि विवाहित स्त्री की ही अंत्येष्टि क्रिया की जाती थीं।[27] पुत्रवती माता का इसीलिये परिवार में उच्च स्थान था।[28] वैदिक काल में कन्याओं का विवाह युवावस्था में होता था।[29] कन्यायें स्वयं अपने लिये वर ढूंढती थीं।[30] जब कन्या में कुछ शारीरिक दोष होता था तो पिता दहेज देकर उसका विवाह करता था।[31] कुछ धनी व्यक्ति भी अपनी पुत्रियों के विवाह में दहेज देते थे। अथर्ववेद में एक ऐसे पिता का उल्लेख है जिसने अपनी पुत्री के विवाह में वर को एक सौ गाय दहेज में प्रदान की।[32] ऋग्वेद में अनेक ऐसे प्रकरण मिलते हैं जिनमें यह स्पष्ट है कि कन्याओं का विवाह बड़ी आयु में होता था।[33]

---

25. **याज्ञवल्क्य स्मृति** सम्पादक, जे.आर. घरपुरे, बम्बई 1926, 5.97; **मत्स्य पुराण**, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 154.152-53
26. **ऋग्वेद** 1.35.24; **तैत्तिरीय संहिता** 2.2.26
27. **बौधायन स्मृति सूत्र**, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, 5.9
28. **ऋग्वेद** 10.85.42
29. **ऋग्वेद** 9.56.3; 1.27.12, 10.85; **अथर्ववेद** 2.30.5
30. **ऋग्वेद** 10.27.12
31. **ऋग्वेद** - 6.28.5; 1.27.12
32. **अथर्ववेद** 5.17.12
33. **ऋग्वेद** 1.115.2, 1.117.7, 1.123.11, 1.197.3

वैदिक साहित्य से स्पष्ट है कि परिवार में पत्नी की बहुत अधिक प्रतिष्ठा थी।[34] पत्नी शब्द से ही यह स्पष्ट है कि सामाजिक तथा धार्मिक कृत्यों में उसकी स्थिति पति के समकक्ष थी। पत्नी के अभाव में मनुष्य अपूर्ण होता था, तथा उसके द्वारा सम्पादित यज्ञ भी अपूर्ण माना जाता था।[35] यज्ञ में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी पत्नी की संज्ञा को चरितार्थ करती है।[36] वैदिक युग में पति की अनुपस्थिति में पत्नी को अकेले ही धार्मिक कृत्य सम्पादित करने की अनुमति प्रदान की गई।[37] ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से पत्नी को यज्ञ करने व अग्नि में आहुतियाँ देने का अधिकार प्रदान किया गया।[38] पति-पत्नी दोनों गार्हपत्य अग्नि की रखवाली करते थे।[39] चूँकि इस युग में कन्याओं का उपनयन संस्कार होता था अतः वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन व यज्ञ का अधिकार इन्हें स्वतः प्राप्त था।[40] ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना-काल में अनेक धार्मिक-क्रियायें पुरुष (पुरोहित) ही करने लगे थे, क्योंकि, धार्मिक क्रिया

---

34. **ऋग्वेद** 1.66.3, 1.124.4, 3.53.4; **अथर्ववेद** 14.2.43

35. **शतपथ ब्राह्मण** 5.1.6.10, 5.2.1.10

36. **शतपथ ब्राह्मण** 1.19.2.14

37. **ऋग्वेद** 10.86.10

38. **ऋग्वेद** 1 131.3

39. **ऋग्वेद** 2.39.2

40. **अथर्ववेद** 11.5.18; **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन**, पृ-196

विधि-विधानों में जटिलता का समावेश होने लगा था।[41] किन्तु फिर भी धार्मिक-कृत्यों में पति के साथ पत्नी की उपस्थिति आवश्यक समझी जाती थी।[42] इस प्रकार ब्राह्मण काल सम्भवतः स्त्रियों की स्थिति के सन्दर्भ में सक्रान्ति काल था, धार्मिक क्रियाओं में जटिलता और विभिन्न सामाजिक-संस्थाओं के विकसित होने के कारण स्त्रियों का कार्यक्षेत्र धीरे-धीरे सीमित होता जा रहा था, किन्तु अब भी स्त्री धार्मिक कार्यों में पुरुष की सहधर्मिणी थी।[43] यास्क के अनुसार यदि किसी पुरुष का पुत्र न हो तो इसकी **विवाहिता पुत्री** पिता की अंत्येष्टि-क्रिया कर सकती थी।

हिन्दू समाज में आदिकाल से बहुविवाह की प्रथा रही है, ऋग्वैदिक समाज में भी अभिजात वर्ग के पुरुष कई पत्नियाँ रखते थे।[44] ऋग्वेद में हमें विधवा शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है किन्तु उसकी सामाजिक स्थिति का कोई विशेष बोध नहीं होता।[45] वैदिक कालीन साहित्य से विदित होता है कि पुनर्विवाह तत्कालीन समाज

---

41. **शतपथ ब्राह्मण** - 1.1.4.13

42. **ऐतरेय ब्राह्मण** 1.2.5; **शतपथ ब्राह्मण** 5.1.6.10

43. **अल्तेकर वुमैन पोजीशन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** पृ-202

44. **ऋग्वेद** 1.62.11, 1.71.1, 1.104.3, 1.105.8, 1.112.19, 1.168-8-6, 53, 4

45. **ऋग्वेद** 1/87/31, एक स्थान पर वर्णन है कि मरूत के वेग से जिस प्रकार पृथ्वी काँपने लगती है उसी प्रकार पति से विछोह होने (मृत्यु होने) पर स्त्री दुःख अथवा दुर्व्यवहार के भय से काँपती है।

में प्रचलित था, पति की मृत्यु हो जाने पर स्त्री को दूसरा विवाह करने का अधिकार प्राप्त था।[46] भारतीय इतिहास में नियोग की प्रथा वैदिक कालीन है, वैदिक कालीन ग्रन्थों में ऐसी पुत्रहीन विधवा का उल्लेख है जो पुत्र-प्राप्ति हेतु देवर को अपना पति बनाती है।[47]

पूर्ववैदिक युग में वधू का मुख सभी अतिथियों को दिखाया जाता था,[48] जो परदा-प्रथा के विरुद्ध स्त्रियों की उन्मुक्तता की ओर संकेत करता है। इस युग में स्त्रियाँ सभा और समिति या उत्सव और मेला आदि में स्वच्छन्दतापूर्वक सम्मिलित होती थी।[49] कभी-कभी स्त्रियाँ अपने सम्पत्ति विषयक अधिकार के लिये न्यायालय भी जाती थी।[50] अतः परदा जैसे व्यवहार का स्पष्ट संकेत वैदिक युगीन साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

वैदिक काल में सामान्यतया भाई-युक्त कन्या को पैतृक सम्पत्ति में से हिस्सा नहीं मिलता था।[51] केवल वही कन्या जिनका भाई नहीं होता था, पिता

---

46. **ऋग्वेद** 10.40.2, 10.18.8; **अथर्ववेद** 9.5.26-27

47. **ऋग्वेद** 10.40.2; **तैत्तिरीय संहिता** 3.2.4.4; **अथर्ववेद** 9.5.26

48. **ऋग्वेद** 10.85.33

49. **ऋग्वेद** 10.85.26; **अथर्ववेद** 2.36.1, 14.1.22

50. **अथर्ववेद** 14.1.21; यास्क कृत **निरुक्त**, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई -1912, 3.5

51. **ऋग्वेद** 3/31/2

की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी मानी जाती थी।[52] किन्तु अविवाहित कन्या को पिता की सम्पत्ति का कुछ भाग अवश्य मिलता था।[53] प्राचीन काल में कुछ पिता, पुत्री के विवाह के समय वर से कुछ धन लेते थे और इस धन का कुछ भाग वे विवाह के समय स्त्रीधन के रूप में पुत्री को प्रदान कर देते थे।[54] विवाह के समय जो कुछ भी उपहार (परिणाह्य) प्रदान किये जाते थे, उनकी स्वामिनी पत्नी को माना जाता था।[55] क्योंकि यह भी स्त्री धन के अन्तर्गत था।

ईसा पूर्व पाँचवी शती से लगभग पाँच सौ ईसवी तक समाज में स्त्रियों की स्थिति

उपनिषदों के काल तक भी स्त्रियों को वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन का अधिकार प्राप्त था तथा वे आध्यात्मिक विषयों पर पुरुषों के साथ समान रूप से वाद-विवाद में भाग लेती थी।[56] सूत्रकाल में भी कन्याओं का उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था।[57] इस काल में भी पुत्री की कुशलता के लिये प्रार्थना की जाती

---

52. **ऋग्वेद** 1.124.7

53. **ऋग्वेद** 2/17/7

54. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन**पृ-218

55. **तैत्तिरीय संहिता** VI.2.1.1 "पत्नी वै पारीणाह्यस्य ईशै"

56. **वृहदारण्यक उपनिषद**, II 4, IV, 5, III, 6,1

57. **गोभिल ग्रह्य सूत्र**, 3, 7, 13, 2, 7, बिबलियोथिका इंडिका सीरीज

थी।[58] तत्युगीन ग्रन्थों में सुलभा, मैत्रेयी, वडवा, प्राथितेयी, गार्गी और वाचनकवी जैसी विदुषी स्त्रियों के प्रति आदर प्रकट किया गया है।[59] बौद्ध युग में भी स्त्रियाँ प्रायः शिक्षित और विद्वान हुआ करती थीं, थेरीगाथा की कवियित्रियों में बत्तीस आजीवन ब्रह्मचारिणी और अठ्ठारह विवाहित भिक्षुणियाँ थीं, उनमें शुभा, सुमेधा, अनोपमा आदि उच्च वंश की कन्यायें थीं, जिनसे विवाह हेतु राजकुमार भी इच्छुक थे।[60] बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार गुणवती पुत्री को पुत्र से भी श्रेष्ठ समझना चाहिये।[61] अनेक महिलायें अध्यापिकाओं का जीवन व्यतीत करती थीं, ऐसी स्त्रियाँ उपाध्याया कही जाती थीं।[62] तत्युगीन ग्रन्थों में महिला शिक्षणशाला का भी उल्लेख मिलता है।[63] अवलोकित काल के साहित्य से विदित होता है कि नारी-शिक्षा के दो रूप थे, एक आध्यात्मिक और

---

58. **आपस्तम्ब ग्रह्य सूत्र** 15, 12-13, सुदर्शनाचार्य की टीका सहित मैयूर गर्वमेन्ट संस्कृत लाइब्रेरी सीरीज,

59. **आश्वलायन ग्रह्य सूत्र**–III, 4, 4, नारायण की टीका सहित निर्णय सागर प्रेम, बम्बई 1894

60. हार्नर, **वुमैन अंडर प्रिमिटिव बुद्धिज्म**, दूसरा अध्याय, दिल्ली – 1975

61. **संयुक्त निकाय**, सम्पादक, लियोन फ्रियर और श्रीमती रीज़ डेविड्स लन्दन 1884-1904, 3, 2, 6

62. पतंजलि, **महाभाष्य**, सम्पादक, कीलहार्न, बम्बई, 3.822

63. **पाणिनी**, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1929, 6.2.46

दूसरा व्यवहारिक। आध्यात्मिक ज्ञान में बृहस्पति भगिनी भुवना[64] अपर्णा, एकपर्णा, एकपाटला[65] मेना, धारिणी[66] संनति [67] शतरुपा[68] आदि कन्याओं का उल्लेख हुआ है जो ब्रह्मवादिनी थीं। इनके अतिरिक्त ऐसी कन्याओं का भी सन्दर्भ मिलता है जिन्होंने अपनी तपश्चर्या से अभीष्ट की प्राप्ति की थी। उमा, पीवरी, धर्मव्रता जैसी कन्याओं ने अपनी तपस्या के बल पर मनोनुकुल वर पाया था।[69] अतः आध्यात्मिक ज्ञान की अभिवृद्धि योग और तप पर भी निर्भर करती थी जिसमें स्त्री का ब्रह्मचर्य, सदाचरण, शील, सच्चारित्र्य और सद्व्यवहार संनिहित था। व्यवहारिक शिक्षा एवं ललित कलाओं में भी वे निपुण होती थी, कन्यायें नृत्य, संगीत, गान, चित्रकला आदि की भी शिक्षा

---

64. **वायु पुराण**, पूना- 1905, 66.27, बृहस्पेस्तु भगिनी भुवना ब्रह्मवादिनी
योगसिद्धा जगत्कृत्स्नमसक्ता विचरत्युत।

ब्रह्माण्ड पुराण, कलकत्ता, संवत् 2009, 3.2.28

65. **वायु पुराण** 72.13 - 15; **ब्रह्माण्ड पुराण**, 3.10.15 - 16

66. **विष्णु पुराण**, बम्बई - 1889, 3.10.19; **वायु पुराण**, 30.28.29;
ब्रह्माण्ड पुराण, 2.13.30

67. **मत्स्य पुराण**, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना - 1907, 20.27

68. **मत्स्य पुराण**, 4.24, या सा देहार्द्धसम्भूता गायत्री
ब्रह्मवादिनी, शतरुपा शतेन्द्रिया...

69. **मत्स्य पुराण**, 154, 290.294 - 301, 308 - 309;
वायु पुराण, 41.31 तपस्तप्तवती चैव यत्र देवी वरांगना।

ग्रहण करती थी।[70] किन्तु कालान्तर में स्त्रियों की स्थिति में पतन प्रारम्भ हुआ और पुत्र को ही परिवार की सभी आशाओं का केन्द्र मान लिया गया और यह कहा गया कि पुत्री अनेक कष्टों का कारण है।[71] भगवत्गीता में स्त्रियों को शूद्रों के समकक्ष माना गया है।[72] दूसरी सदी ई. पू. तक स्त्री का उपनयन व्यवहारतः बन्द हो चुका था, विवाह के अवसर पर ही उसका उपनयन संस्कार सम्पन्न कर दिया जाता था,[73] साथ ही उसके सामाजिक और धार्मिक महत्व को और अधिक कम कर दिया गया।[74] पंचतन्त्र के अनुसार पुत्री का जन्म पिता के लिये अनेक चिन्ता का विषय होता है।[75] तथापि अभिजात वर्ग की कन्याओं को गुप्त काल में संगीत, नृत्य, चित्रकला, माला बनाने खिलौने बनाने व घर की सजावट आदि की व्यवहारिक शिक्षा प्रदान की जाती थी।[76]

इस युग में भी विवाह एक महत्वपूर्ण संस्कार था, तद्नुसार विवाह के पश्चात पति-पत्नी आध्यात्मिक दृष्टिकोण से एक ईकाई बन जाते थे तथा उनका

---

70. **तैत्तिरीय संहिता** 6.1.6.5; **शतपथ ब्राह्मण** 14.3.1.35

71. **महाभारत** I 173, 10, नीलकंठ की टीका सहित, पूना - 1929 - 33

72. **भगवत्गीता** 9, 32, सम्पादक, तिलक, पूना - 1915

73. **मनुस्मृति** 2.67, अनुवादक, सर विलियम जोन्स कलकत्ता 1794

74. **मनु** 5.139; **याज्ञवल्क्य** - 1.21, सम्पादक, जे. आर. घरपुरे बम्बई - 1926

75. **पंचतन्त्र**, मित्रभेद - 5

76. वात्स्यायन कृत **कामसूत्र**, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई - 1900 अनुवादक, आयंगर लाहौर - 1921, 1, 3, 16, 1, 3, 1

व्यक्तिगत अस्तित्व समाप्त हो जाता था।[77] बौद्ध युग में भी पत्नी को परिवार में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त थी।[78] मनु के अनुसार गृहस्थी का अस्तित्व समाज के लिये उतना ही आवश्यक है जितना कि शरीर के लिये प्राण।[79] इस युग के प्रारंभ में कन्याओं का विवाह लगभग सोलह वर्ष की आयु में होता था।[80]

मनु का काल (लगभग 200 ई. पू. से 200 ई. तक) संक्रान्ति का काल था इस काल के उत्तरार्ध में कन्याओं का विवाह कम अवस्था में करना अच्छा समझा जाने लगा। ईसा की पहली शताब्दी से कन्याओं का विवाह बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में होने लगा। इस काल में इससे अधिक आयु तक कन्याओं का अविवाहित रहना पाप समझा जाने लगा।[81] इस धारणा के उदय होने के अनेक कारण थे पहला कारण तो यह था कि अनेक कन्यायें जो बौद्ध व जैन संघों में प्रविष्ट तो हो जाती थी किन्तु वे ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करने में असमर्थ रहती थीं जिससे समाज में उनकी बहुत निन्दा होती थी इसलिये कन्याओं का विवाह तेरह या चौदह वर्ष की अवस्था में होने लगा। इसके अतिरिक्त कन्या का विवाह उतना ही आवश्यक

---

77. **पारस्कर ग्रह्य सूत्र** – 1, गुजराती प्रेस संस्करण, 1917

78. **संयुक्त निकाय** 1.6.4

79. **मनु** – 3.77, 9.45

80. **धम्मपद**, सम्पादक राहुल सांकृत्यायन, रंगून 1937, 102

थेरीगाथा, अनुवाद, श्रीमती रिज़ डेविड्स, लन्दन 1909, 445

81. **महाभारत** 1, 114, 36 अवतीनां तु नारीणामद्य प्रभृतियातकम्।

समझा जाने लगा जितना कि पुत्रों का उपनयन संस्कार। दूसरी सदी ई. पू. तक स्त्री का उपनयन व्यवहारतः बन्द हो चुका था। कन्या के विवाह के अवसर पर ही उसका उपनयन संस्कार सम्पन्न कर दिया जाता था। मनु के अनुसार पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उपनयन संस्कार, पति सेवा ही आश्रम निवास एवं गृहस्थी के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान थे।[82]

सूत्र ग्रन्थों में हिन्दू विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख मिलता है।[83] ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच नामक आठ विवाह प्रकार माने गये हैं।[84] इनमें से प्रारंभिक चार विवाह भेद समाज में सम्मानित थे तथा अन्तिम चार निन्दित। किन्तु इन विवाह प्रकारों में नैतिक और धार्मिक मूल्यों के विवाह प्रकार समाज में अधिक प्रचलित हुये और अनैतिक तथा अधार्मिक वृत्तियों से प्रभावित विवाह - प्रकार बहुत कम स्वीकार किये गये। महाभारत में क्षत्रियों के लिये राक्षस विवाह प्रकार को भी उचित बताया गया है और इसे क्षात्र विवाह की

---

82. **मनु** - 2.67, वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मतः
पतिसेवा गुरौर्वासौ गृहार्थोग्नि परिक्रिया।।

83. **आश्वलायन गृह्य सूत्र** 1.6; **गौतम धर्म सूत्र**, हरदत्त की टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, 1910, 4.6.13; **बौधायन धर्मसूत्र** 1.11; **कौटिल्य** 3.2; **मनुस्मृति** 3.21.40; **महाभारत** 1.73.8 - 9; **याज्ञवल्क्य** 1.59

84. **विष्णु पुराण** 3.10.24 ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः
गांधर्वराक्षसौ चान्दो पैशाचाष्टमो मतः

संज्ञा प्रदान की गई।[85] महाभारत से ज्ञात होता है कि द्रौपदी, सुभद्रा और उत्तरा के पिता ने विवाह के अवसर पर घोड़े, हाथी और मणियाँ दहेज में दी थी।[86] रघुवंश में भी उल्लेख है कि विदर्भ ने अपनी पुत्री के विवाह में बहूमूल्य उपहार दिये।[87] विवाह के समय पुत्री को आभूषणादि उपहार प्रदान करने का प्रचलन था, किन्तु इस प्रकार के उपहारों का आदान-प्रदान दहेज के रूप में निश्चित नहीं था।

साधारणतया धर्मसूत्रकार विवाहित स्त्री के प्रति उचित व्यवहार करने का परामर्श देते हैं। वशिष्ठ के अनुसार पति को किसी भी दशा में पत्नी का परित्याग नहीं करना चाहिये।[88] प्रायश्चित करने पर परपुरुषगामिनी स्त्री भी पवित्र हो सकती है।[89] आपस्तम्ब के अनुसार भी यदि अपराध के पश्चात पत्नी प्रायश्चित कर ले तो पति उसे स्वीकार कर सकता है।[90] कौटिल्य ने परिवार में पति-पत्नी को समान स्थान दिया है तथा विवाह-विच्छेद का विस्तृत वर्णन दिया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह विच्छेद उचित नहीं समझा जाता था। कालान्तर में जब विवाह की आयु कम हो गई तो पत्नी के प्रति पति की स्थिति आचार्य जैसी हो गई, तथा बिना किसी

---

85. **महाभारत**, नीलकंठ की टीका सहित, 1, 145 - 5 - 6

86. **महाभारत** 1.113.12, 1.200.6, 1.74.3 - 5

87. कालिदास कृत **रघुवंश**, कालिदास ग्रन्थावली वाराणसी, 7.32 7.18, 12.16

88. **वशिष्ठ धर्मसूत्र** 28, 2 - 3

89. **वशिष्ठ धर्मसूत्र** 21, 8 - 10

90. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** 1, 10, 28, 20

अपराध के पत्नी के परित्याग एवं कुछ शारीरिक दण्ड देने की अनुमति भी प्रदान की गई।[91] संतानोत्पत्ति के लिये विधवा स्त्री को इस काल में भी देवर के साथ नियोग सम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति दी गई।[92] 300 ई. पू. के बाद भी कुछ धर्मशास्त्रकार नियोग प्रथा का समर्थन करते रहे, किन्तु अधिकांश शास्त्रकारों ने समाज में नैतिकता बनाये रखने के उद्देश्य से इस प्रथा का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया।[93] लगभग 600 ई. के बाद यह प्रथा समाज से लुप्त प्राय हो चुकी थी।[94] इस युग के कुछ व्यवस्थाकार पुत्र के होने पर भी पति के विदेश चले जाने के पाँच वर्ष पश्चात स्त्री को दूसरे पुरुष से विवाह करने की अनुमति प्रदान करते हैं।[95] कुछ धर्मसूत्रों में बाल-विधवा को पुनः विवाह की अनुमति दी गई है।[96] किन्तु लगभग तीन सौ ई. पू. से किसी भी दशा में विधवा विवाह का समाज में विरोध होने लगा।[97] इस युग में

---

91. **मनु** - 3, 116, 7 - 290 - 300, कुल्लुक भट्ट की टीका सहित, बम्बई 1946

92. **गोभिल गृह्यसूत्र** 2, 10, 27; **बौधायन धर्मसूत्र** 2, 1, 4, 9

93. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** 2.6.13.8; **बौधायन** 2.2.3 - 4; **मनु** 9.64 - 68, मेघातिथि की टीका सहित, कलकत्ता 1932

94. **अल्तेकर** पृ - 148; **अल्बेरुनीज इंडिया** सचाऊ, भाग - 2 पृ - 107 - 108

95. **वशिष्ठ धर्मसूत्र** 17.67; कौटिल्य **अर्थशास्त्र** 3.4;
नारद स्मृति 12.88; **जातक**, सम्पादक, फाउसबोल्स 1877 - 97 कैम्ब्रिज, 6.495

96. **बौधायन धर्मसूत्र** 2, 2, 4, 4; **वशिष्ठ धर्मसूत्र** 17, 66; **महाभारत** 13, 55, 7

97. **महाभारत** 8, 31, 45 क्षीण रत्नां च पृथिवीं हत क्षत्रिय पुंगवाम्
न घुत्सहान्यहं विधवामिव योषितम्।।

तप के जीवन को बहुत अधिक महत्व दिया जाने लगा अतः विधवा विवाह को अनुचित ठहराया गया। मनु के अनुसार भी विधवा को कभी भी पुनर्विवाह का विचार नहीं करना चाहिये। तथा आमरण संयम से रहकर, सतीत्व की रक्षा करते हुये जीवन बिताना चाहिये।[98] सूत्र-ग्रन्थों में सती प्रथा का उल्लेख नहीं है, मनु और याज्ञवल्क्य स्मृति में भी सती प्रथा के अनुपालन का कोई उल्लेख नहीं है। महाभारत में सती के कुछ उदाहरण मिलते हैं, जैसे कि माद्री[99] और वसुदेव[100] की पत्नियाँ सती हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि 400 ई. से सती प्रथा लोकप्रिय होने लगी थी। क्योंकि वात्स्यायन[101] कालिदास[102] और शूद्रक[103] के ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। गुप्तकाल का ऐतिहासिक उदाहरण गोपराज की पत्नी का है जो अपने पति के हूणों के विरुद्ध लड़ते हुये वीरगति को प्राप्त होने पर 510 ईस्वी में सती हुई थी। इस काल में स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध लगने प्रारम्भ हो गये थे, वे बाल्यावस्था में पिता के, यौवनावस्था में पति के एवं वृद्धावस्था में पुत्रों के संरक्षण में रहने के लिये निर्देशित

---

98. **मनुस्मृति** 5.157, 5.158

99. **महाभारत** 16, 7, 18

100. **महाभारत** 16, 7, 173, 74

101. **कामसूत्र** 6.2.53

102. कालिदास कृत **कुमारसंभव**, निर्णय सागर प्रेस - 1927, सर्ग - 4

103. शूद्रक कृत **मृच्छकटिक** निर्णय सागर प्रेस बम्बई - 1910

थीं।[104] इस काल में मन्दिरों में देवदासियों को रखने की प्रथा का प्रचलन हो चुका था। कालिदास ने उज्ञयिनी के महाकाल मन्दिर में देवदासियों का उल्लेख किया है।[105] पुराणों में वेश्याओं को खरीदकर देवदासी बनाने का वर्णन किया गया है।[106]

इस युग के धर्मसूत्रकार पति और पत्नी दोनों को सम्पत्ति का संयुक्त स्वामी कहते हैं एवं पति की अनुपस्थिति में पत्नी को सम्पत्ति में से आवश्यक धन खर्च करने का अधिकार प्रदान करते हैं। [107] मनु ने इस विषय में स्त्रीधन का विस्तृत उल्लेख किया है जिसके अनुसार विवाह के समय, माता, पिता एवं सम्बन्धियों द्वारा दिये गये उपहार एवं विवाह के पश्चात पति द्वारा दिये गये उपहार स्त्रीधन के अन्तर्गत आते हैं।[108] कात्यायन (400 - 600 ई.) ने स्त्रीधन को वर्गों में विभाजित किया है

---

104. **वशिष्ठ धर्मसूत्र** 5, 12, 2; **मनु** - 9.3; **बौधायन धर्मसूत्र** 2, 2, 3, 44 - 45

105. **मेघदूत** 1, 35, कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी

106. **भविष्य पुराण** 1, 93, 97; **पद्मपुराण** सृष्टिकांड 52, 97, सम्पा. बी. एन. मांडलिक, 4 भाग, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना - 1893 - 94; रेनाडॉट, **एन्शियन्ट एकाउन्ट ऑफ इण्डिया एण्ड चाइना बाई टू मोहम्डन ट्रैवलर्स,** लन्दन - 1733, पृ - 88

107. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** 2, 6, 14, 16 - 20; **बौधायन धर्मसूत्र** 2, 2, 44, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज

108. **मनु** 8, 416; 9.194, कुल्लुक भट्ट की टीका सहित बम्बई 1946

तद्‌दनुसार पिता, माता व पति द्वारा दिये गये उपहार सौदायिक हैं जिन पर पत्नी का पूर्ण अधिकार था और वे इन्हें किसी को भी दे सकती थीं, अन्य सम्बन्धियों द्वारा दिये गये उपहारों को असौदायिक कहा गया, स्त्री को इन्हें बेचने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था।[109] इस युग के शास्त्रकारों ने कन्या को पैतृक सम्पत्ति में अधिकार तो प्रदान किया किन्तु सपिंड, दायाद, आचार्य व शिष्य के अभाव में ही उसे अन्तिम अधिकारी माना।[110] महाभारत ने पुत्री को आधे भाग की अधिकारिणी माना है।[111] बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार यदि पिता सन्यास ग्रहण कर ले, और पुत्र न हो तो पुत्री सम्पूर्ण सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थी।[112] विधवा के सम्पत्ति विषयक अधिकार के विषय में विवेच्ययुग के शास्त्रकारों में मतभेद है। कुछ व्यवस्थाकार विधवा को पति की सम्पत्ति की स्वामिनी मानने के पक्ष में थे।[113] जबकि कुछ शास्त्रकार विधवा स्त्री के सम्पत्ति विषयक अधिकार के विरुद्ध थे।[114]

---

109. **धर्मशास्त्र का इतिहास** भाग - 2, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्ट्टीट्यूट, पूना - 1930 - 53 पृ - 939

110. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** 2/14/2 - 4, सम्पादक, बुलर भाग - 2, 1897

111. **महाभारत** 13, 88, 22

112. **थेरीगाथा** 327, अनुवाद, श्रीमती रिज डैविड्स, लन्दन - 1909

113. **गौतमधर्मसूत्र** - पिण्डगोर्त्रि सम्बन्धा रिक्थं भजेरन्स्त्री चान्पत्यस्य **विष्णुधर्मसूत्र** 2.135 - 6; **अर्थशास्त्र** 3.5

114. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** 2/14/2 - 5; **नारद स्मृति** 13.52 मनु 9.185, 9.187, कुल्लुक भट्ट की टीका सहित, बम्बई 1946

पाँच सौ ईसवी से लगभग नवीं शती तक स्त्रियों की स्थिति

अवलोकित काल के साहित्य के अध्ययन से यह आभासित होता है कि उस युग की सैन्य प्रधान प्रवृत्ति एवं सामाजिक, धार्मिक कारणों के परिणामस्वरूप अब परिवार में पुत्री की स्थिति पुत्र की अपेक्षा गौण हो गई थी। इस युग में पुत्र को परिवार के सुख का प्रतीक और पुत्री को दुःख का मूल कहा गया।[115] परन्तु दुःख का मूल होते हुये भी कन्या कुलभूषणा थी।[116] इस युग में नारी-शिक्षा का प्रसार किंचित अवरुद्ध हो चुका था, सम्भवतः बालिकाओं की विवाह अवस्था न्यून होने के कारण स्त्री-शिक्षा में और अधिक ह्रास हुआ।[117] कन्याओं की उच्च शिक्षा धीरे-धीरे अभिजात वर्ग तक ही सीमित हो गई थी, उन्हें साहित्य के अतिरिक्त संगीत, नृत्य और

---

115. प्रोफेसर इन्द्रा कृत, **स्टेटस ऑफ वुमैन इन इन्शियेन्ट इंडिया**, बनारस- 1955, पृ-125-127; की कृत, **एन्शियेन्ट इंडियन एजुकेशन**, पृ-81-82; सोमदेव कृत **कथासारित्सागर** अनुवाद, सी.एच. टौनी, सम्पादक, एन.एम. पुर्जर, लन्दन-1924 28.6

116. दण्डि कृत **दशकुमारचरित** , सम्पादक, एम.आर. काले बम्बई-1924 भाग-2, 7/13; **हारीत स्मृति** - सुवासिनी कुमारीञ्च .....

117. **वुमैन पोजीशन इन हिन्दू सिविलाइजेशन**, पृ-16

चित्रकला आदि की शिक्षा भी प्रदान की जाती थी।[118] समीक्षाधीन अवधि के साहित्य के अनुसार राजपूत कन्याओं को अन्य प्रकार की शिक्षा के साथ ही सैनिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी।[119]

विवेच्ययुग में अल्पवय विवाह का प्रचलन प्रारम्भ हो चुका था, तद्नुसार यदि बालिकायें नौ या दस वर्ष की हो और बालक सोलह या सत्रह वर्ष के हों तो उनका विवाह सम्पन्न कर देना चाहिये।[120] यद्यपि समकालीन साहित्य में अन्तर्जातीय विवाह के उदाहरण उपलब्ध होते हैं,[121] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के ब्राह्मणों में विवाह सम्बन्धी कुछ कठोरता का समावेश हो रहा था, अल्बेरूनी के अनुसार ब्राह्मण कभी भी अपने से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह नहीं करते।[122]

---

118. राजशेखर कृत **काव्यमीमांसा**, सम्पादक सी.डी. दलाल एवं आर.ए. शास्त्री, बड़ोदा-1934, पृ-53; अल्तेकर, **एजुकेशन इन एन्शिटेन्ट इंडिया**, प- 217; **की,** पृ-153

119. श्री हर्ष कृत, **नैषद्धीय चरित**, निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1933, 11.41; **एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इंडिया**, पृ- 222

120. **याज्ञवल्क्य स्मृति** 1/64; **अल्बेरूनीज इंडिया**, सचाऊ भाग-2, पृ- 261

121. राजशेखर कृत **कर्पूरमंजरी**, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1949 1.11; अल्तेकर, **राष्ट्रकूताज एण्ड देयर टाइम्स**, पूना-1934 पृ-17; जी.एस. धुर्ये, **कास्ट, क्लास एण्ड ऑक्यूपेशन**, बम्बई 1961 पृ-174

122. **अल्बेरुनीज इंडिया**, सचाऊ भाग-2 पृ-156

इस काल के स्मृतिकार यह आशा करते थे कि पत्नी हर प्रकार से पति की सेवा करे।[123] पत्नी के भरण-पोषण का पूर्ण उत्तरदायित्व पति पर समझा जाता था। [124] पति अथवा पत्नी एक दूसरे पर अत्याचार होने पर राजा के द्वारा कानूनी कार्यवाही करके अत्याचार का प्रतिकार कर सकते थे।[125] पति के लिये यह निर्देशित था कि अपराध करने पर भी पत्नी को अपने घर से बाहर नहीं निकालना चाहिये। [126] कोई बड़ा अपराध जैसे कि परपुरुषगमन करने पर यदि पत्नी का परित्याग भी करना पड़े तो पत्नी के भरण-पोषण हेतु पति को आवश्यक धन प्रदान करना चाहिये।[127] पतियों को पत्नियों को वस्त्र-आभूषण देकर प्रसन्न रखना चाहिये, किन्तु सदैव गृहकार्यों में इतना व्यस्त रखना चाहिये कि वे अन्य पुरुषों के विषय में विचार भी करने का अवसर न प्राप्त कर सकें।[128] यदि पति पतिव्रता स्त्री को अकारण छोड़ दे तो राजा को ऐसे पति को दण्ड प्रदान करना चाहिये।[129]

---

123. **मेधातिथि**, टीका मनुस्मृति, 9.1

124. **मेधातिथि**, टीका मनु-4.257; **विज्ञानेश्वर टीका याज्ञवल्क्य**, 1.224.2 75

125. **मेधातिथि**, मनुस्मृति पर भाष्य-9.1

126. **मेधातिथि** टीका मनु-9.77

127. देवण्णभट्ट कृत **स्मृतिचन्द्रिका**, बिब्लियोथिका इंडिका संख्या 45, सम्पादक, एल. श्रीनिवासचार्य, मैसूर 1914, पृ-568-575

128. **मेधातिथि** मनुस्मृति पर भाष्य, 9.76

129. **स्मृतिचन्द्रिका** 575-76

विधवा स्त्री की स्थिति पर विचार करते हुये तत्कालीन व्यवस्थाकारों ने यह मत प्रतिपादित किया कि विधवा को अपने पति की स्मृति में पवित्र एवं संयमितजीवन व्यतीत करना चाहिये।[130]

अल्बेरुनी के अनुसार विधवा के रूप में जब तक वह जीवित है उसके साथ बुरा व्यवहार किया जाता है।[131] तत्युगीन कुछ स्मृतिकार सती प्रथा के पक्ष में अपना मत व्यक्त करते हैं तथा कुछ अन्य स्मृतिकार इसके विरुद्ध। किन्तु यह प्रथा उत्तर भारत के राजकीय घरानों तक ही सीमित थी, दक्षिणापथ में यह प्रथा प्रचलित नहीं थी।[132] अंगिरस, हारीत स्मृतियां तथा अग्निपुराण सती की प्रशंसा करते हैं, परन्तु मेघातिथि ने सती प्रथा का विरोध किया है।[133]

पूर्वमध्ययुगीन समाज में गणिका आदर और प्रशंसा की पात्र थी तथा वेश्यावृत्ति को सामाजिक अनुमति प्राप्त थी।[134] जन-जीवन के सांस्कृतिक कार्य-कलाप एवं विलासमय जीवन का वह अभिन्न अंग बन चुकी थी। समीक्षाधीन अवधि के

---

130. **मेघातिथि, टोका मनु** 8, 28

131. **अल्बेरुनी का भारत** भाग-3 परिच्छेद 69, पृ-199

132. अल्तेकर, **राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स,** पूना 1934, पृ-344,

133. **मेघातिथि,** 5/157

134. **अल्बेरुनीज इंडिया** सचाऊ, भाग-2, पृ-157

साहित्य में इनके विषय में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होते हैं।[135] छटी शताब्दी ईसा पूर्व से ही भारत में कन्याओं को मंदिरों में देवदासी के रूप में प्रदान कर देने की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी।[136] उज्ञयिनी के महाकाल मन्दिर में अनेक देवदासियाँ नृत्य ज्ञान के चित्ताकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत करती थीं।[137] पुराणों में भी यह निर्देश दिया गया कि मन्दिर सेवा के लिये अनेक सुन्दरियों को क्रय करके प्रदान करना चाहिये। [138] यह भी कहा गया कि सूर्यलोक की प्राप्ति के लिये सूर्यमन्दिर को वेश्याकंदब अर्पित करना चाहिये[139] श्वानच्वांग ने मुल्तान के सूर्य-मन्दिर में अनेक देवदासियों का उल्लेख किया

---

135. सिद्धार्षि कृत **उपमिति-भव-प्रपंच कथा,** सम्पादक, पी. पीटरसन, कलकत्ता 1899, पृ-385, 374, 618; दामोदर गुप्त कृत **कुट्टनीमतम्,** सम्पादन, एम. कौल, कलकत्ता-1944 अनुवाद, ई. पावस, मैथर्स लन्दन 1879, श्लोक, 256; **बोधिसत्व वदान-कल्पलता,** पृ-27; अब्दुल रहमान, कृत **संदेश रासक** पृ-153, पद-46

136. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दु सिविलाइजेशन** प०-182

137. कालिदास कृत **मेघदूत** कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी, 1.35

138. **पद्मपुराण,** सम्पादक, बी. एन. मॉडलिक, आनान्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 52.97

   'क्रीता देवाय दातत्या धीरेणाक्लिण्टकर्मणा
   कल्पकांल भवेत्स्वर्गो नृपो वासौ महाधनी।।

139. **भविष्य पुराण,** वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1912, 1.93.67,

   वेश्याकदंबकं यस्तु दद्यात्सूर्याय भक्तितः
   स गच्छेत्परमं स्थानं यत्र तिष्ठति भानुमान्।

है।[140] दक्षिण भारत के अनेक अभिलेखों में यह वर्णन मिलता है कि वहाँ के राजाओं ने सुन्दरियों को क्रय करके मन्दिरों में देवदासियों की सेवायें अर्पित की थीं।[141] राजतंरगिणी[142], प्रबन्धचिन्तामणि[143] कुट्टनीमतम्[144] आदि अनेक उत्तर प्राचीन कालीन ग्रन्थों ने देवदासी प्रथा का वर्णन किया है। यद्यपि ब्राह्मण वर्ग[145] एवं जैन वर्ग मन्दिरों में देवदासियों को नियुक्त किये जाने के विरूद्ध था। उत्तर भारत में जैन आचार्य हरिभद्र सूरी, जिनदेव सूरी एवं श्री जिनवल्लभ ने इस प्रथा को विरोध में प्रचार किया। किन्तु राजाओं एवं अभिजात वर्ग के समर्थन के कारण इस युग में यह प्रथा भारतीय समाज में भली-भाँति स्थापित हो चुकी थी। इसके कुछ आर्थिक कारण भी थे, देवदासी प्रथा

---

140. वाटर्स, **ऑन युवान-च्वांग'स ट्रैवेल इन इंडिया,** लन्दन - 1904, 2, 354

141. **मेघातिथि** मनुस्मृति पर भाष्य, 9.135; **एपिग्राफिया इंडिका,** 12, 122 आयि; इलियट एवं डाउसन, **हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स** पृ. - 11, 17, 18 आदि।

142. कल्हण कृत **राजतंरगिणी,** एम. ए. स्टोन, वाराणसी, 1961, 7.858

143. मेरूतुंग कृत **प्रवन्धचिन्तामणि,** सम्पादक, एच. पी. द्विवेदी, 1940, पृ० - 108

144. दामोदरगुप्त कृत **कुट्टनीमतम्,** सम्पादक, एम. कौल, कलकत्ता, 1944, पृ० - 743-755

145. **अल्वेरूनीज इंडिया** सचाऊ, भाग-2 पृ.-157

के माध्यम से राज्य को कर के रूप में प्रचुर आय प्राप्त होती थी।[146] यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि जैन ग्रन्थों में इस प्रथा का विरोध किया गया है, किन्तु कतिपय जैन एवं बैद्ध मन्दिरों में भी नृत्यांगनाओं की उपस्थिति का वर्णन मिलता है, जैसे कि जैन ग्रन्थ उपदेसरसायन[147] एवं कुमारपालप्रतिबोध[148] में नृत्यांगनाओं का उल्लेख है। देवमन्दिरों का निर्माण पूजा-अर्चन एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये हुआ था किन्तु धीरे-धीरे ये मन्दिर भौतिक सुख के केन्द्र बनते गये।

विवेच्ययुग में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों में और अधिक वृद्धि हुई। सातवीं शताब्दी से स्त्री धन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया, एवं स्त्रीधन में निर्वाह के लिये प्राप्त धन और लाभ को भी सम्मिलित कर दिया गया।[149] इन अधिकारों में और अधिक वृद्धि करते हुये विज्ञानेश्वर ने पिता से दाय के रूप में मिली सम्पत्ति, बँटवारे में प्राप्त सम्पत्ति और ऐसी सम्पत्ति जिस पर अधिक समय तक अधिकार रहने के कारण स्वामित्व हो गया हो, ऐसी सभी सम्पत्ति को स्त्रीधन में सम्मिलित कर दिया।[150]

---

146. **अल्बेरूनीज इंडिया,** भाग - 2, पृ. - 157

147. **हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स,** भाग - 2 पृ. - 469 - 70

148. **सोमप्रभ** कृत **कुमारपाल-प्रतिबोध,** गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरिज, संख्या XIV, 1920

149. **देवल स्मृति,** टीका याज्ञवलक्य स्मृति, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, पूना, 1.143

150. विज्ञानेश्वर, **मिताक्षरा,** याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य बम्बई - 1905, 2, 145

इस युग तक आकार विधवा का साम्पत्तिक अधिकार भी स्वीकृत हो गया, तदनुसार मृत व्यक्ति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा स्त्री प्राप्त करती रही है।[151] स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की विस्तृत विवेचना करने वाले इस युग के प्रमुख ग्रन्थ मिताक्षरा के लेखक उसी स्थिति में विधवा स्त्री को दाय का अधिकारी मानते हैं जबकि उसके पति ने अपने जीवन काल में ही संयुक्त परिवार से अपनी संपत्ति का बँटवारा कर लिया हो।[152]

---

151. जीमूतवाहन कृत, **दायभाग**, सम्पादन, जिवानन्द, कलकत्ता 1893, खण्ड XI; **वृद्धमनु**, टीका, याज्ञवल्वय स्मृति, 2.136; **प्रजापति उद्धृत पाराशरमाधव** जिल्द - 3 पृ. - 536

152. **मिताक्षरा**, याज्ञवल्वय स्मृति पर भाष्य, I I, 136

द्वितीय अध्याय

दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के मध्य महिलाओं का सामाजिक स्तर

कन्या-जन्म

भारतीय शास्त्रों में यह सुस्थापित है कि पारिवारिक सुख-शान्ति, संतुलन एवं स्नेह की दृष्टि से पुत्र और पुत्री में कोई भेद नहीं होना चाहिये। किन्तु यदि वास्तविकता और सामाजिक स्तर की दृष्टि से पूर्वमध्यकालीन साहित्य का विवेचन किया जाये तो निश्चित रूप से पुत्र और पुत्री की स्थिति में अन्तर परिलक्षित होता है। वैदिक कालीन समाज में पुत्री के जन्म पर दुःखी होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, अपितु तत्कालीन ग्रन्थों में ऐसे धार्मिक कृत्यों का उल्लेख मिलता है जिनका उद्देश्य विदुषी पुत्री प्राप्त करना था।[1] किन्तु यह एक बड़ी विडम्बना है कि बदलते हुये सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवेश के

---

1. **वृहदारण्यक उपनिषद्** 4.4.18।

कारण कालान्तर में पुत्री का जन्म परिवार के लिये दुःखदायी माना जाने लगा।[2] विलासिता की प्रवृत्ति बढ़ने और यवन, शक हूणादि के सम्पर्क में आने के पश्चात बाल-विवाह की प्रथा को प्रोत्साहन मिला, पितृ-कुल और श्वसुर कुल दोनों में, स्त्रियों पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाने लगे। इस्लामी प्रभाव और स्त्रियों की सुरक्षा की दृष्टि से परदा-प्रथा अधिक प्रचलित होती गई। स्त्रियों के धार्मिक अधिकार कम होने लगे। अमीर खुसरो अपनी पुत्री के जन्म पर अपनी कविता लैला-मजनूँ में असीम विषाद की अभिव्यक्ति करते हुये कहते हैं – मेरी कामना है कि तुम जन्म ही न लेती और यदि जन्म लेना ही था तो एक पुत्र होना बेहतर था। भाग्य रेखा में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता।[3] तत्युगीन कतिपय ग्रन्थों में यह उल्लिखित

---

2. अल्तेकर ए.एस., **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन**, दिल्ली तृतीय संस्करण 1962 पृ-3; एडवर्ड डब्ल्यू होपकिन्स, **दि सोशल एण्ड मिलिटरी पोजीशन ऑफ दि रुलिंग क्लास इन एन्शियन्ट इंडिया** , वाराणसी, 1972, पृ-284; बाशम ए.एल. **दि वन्डर दैट वाज इन्डिया**, फोन्टाना 1971 पृ-261; टॉड जेम्स, **एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान**, लन्दन-1950 वोल्यूम-1 पृ-504-5; जौली, **हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम**, कलकत्ता 1928, पृ-145; एस. मुकर्जी, **सम आस्पेक्ट्स ऑफ सोशल लाइफ इन एन्शियन्ट इंडिया, इलाहाबाद**-1976 पृ-127।

3. शिब्ली, **शैर-उल-आजम** भाग-2 पृ-123; डा. ईश्वरी प्रसाद, **हिस्ट्री ऑफ मेडीवल इंडिया** पृ-479 (पाद टिप्पणी) इलाहाबाद-1948; **पदावली बंगीय ऑफ विद्यापति ठाकुर** लंदन 1915, अनुवाद कुमार स्वामी एवं अरुण सेन, पृ-256।

है कि पुत्र प्रसन्नता का कारण है जबकि पुत्री क्लेश का मार्ग है।[4]

अनेकानेक कारणों के चलते पूर्वमध्य कालीन सामाजिक जीवन आडम्बरपूर्ण बनता जा रहा था, विधवा-विवाह निषेध था अतः बाल-विवाह एवं सती प्रथा जैसी प्रथायें दृढ़ होने लगी जिसमें पत्नी का सती होना सम्मानजनक माना जाने लगा था। इस प्रथा के कारण पुत्री के माता-पिता को दारूण दुःख होता था। विवाह के पश्चात भी पुत्री को माता-पिता से अलग होना पड़ता था, इससे भी माता-पिता को वेदना होनी स्वाभाविक थी।[5] परन्तु विदुषी कन्याओं को तब भी परिवार में पर्याप्त सम्मान प्राप्त था।[6] माता-पिता के लिये यह निर्देशित था कि वे पुत्र एवं पुत्री के मध्य बिना भेदभाव के दोनों को समान रूप से स्नेह प्रदान करें।[7] समकालीन कतिपय ग्रन्थों में पुत्री जन्म को एक विशेष शुभ अवसर के रूप में भी वर्णित किया गया है एवं

---

4. सोमदेव भट्ट कृत **कथासरित्सागर**, सम्पा. पंडित दुर्गाप्रसाद एवं काशीनाथ पांडुरंग, बम्बई 1903, द्वितीय संस्करण 28/6।

5. श्री हरिदत्त वेदालंकार, **हिन्दू परिवार मीमांसा**, सरस्वती सदन, दिल्ली, पृ-199।

6. अल्तेकर, **वुमैन पोजीशन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** पृ-4; कालिदास कृत, **कुमारसंभव**, निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1927, VI, 63;

7. **अल्तेकर** पृ-9; गौरीशंकर हीरा चन्द ओझा, **मध्यकालीन भारतीय संस्कृति** हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद तृतीय संस्करण 1951, पृ-119; **सम आस्पेक्ट्स ऑफ सोशल लाइफ इन एन्शियन्ट इंडिया**, पृ-127।

इस अवसर पर खुशियाँ मनाई जाती रही हैं।[8] अतः यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों में पुत्र का जन्म निःसंदेह महत्वपूर्ण था एक तो वंश चलाने के लिये और दूसरा युद्ध के वातावरण में योद्धाओं की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये, तथापि पुत्री का जन्म भी परिवार में स्वीकार्य था एवं इसे भी महत्वपूर्ण माना जाता था।

विवाह

हिन्दू धर्म के अनुसार विवाह एक सर्वव्यापी और सार्वभौम संस्था है, जो सभी समाजों में विद्यमान है। वंश, कुल और परिवार की निरन्तरता विवाह संस्था से ही बनी रही है तथा जीवन के विविध पक्ष उससे अनुप्राणित होते रहे हैं। हिन्दू संस्कृति में विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसे एक सामाजिक, धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण किया गया। पुरुष और स्त्री के व्यक्तित्व का विकास, वंश का उत्थान तथा कुटुम्ब का संयोजन विवाह से ही संभाव्य है। विवाह स्त्री और पुरुष की पूर्णता तथा उनकी सामाजिक और आध्यात्मिक अभिव्यजंना का आधार है। हिन्दू विवाह-संस्था में, धार्मिक विश्वास, स्थायित्व और सामाजिकता इसकी प्रधान विशेषतायें

---

8. **चंदायन** (डा. माता प्रसाद गुप्त) प्रकाशन, आगरा प्रथम संस्करण 1967, पद-32, पृ- 30-31, "महर की कन्या चांदा के जन्म के अवसर पर बधावे बजे तथा उत्सव में छत्तीस जातियों एवं सम्पूर्ण नगर को आमन्त्रित किया गया।"

मानी जा सकती हैं। भारतीय समाज में विवाह का उल्लेख करते हुए, अल्बेरुनी ने लिखा है – "कोई भी राष्ट्र एक सुव्यवस्थित वैवाहिक जीवन के बिना अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता, क्योंकि यह उन्नत मन के वीभत्स आवेशों के कोलाहल को रोकता है, और यह उन सभी कारणों को नष्ट करता है जो कि मनुष्य के अन्तर्मन में छिपी हुई पशुता को उद्वेलित करते हैं जिसका कारण सदैव विनाशकारी होता है।[9]

हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने विवाह के आठ प्रकारों की चर्चा की है, जो किसी न किसी रूप में समाज में प्रचलित रहे हैं।[10] प्राचीन-व्यवस्था तथा इसके विभिन्न भेदों का उल्लेख करते हुये मनु ने कहा है – 'चारों वर्णों के इस लोक और परलोक में हित-अहित उत्पन्न करने वाली आठ प्रकार की विवाह पद्धतियाँ है, उनके नाम इस प्रकार हैं – ब्राह्म (ब्राह्मणों की पद्धति), दैव (देवों की पद्धति), आर्ष (ऋषियों की पद्धति), प्रजापत्य (प्रजापतियों की पद्धति) दैव (देवों की पद्धति) गान्धर्व (गन्धर्वो की पद्धति) राक्षस (राक्षसों की पद्धति) एवं पैशाच (पिशाचों की

---

9. **अल्बेरुनीज इंडिया** भाग - 2 अनुवादक, एडवर्ड सचाऊ प्रथम भारतीय मुद्रण - 1964, पृ - 156।

10. **आश्वलायन गृह्य सूत्र** - 1.6 नारायण की टीका सहित सागर प्रेस बम्बई 1864; **गौतम धर्म सूत्र** 4.6.13 सम्पा. स्टेंजलर, लन्दन 1876; **बौधायन धर्मसूत्र** सम्पा. ई. हज, लिपजिंग 1884 काशी संस्कृत सीरीज, संख्या - 104 बनारस-1934; **कौटिल्य अर्थशास्त्र** 3.2 सम्पा. आर. रामशास्त्री मैसूर-1909; **याज्ञवल्क्य स्मृति** वीरमित्रोदय और मिताक्षरा टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज - 1930; **नारद स्मृति** 38.1 सम्पा. जौली, कलकत्ता 1885।

पद्धति) यह विदित होना चाहिये कि उपर्युक्त क्रमानुसार छः पद्धतियाँ ब्राह्मणों के लिये धर्मानुसार हैं, क्रमानुसार चार पद्धतियाँ क्षत्रियों के लिये तथा वही चार (राक्षस पद्धति के अतिरिक्त) वैश्य एवं शूद्रों के लिये धर्मानुसार हैं।[11] इस प्रकार ब्रह्म दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच नामक विवाह के आठ प्रकार प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारों द्वारा स्वीकृत है।[12] इनमें से प्रारंभिक चार विवाह भेद हिन्दू समाज में अत्यन्त सम्मानित और आदृत थे तथा अन्तिम चार निन्दित। धर्म्य विवाह पद्धतियाँ साधारणतः दो उच्च वर्गों के लिये, और विशेषतया ब्राह्मणों के लिये थीं। अधिकांशतया विवाह के प्रथम चार[13] एवं कभी-कभी छः प्रकार[14]

---

11. **दि लॉज ऑफ मनु** अध्याय 3 भाग 20, 21 और 23 जैसे कि सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, (सम्पादक. एफ. मैक्समूलर) खण्ड - 25, पृ - 79 में उद्धृत है; वही अध्याय - 3 भाग 25-39 पृ - 80-82, एस.एन. सिन्हा और एन.के. बसु का **हिस्ट्री ऑफ प्रोस्टिट्यूशन इन इण्डिया** खण्ड - 1, प्रकाशक-बंगाल सोशल हाइजिन एसोशियेशन 28 ए कलकत्ता, सित्मबर 1933 पृ - 6 - 9।

12. **विष्णु पुराण** 3.10.24 ब्राह्मों दैवस्तथैवार्षःप्राजास्यस्त थासुरः।
    गान्धर्व राक्षसौ चान्यो पैशाचष्टमो मतः।।

    बम्बई 1989 विल्सन, 5 भाग लन्दन 1864 - 70,

13. **मनुस्मृति** 111, 25, अनुवादक, विलियम जोन्स, कलकत्ता 1794

14. **आश्वलायन गृह्य सूत्र** 1.6, **बौधायन** 1 - 20, 10 - 11, **विष्णु स्मृति**, नंदपंडित कृत टीका के उद्धरणों सहित। सम्पा. जे. जॉली, बिब्लयोथिका इंडिका कलकत्ता 188

ब्राह्मणों के लिये विहित थे। जिसका अर्थ है चार अप्रशस्त विवाह पद्धतियाँ अन्य तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के लिये थीं। हिन्दुओं की विवाह विधि के विषय में अल्बेरुनी ने लिखा है "प्रत्येक कौम की एक विशेष विवाह पद्धति होती है विशेषकर उन राष्ट्रों की जो इसका दावा करते हैं कि उनका धर्म और उनके विधि-विधानों की उत्पत्ति ईश्वरीय है। हिन्दू अल्पायु में विवाह करते हैं अतः उनके माता-पिता अपने पुत्रों का विवाह निश्चित करते हैं। इस (विवाह) के अवसर पर ब्राह्मण धार्मिक संस्कार सम्पन्न करते हैं तथा वे (ब्राह्मण) और अन्य लोग दक्षिणा ग्रहण करते हैं। विवाहोल्लास मनाया जाता है। दोनों पक्षों के बीच कोई भी दहेज निश्चित नहीं होता, केवल पुरुष अपनी रुचि के अनुसार अपनी पत्नी को भेंट प्रदान करता है।[15]

गान्धर्व विवाह प्रकार अधिकांश ग्रन्थों में क्षत्रियों के लिये ही अनुज्ञात है।[16] प्राचीन कहानियों का एक संग्रह (जिसका संकलन काल मध्यकाल का प्रारम्भ है) कम से कम सात गान्धर्व विवाह का उल्लेख प्रस्तुत करता है –

गान्धर्वविधिनां गुप्मुपेयमे सा भूपतिः

अथवा

15. **अल्बेरुनीज इंडिया** भाग - 2 (सचाऊ) पृ - 154।

16. **बौधायन** 20, 21; **मनु** 111.26; **विष्णु स्मृति** xxiv, 28।

उपयेमे च गान्धर्वविधिना तां[17]

पूर्वमध्यकाल में विवाह के इस प्रकार को न केवल मान्यता प्रदान की गई, वरन् उसे धर्मशास्त्रानुमोदित भी कहा गया[18]

हिन्दू समाज में स्वयंवर-विवाह प्राचीन काल से प्रचलित रहा है, यद्यपि धर्मशास्त्रों में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। परवर्ती साहित्यिक कृतियों में स्वयंवर विवाह के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। पूर्वमध्य युग में भी स्वयंवर का आयोजन भव्य रूप में कराया जाता था[19] तत्युगीन समाज में प्रचलित स्वयंवर प्रथा कन्या के वरान्वेषण

---

17. **कथासरित्सागर** अंग्रेजी अनुवादक-कोवल भाग - 1, पृ - 45, 63, 103, 216, 270, 299, 300; साथ ही देखें, भवभूत कृत मालती **माधव टीका,** शेषराज शर्मा शास्त्री, अंक 2, बनारस।

18. **श्री हर्ष, प्रियदर्शिका,** 3 टीका, पं. रामचन्द्र मिश्र वाराणसी 1955 धर्मशास्त्र विहित एष गान्धर्वो विवाहः; रामशरण शर्मा - **पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज और अर्थ-व्यवस्था** पृ - 32 प्रथम हिन्दी संस्करण, दिल्ली 1978।

19. **चन्दविरदाई कृत पृथ्वीराज रासो** सम्पा. कविराज मोहन सिंह, साहित्य संस्थान राजस्थान विश्वविद्यालय, उदयपुर, संवत-2011 भाग-2 समय 30 दोहा-2 पृ-89, समय 40 (हंसावती विवाह) दोहा 58 पृ-175, समय 46 दोहा-1 पृ-253 समय 54 दोहा 40 वृ 459, समय 47 कवित्त 6 पृ-264 (संयोगिता का स्वयंवर); डा. राजबली पाण्डेय कृत **हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास** भाग-1 पृ-120, नागरी प्रचारिणी सभा प्रकाशन; **गौतम धर्मसूत्र** 18.20।

स्वतन्त्रता की परिचायक है। इस प्रथा के अनुसार कन्या के पिता स्वयंवर समारोह का आयोजन करते थे तथा राजकुमारी से विवाह के इच्छुक व्यक्ति इस समारोह में सम्मिलित होते थे, पिता अपनी पुत्री को स्वयंवर में गुणी तथा अभिलषित पति प्राप्त करने का आशीर्वाद देते थे तथा कन्या अपनी इच्छानुसार अपने, वर के गले में वरमाला डालती थी।[20]

समीक्षाधीन अवधि के समाज में कन्याओं के अपहरण के द्वारा विवाह की एक विशेष प्रथा प्रचलित थी।[21] जैसा कि पृथ्वीराज चौहान द्वारा संयोगिता हरण से स्पष्ट होता है। इस प्रकार के विवाह को राक्षस या गान्धर्व विवाह की संज्ञा

---

20. **पृथ्वीराज रासो** (प्रथम भाग) पृ - 1566 छन्द 13, पृ - 1566 छन्द 12-14; विल्हण कृत **विक्रमांकदेवचरित**, पं. विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज, संस्कृत साहित्य अनुसंधान समिति बनारस। सर्ग-9, 130, 140; **नैषध महाकाव्य**- 4/119 टीका श्री हरगोविन्द शास्त्री, बनारस 1954,
    दण्डि कृत **दशकुमार चरित** 4/19; जयानक कृत **पृथ्वीराज विजय** - 5/36, सम्पा. जी.एच. ओझा एवं चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अजमेर, 1941।

21. **पृथ्वीराज रासो** भाग - 1 पृ - 635 छन्द 34; **वशिष्ठ स्मृति** 1/34, 'प्रसह्या कन्या हरण राक्षसों विधि सोच्यते'; जयानक कृत **पृथ्वीराज विजय**, जंगमकथा, पृ - 549 पद्य - 5, 6, 7; पी.वी. काणे कृत **धर्मशास्त्र का इतिहास**, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना 1930-53, प्रथम भाग पृ - 299;।

प्रदान की जा सकती है। [22] मध्ययुगीन सामन्ती परिवेश में युद्ध के वातावरण में योद्धाओं का आकर्षण बहुत अधिक था, इस काल के साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कन्यायें अपने पिता द्वारा चुने गये वर को उपयुक्त न मानकर अपने अभीष्ट वर को अपहरण के लिये संदेश भी भेजती थी –

ज्यों रुकमनि कन्दर करी। ज्यों वीर संभति कांत
शिव मंडपदच्छिन दिसा। पूजि समय स प्रात[23]

जैसा कि पृथ्वीराज-संयोगिता प्रकरण से स्पष्ट होता है कि इस प्रकार के विवाह के कारण अजमेर तथा कन्नौज के शासकों के मध्य छिड़े हुये युद्ध ने राजनीतिक विषमता को जन्म देकर भारत में तुर्कों की विजय एवं राज्य-स्थापना को अपेक्षाकृत सरल बना दिया था। भारतवर्ष में प्रान्तीयता, स्थानीयता की भावना प्रबल होती गई, शासकगण व्यक्तिगत स्वार्थों में लीन हो गये और देश अनेक राज्यों में बँटकर एकरुपता और संगठन खो बैठा। साहित्य के इस प्रकार के वर्णन से यह स्थापित किया जा सकता है कि सम्भवतः यह प्रथा भी समाज के उच्च वर्गों व राजवंशों में अधिक प्रचलित थी।

पूर्वमध्यकाल में वर-वधू का विवाह निश्चित करते समय उनके सामाजिक वर्ग तथा वंश का विशेष ध्यान रखा जाता था। हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने

---

22. **वशिष्ठ धर्मसूत्र 1/34; पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** पृ - 45; जयशंकर मिश्र, **प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन**, पृ- 314; रामशरण शर्मा, **पूर्वमध्य कालीन भारतीय समाज व अर्थव्यवस्था पर प्रकाश**, दिल्ली-1977, पृ-31।

23. **पृथ्वीराज रासो** प्रथम भाग पृ- 735 छन्द 651।

एक ही गोत्र, प्रवर और पिण्ड में परस्पर विवाह करना वर्जित घोषित किया है।[24] अपनी उत्पत्ति के समय से लेकर प्रत्येक काल में गोत्र, प्रवर और पिण्ड की धारणा से सम्बन्धित बहिर्विवाह के नियमों में इतना अधिक परिवर्तन, संशोधन और रूपान्तरण हुआ है कि इनके मौलिक अर्थों को समझ पाना असम्भव सा है।[25] साहित्यिक विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि छटी सदी ई. पू. के बाद सगोत्र विवाह के प्रति हिन्दू समाज में प्रतिबन्ध बढ़ता गया जो इस युग में और अधिक कठोर होता गया। पूर्वमध्ययुग में सगोत्र विवाह पूर्ववत् वर्जित था।[26] अल्बेरुनी का कथन है कि 'उनके धर्मानुसार एक सम्बन्धी की अपेक्षा एक अपरिचित से विवाह करना उत्तम है। अपने पति से किसी कन्या का सम्बन्ध जितना दूर का हो उतना ही उत्तम होता है। अवरोही वंशानुक्रम, यथा पोती अथवा पर-पोती तथा आरोही वंशानुक्रम यथा माता-नानी, पर नानी दोनों प्रकार की सगोत्र स्त्रियों से विवाह वर्जित है। सामान्यतः उन्हीं लड़के-लड़कियों का विवाह परस्पर होता था जो एक दूसरे के लिये अपरिचित होते थे जो एक ही जाति, उपजाति व व्यवसाय से सम्बन्धित

---

24. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** 2.11.15 हरदत्त की टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी, सम्पा. जी. बुलर बम्बई-1932; **मनुस्मृति** 3.5; **गौतम धर्मसूत्र** 4.2।
25. पी.एन. प्रभु, **हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन**, बम्बई-1958 पृ-154-55।
26. **मनुस्मृति** मेधातिथि की टीका के साथ 3.5; देवण्णभट्ट कृत **स्मृति चन्द्रिका**, धारपुरे का संस्करण- 1937 पृ-71; **संस्कार प्रकाश**, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी 1939 पृ-680।

होते थे।[27] स्मृतियों पर भाष्य लिखने वाले पूर्वमध्ययुगीन लेखकों ने सपिण्डता का प्रबल प्रतिरोध किया है [28] अल्बेरुनी का कथन है कि सपिण्ड सम्बन्धी, बहन, भतीजा, मौसी या फूफी और उनकी पुत्रियाँ विवाह के लिये निषिद्ध हैं। यह निषिद्धता उस स्थिति में नहीं रहती जब विवाह सम्बन्ध स्थापित करने वाले व्यक्ति पाँच पीढ़ी तक एक दूसरे से अलग रहे हों, किन्तु ऐसा विवाह सम्बन्ध भी उनमें पसन्द नहीं था।[29]

हिन्दू समाज में प्राचीन काल से अन्तर्वर्णीय व अन्तर्जातीय विवाह होते रहे हैं। पूर्वमध्यकालीन साहित्य में भी अन्तर्जातीय विवाह के उदाहरण हमें उपलब्ध हैं।[30] अल्बेरुनी के अनुसार पुरुष अपने से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता

---

27. **अल्बेरुनीज इंडिया** भाग-1 सचाऊ, पृ-144।
28. **मेघातिथि** मनुस्मृति पर टीका 9.116; **विश्वरूप** याज्ञवलक्य स्मृति पर भाष्य 1.53, त्रिवेन्द्रम 1937; **विज्ञानेश्वर**-मिताक्षरा, याज्ञवल्व्य स्मृति पर भाष्य, बम्बई 1905; **विश्वरूप** याज्ञवल्क्य पर संवते 2.254।
29. **अल्बेरुनीज इंडिया**- भाग- 1 पृ-145।
30. **कल्हण कृत राजतरंगिणी**, अनुवादक-स्टेन, वेस्टमिंस्टर, पृ-554; सोमदेव कृत **कथा सरिसागर** 5/2/170; **याज्ञवल्क्य स्मृति** 1/57 राजशेखर कृत **कर्पूरमंजरी**, कलकत्ता 1948, 1-11; धुर्ये, **कास्ट क्लास एण्ड ऑक्यूपेशन**, न्यूयार्क-1950, पृ-174; अल्तेकर- **राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स** पृ-17।

था।[31] किन्तु आगे वह लिखता है कि ब्राह्मण कभी भी अपने से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह करना उत्तम नही समझते और न ही वे निम्न वर्ण की कन्या से विवाह करते हैं।[32] ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वमध्ययुग के ब्राह्मणों में विवाह संबंधी कुछ कठोरता आ गई थी। यद्यपि पूर्वमध्ययुगीन भाष्यकारों ने यह स्वीकार किया है कि ब्राह्मण अपने से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है।[33] इन उद्धरणों से यह आभासित होता है कि अनुलोम विवाह प्रथा पूर्वमध्ययुगीन समाज में भी वर्तमान थी तथापि ऐसे विवाह को शास्त्रकारों ने अपेक्षाकृत प्रशस्त नहीं माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्यारहवीं सदी के बाद से अनुलोम विवाह सम्बन्धी नियम सिद्धान्त मात्र ही रह गये, प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही जाति की स्त्री से विवाह करता था, जो दसवीं शती के बाद से हिन्दू समाज में बहुत अधिक प्रचलित हुआ।[34]

बाल विवाह

समय-समय पर परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण जिस प्रकार संस्थाओं का प्रारूप बदलता रहा, उसी प्रकार नई-नई विचार धाराओं का समागम होने

---

31. **अल्बेरुनीज इंडिया** भाग-2 सचाऊ, पृ-156।

32. **उपरोक्त**।

33. **मिताक्षरा** याज्ञवल्क्य 1.4; **विश्वरूप** याज्ञवल्क्य 2.129; **मेधातिथि** मनुस्मृति 3.14।

34. एस. राधाकृष्णन, **भारतीय दर्शन** 2 भाग, 1923-1927, भाग-1 पृ-173.;
प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन पृ-321।

के कारण विवाह की आयु में भी सदैव परिवर्तन होते रहे। धर्मसूत्रों[35] व स्मृतियों[36] ने अल्पवय विवाह का समर्थन किया है। कन्यादान के कारण भी ऋतुमती होने से पूर्व ही कन्या का विवाह कर दिया जाने लगा। बदलते हुये राजनीतिक एवं सामाजिक परिवेश के कारण पूर्वमध्य युग में अल्पवय विवाह का सर्वव्यापी प्रचलन हो चुका था। स्त्रियों की सुरक्षा और इस्लामी प्रभाव के कारण विवाह-योग्य अवस्था धीरे-धीरे कम हो रही थी, जिसका अन्त बाल-विवाह में हुआ। समकालीन हिन्दू मान्यता के अनुसार बालिकायें नौ या दस वर्ष की हों और बालक सोलह या सत्रह वर्ष के हों तो उन्हें वैवाहिक बन्धन में बाँध दिया जाता था।[37] यह भी विदित होता है कि अधिक धर्मपरायण श्रेणी के ब्राह्मण लड़कियों के समय-पूर्व विवाह के पक्ष में होते थे क्योंकि यह प्राचीन हिन्दू व्यवहार विधि के अनुसार होता था। मनु के अनुसार 'तीस वर्ष की आयु वाले पुरुष को एक बारह वर्षीया कन्या से विवाह करना चाहिये, अथवा पचीस वर्षीय पुरुष को आठ वर्ष की कन्या से विवाह करना चाहिये, यदि उसे अपने कर्त्तव्यों

---

35. **गौतम धर्मसूत्र** 18.20-23; **बौधायन धर्मसूत्र** 4.1.2-14; **वशिष्ठ धर्मसूत्र** 10. 70.71

36. **मनुस्मृति** 9.94; **पाराशर स्मृति** 2.7.13 मनोहरा टीका सहित, बनारस संस्कृत सीरीज, 1907।

37. **याज्ञवल्क्य स्मृति** 1/64; कथासरित्सागर 5/40; **हिन्दू सामाजिक संस्थायें** पृ-109; अमीर खुसरो कृत **देवल रानी खिज्र खाँ** पृ-93, अमीर खुसरो ने राजकुमार खिज्र खाँ और देलरानी के विवाह का उल्लेख किया है जब वे क्रमशः 10 और 8 वर्ष के थे। **देवलरानी और खिज्र खाँ**, शीर्षक, लेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका खण्ड-2 पृ-415।

के पालन में अवरोध का अनुभव हो तो उसे शीघ्र विवाह कर लेना चाहिये।[38] मनु के इस नियम से प्रोत्साहित होकर एक प्रौढ़ पुरुष और एक बालिका के वैवाहिक सम्बन्ध की रीति का प्रचलन हुआ। अल्बेरुनी के अनुसार हिन्दू बहुत छोटी अवस्था में विवाह करते हैं अतः उनके माता-पिता अपने पुत्रों का विवाह निश्चित करते हैं। बारह वर्ष से अधिक आयु की स्त्री से विवाह करने का विधान नहीं है।[39] 'ढोला मारू रा दुहा' नामक एक राजस्थानी कृति में हमें मारवानी के विवाह का उल्लेख मिलता है। मारवानी की आयु विवाह के समय मात्र डेढ़ वर्ष एवं उसके वर की आयु मात्र तीन साल की थी। कभी कभी वर और कन्या की आयु में बहुत अधिक अन्तर भी हुआ करता था।[40] विवेच्ययुगीन साहित्य में राजपूतों में बाल-विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं, बीसलदेव रासो की नायिका राजमती की आयु भी विवाह के समय मात्र बारह वर्ष

---

38. **दि लाज ऑव मनु**, अध्याय-9 भाग-94, जैसा कि सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट खण्ड-25 पृ-344 पर उद्घृत है।; बी.ए. सैलीटोर का लेख **सोशल एण्ड पोलिटिकल लाइफ इन विजयनगर एम्पायर** खण्ड-2 पृ-185।

39. **अल्बेरूनीज** इंडिया भाग-2, सचाऊ, पृ-261

40. **ढोला मारू रा दुहा** नागरी प्रचारिणी सभा द्वितीय संस्करण दोहा-91 पृ-21- दौध बरसरी मारूनी, त्रिहुन वरसानरुकन्त बलपनाय परायण पछाई, अंतर पदयोन अनंत

    साथ ही देखे-दोहा-450, पृ-106।

थी।[41] ढाका संग्रहालय में सुरक्षित पूर्व-मुस्लिम काल के मूर्तिकाल के कुछ अवशेष भी यह इंगित करते हैं कि इस काल में कन्या के विवाह की आयु तेरह या चौदह वर्ष मात्र थी।[42] कुछ विद्वानों का मत है कि समाज के उच्च परिवारों और राजघरानों में वयस्क विवाह प्रथा साधारणतः प्रचलित थी, और यह प्रथा पूर्वमध्ययुग में भी यथावत चलती रही।[43] समकालीन साक्ष्यों के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह के सम्बन्ध में कोई आयु-सम्बन्धी स्थापित मानदण्ड नहीं थे, अभिभावकों की इच्छा ही विवाह का एक मात्र निर्णायक आधार हुआ करती थी। स्त्री को विवाह आयु में परिवर्तन अथवा विदाई-अवधि का विकल्प चुनने की स्वतन्त्रता नहीं थी। कभी-कभी एक बालक का विवाह भी एक युवती से हो जाता था जो उस बालक से बहुत

---

41. नरपति नाल्ह कृत **बीसलदेव रासो**, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यापीठ प्रयाग- 1953 पृ-110 दोहा-30; साथ ही देखे-**पृथ्वीराज रासो** भाग-1 सांतवा समय पृ-206 दोहा-12, पृ-309 दोहा-27; दाउद कृत **चंदायन** (डा. माता प्रसाद गुप्त) पृ-32 पद 34, 35।

42. एन.के. भट्टसाली, **आइकनोग्राफी ऑफ बुद्धिस्त एण्ड ब्राह्मानिकल स्कल्पचर इन ढाका म्यूजियम** पृ-xxxvi।

43. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन**, पृ-58; **हर्षचरित** बाणभट्ट टीका पं. श्री जगन्नाथ पाठक; **प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन** पृ-337।

अधिक आयु की हुआ करती थी। इस प्रकार के बाल विवाह का उल्लेख विद्यापति की पदावली में मिलता है।[44]

बहु-विवाह

बहुविवाह का अभिप्राय है जीवन काल में ही एक से अधिक पत्नी अथवा पति को जीवन साथी के रूप में रखना। इस प्रथा के दो रूप हो सकते हैं, एक बहुपत्नी विवाह और दूसरा बहुपति विवाह।[45] हिन्दू समाज में आदिकाल से ही (बहुपत्नीत्व एवं बहुपतित्व) प्रथा के प्रमाण साहित्यिक उद्धरणों में प्राप्त होते रहे हैं। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार पुरुष एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता था, किन्तु एक से अधिक भार्या रखने की अनुमति किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही प्रदान की जाती थी। किसी पुरुष की कितनी पत्नियाँ हो सकती है, यह उसकी जाति पर निर्भर करने लगा। सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं के बदलते प्रतिमानों के अनुसार साधारणतः ब्राह्मण की तीन क्षत्रिय की दो और वैश्य व शूद्र की एक-एक पत्नी हो सकती थी।[46] इस

---

44. **विद्यापति की पदावली** सम्पादक-श्री बसन्त कुमार माथुर, भारती भाषा भवन, दिल्ली-1952 पद 258 (बाल विवाह) पृ-460

45. **तैत्तिरीय संहिता**- 6.5.4.1; **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** 1.10.28.19, 2.5.11.12-13;। **बौधायन धर्मसूत्र** 2.2.9; **कौटिल्य अर्थशास्त्र** 3.2, सम्पादक आर. शामशास्त्री मैसूर 1929।

46. **वशिष्ठ धर्मसूत्र** 1.24; **विष्णु स्मृति** 24.1.4; **मनुस्मृति** 3.13।

प्रकार स्मृतियों में बहुभार्या पर कोई विशेष प्रतिबंध नहीं लगाया गया है। याज्ञवल्क्य ने यह व्याख्या भी दी कि रोगग्रस्त, धूर्त्त, वन्ध्या, अत्यधिक व्यय करने वाली, अप्रियवादिनी, पति से द्वेष रखने वाली पत्नी के रहते हुये पुरुष दूसरी पत्नी कर ले।[47] पूर्वमध्ययुगीन स्मृतिकार देवल ने शूद्र की एक, वैश्य की दो, क्षत्रिय की तीन, ब्राह्मण की चार और राजा की यथेच्छ पत्नी होने की बात कही है। [48] अल्बेरुनी के मतानुसार "कुछ हिन्दुओं का विचार है कि पत्नियों की संख्या किसी आदमी की जाति पर निर्भर करती है, तदनुसार ब्राह्मण की चार पत्नियाँ, क्षत्रिय की तीन, वैश्य की दो और शूद्र को एक पत्नी रखने की अनुमति प्राप्त है।"[49] समीक्षाधीन अवधि के स्मृतिकारों ने भी जाति के आधार पर पत्नियों की संख्या निर्धारित की है।[50] अल्बेरुनी ने हिन्दुओं में प्रचलित इस प्रथा का विस्तृत वर्णन किया है - कोई भी आदमी एक से चार तक पत्नियाँ रख सकता है, परन्तु उसे चार से अधिक पत्नियाँ रखने की अनुमति नहीं है पर यदि उसकी पत्नियों में से किसी की मृत्यु हो जाये तो वह अपनी पत्नियों की संख्या अनुमत सीमा तक ले

---

47. **याज्ञवल्क्य स्मृति** 1.73, सुरापि व्याधिता धूर्त्ता वन्ध्यार्थध्न्यप्रियम्बदा।
स्त्री प्रसूश्चाधिवेत्तात्या पुरुषद्वेषिणी तथा।।

48. **देवल स्मृति** एक शूद्रस्य वैश्यस्य द्वौ तिस्रः क्षत्रियस्य च।
चतस्रः ब्राह्मणस्य स्युर्भार्या राज्ञो यथेच्छतः।।

गृहस्थरत्नाकर के पृ-85 पर उद्धृत।

49. **अल्बेरुनीज इंडिया** सचाऊ कृत भाग-2 पृ-156।

50. चंदेश्वर ठक्कुर कृत **गृहस्थ-रत्नाकर** पृ-85; **देवल स्मृति** 1.3.1-2;।

जाने के लिये एक और पत्नी रख सकता है परन्तु उस सीमा से बाहर नहीं जा सकता।[51] निस्सन्देह इस्लाम धर्म के अनुसार भी चार विवाह की ही अधिकतम सीमा थी, कोई पुरुष चार से अधिक विवाह नहीं कर सकता था।[52] अल्बेरुनी के एक पूर्ववर्ती लेखक सुलेमान ने लिखा है कि जो व्यक्ति जितनी चाहे उतनी स्त्री रखे।[53]

बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रायः राजकुलों एवं धनिक वर्गों में ही अधिक प्रचलित होने के संकेत ऐतिहासिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।[54] जिसके अनुसार बहुपत्नी धनवान व्यक्तियों के लिये विलासिता की द्योतक थी, धनिक वर्ग अनेक पत्नियों का भरण पोषण करने में समर्थ था अतः उनके लिये कई पत्नियाँ रखना सम्भव था। राजाओं की साधारणतः चार प्रकार की पत्नियों का विवरण धर्मशास्त्रों में दिया गया है – महिषी (प्रधान रानी), परिवृका (प्रभावशाली), वावाता (व्यक्तिगत रूप से

---

51. **अल्बेरुनीज इंडिया** सचाऊ कृत, भाग-2 पृ-156।
52. **दी होली कुरान** अनुवादक, मौलवी मुहम्मद अली लाहौर-1920 अध्याय-4 भाग-1 उपदेश-3 पृ-199।
53. इलियट और डाउसन, **हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स**, 8 भाग लन्दन 1966-77, पृ-154।
54. **कथासरित्सागर** भाग-2, 8/4/104; दाउद दलमई कृत **चन्दायन**, बम्बई-1964 छन्द-13 पृ-95-96 **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 समय-14 पृ-293-328; **राउल वेल** पृ-92।

प्रिय) तथा पालागली (सबसे निम्न व्यक्ति की कन्या)[55] पराक्रम और शौर्य-प्रदर्शन के निमित्त भी लोग युद्ध करके स्त्रियों को विजित कर अनेक पत्नियाँ रख लेते थे। तत्युगीन अभिलेखिक साक्ष्यों के अवलोकन से भी पूर्वमध्ययुगीन राजपूत शासकों की अनेक पत्नियों का विवरण प्राप्त होता है।[56] साथ ही समसामयिक्र साहित्यिक उद्धरणों में भी बहुपत्नी प्रथा के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं –

पंच सत्त दस हरम। साह कामी तप भारी[57]

अथवा

येक संत साठ रानी सहित। राजा परमाल चलते भये[58]

अपनी रचना चंदायन में मौलाना दाउद दलमई ने दास मेहर की

---

55. **शतपथ ब्राह्मण** 5.2.1.10, 13.4.1.7, चलस्त्रो जाया उपक्लप्ता भवन्ति।
महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली।।।

56. **इंस्क्रिप्शंस ऑफ बंगाल** (तीन भागों में) एन.जी. मजूमदार, कलकत्ता भाग-3 पृ-15; **भोजवर्मा का बेलवाता ताम्रपत्र** बारहवीं शताब्दी ई.; **एपिग्राफिया इंडिका** जिल्द-18 पृ-95; **महेन्द्रपाल के समय की पहेवा प्रशस्ति**; एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 22 पृ-56, **परमार चामुण्डराज का अर्थुन** अभिलेख; **कारपस इंस्क्रिप्शंस इंडिकेरम** जिल्द-4 भाग-2 पृ-486 कल्चूरि अभिलेख।

57. **पृथ्वीराज रासो**प्रथम भाग पृ-725 छन्द 314।

58. **परमाल रासो** प्रथम भाग, पृ- 54।

चौरासी पत्नियों का उल्लेख किया है।[59] चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज के बहुपत्नीक होने का वर्णन किया है उनके विभिन्न विवाहों में इच्छिनी विवाह[60] पुण्डर-दामिनी विवाह[61], पृथा विवाह[62] हंसावती विवाह[63] आदि की चर्चा है। अभिजात वर्ग में विशेष रूप से प्रचलित बहुपत्नी प्रथा के प्रमाण कुछ अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं।[64]

यही नहीं बहुविवाह प्रथा के कारण सपत्नियों में द्वेष होना स्वाभाविक था जिसके कारण गृहकलह का उल्लेख भी तत्युगीन अनेक रचनाओं में

---

59. मौलाना दाउद दलमई कृत **चन्दायन**, प्रकाशक, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई 1964 छन्द 13 पृ-95-96।
60. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 समय- 14 पृ-293-328।
61. **वही,** समय-16 पृ-347-353।
62. **वही,** समय-18, पृ-369-396।
63. **पृथ्वीराज रासो** भाग-3, समय-40 पृ-148।
64. जयानक कृत **पृथ्वीराज विजय** सम्पादक जी.एच. ओझा और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अजमेर 1941, VIII-50; सोमेश्वर कृत **कीर्तिकौमुदी** बम्बई 1883; रोड कृत **राउल वेल** (सम्पादक-माता प्रसाद गुप्त) इलाहाबाद - 1962 पृ - 92 दोहा- 12।

मिलता है।[65] इन उद्धरणों में सौतिया डाह को सर्वाधिक कष्टदायक निरूपित किया गया है जिसके अनुसार नारी सब कुछ सहन कर सकती है, किन्तु पति प्रेम का बँटवारा नहीं सहन कर सकती–

धन ग्रह बंठन मुति ठग। हेम पंत्त्वर सार।

पुनि त्रिय पिय बन्ठन सुरति। लगै अधिक पगधार।।[66]

हिन्दू समाज में बहुपतित्व की प्रथा अत्यल्प थी। बहुपति विवाह की प्रथा जनजातियों अथवा आदिम जातियों के समाज से अधिक सम्बद्ध है।[67] अल्बेरुनी ने बहुपति प्रथा का अस्तित्व केवल पहाड़ी प्रदेश में बताते हुये यह उल्लिखित किया है कि काश्मीर के पड़ोसी पंचीर राज्य में कई भाइयों का सम्मिलित राज्य था और उन सभी भाइयों के बीच में एक ही पत्नी थी।[68]

---

65. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ-74 छन्द 375; **बीसलदेव रासो** पृ-83 छन्द 411 तथा पृ-87 छन्द 491; **चन्दायन** पृ-243-244 छन्द 25; **नवसाहसांक चरित** 14/53।

66. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ-1964 छन्द-21 तथा पृ-1963 छन्द 17, पृ-1963 छन्द-17, पृ-1985 छन्द 188; दाउद कृत **चंदायन** पृ-156 छन्द 17; **परमाल रासो** प्रथम भाग पृ-36; जयानक कृत पृथ्वीराज विजय X123, 24, 103।

67. पी.एच. प्रभु, **हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन** , पृ-123; कर्वे इरावती, **हिन्दू सोसायटी एन इन्टरप्रिटेशन**, पूना 1968 पृ-246।

68. **अल्बेरुनीज इंडिया** भाग-2 पृ-108।

इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्ययुग में बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रायः राजकुलों और धनिक वर्गों तक ही सीमित थी, साधारण जनता तो अपने जीवन-यापन में ही व्यस्त रहती थी। कभी-कभी समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का संख्या में अधिक होना भी बहुपत्नीत्व विवाह की प्रथा का कारण बना। अभिजात एवं शासक वर्ग अपनी प्रतिष्ठा, शौर्य एवं सम्मान प्रदर्शन हेतु भी एक से अधिक पत्नी रखता था।

दहेज प्रथा

वैदिक युग में ही जब कन्या का विवाह किया जाता था तो उसे नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों के साथ विदा किया जाता था।[69] ऐसा प्रतीत होता है कि वधू के साथ कुछ वस्तुयें भी ससुराल वालों को प्रदान की जाती थी।[70] यह प्रथा निरन्तर बढ़ती गई, पूर्वमध्युग में दहेज का सम्बन्ध संभवतः दान के साथ जुड़ा था इस प्रकार के धार्मिक दान को इस युग में आकर स्वर्ण अथवा धन के साथ जोड़ दिया गया था[71] साथ ही पूर्वमध्ययुगीन सामन्ती परिवेश के कारण दहेज लेना व देना सामाजिक स्तर के निरूपण का एक मापदण्ड बन गया था अतः इस काल में दहेज प्रथा सर्वप्रचलित व सर्वमान्य हो गई।

---

69. **ऋग्वेद**,10.85.13; **अथर्ववेद** 14.1.13, 5.17.12; **मनु** 9.194, सम्पादन, जौली लन्दन-1887

70. **महाभारत** 1.113.12, 1.200.6; **धम्मपद टीका** 1.7.3; सम्पा. राहुल सांकृत्यायन, रंगून 1937;

71. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** पृ-71

पूर्व मध्ययुगीन समाज में यह प्रथा भली-भाँति स्थापित हो चुकी थी। इस प्रथा को कुलीन एवं सम्पन्न परिवारों में ही आश्रय प्राप्त था, सम्भवतः सामान्य जनता में इस प्रथा का विशेष प्रचलन नहीं था। दहेज सम्बन्धित पक्षों के आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति या स्तर के अनुसार निर्धारित होता था। दहेज शब्द सामान्यतः मूल अर्थ में दो स्वरूप में प्रयुक्त होता है, जैसे वह स्वरूप जो कि विवाह सम्पन्न होने के समय पर या उसके पहले दिया जाता था तथा दूसरा स्वरूप वह जो विवाह संस्कार सम्पन्न होने के बाद भेंट अथवा दान के रूप में दिया जाता था। पहले प्रकार के स्वरूप को श्रीफल, 'पान' अथवा 'तिलक'[72] के नाम से जाना जाता था तथा द्वितीय प्रकार के स्वरूप को सामान्यतः 'जौतुक'[73] अथवा 'दहेज'[74] कहा जाता था। दहेज के इन दोनों स्वरूपों का वर्णन अवलोकित काल के समकालीन साहित्यों एवं फारसी के ऐतिहासिक वृत्तान्तों में उपलब्ध है। चन्दबरदाई ने इन्द्रावती एवं चौहान वंश के राजा पृथ्वीराज के विवाह के पूर्व 'श्रीफल' का उल्लेख किया है।[75] ऐसा विदित होता है कि ये उपहार दोनों पक्षों की सामाजिक स्थिति के अनुसार ही दिये जाते थे तथा इन उपहारों में विशेषकर बहुमूल्य जवाहर तथा धातुयें, आभूषण, स्थावर सम्पत्ति, घोड़े, हाथी, रथ, अनुचर और उपचारिकाएं

---

72. **पृथ्वीराज रासो** भाग-2, समय-30, दोहा 55 पृ-898

73. **बीसलदेव रासो** पृ-222 पद-19, पृ-223, पद-20, पृ-223 पद-21;

74. **पृथ्वीराज रासो** पृ-939 पद-31, कनवज्ज, पृ--857 पद 670
राउल-वेल पृ-86 पद-22

75. **पृथ्वीराज रासो**, भाग- 2, समय 30, करहरा युद्ध, दोहा-55, पृ-898

तथा जीवन की आवश्यकताओं और विलास की अन्य सामग्रियाँ सम्मिलित होती थीं।[76] दहेज प्रथा को सामान्यतः धनिकों एवं सम्पन्न वर्ग के लोगों में ही आश्रय मिलता था, सामान्य जनता इस प्रथा से कम आकर्षित थी। यद्यपि इसके आर्थिक कारण थे। अल्बेरुनी ने हिन्दुओं की विवाह-विधि का वर्णन करते हुये उल्लेख किया है कि वर-पक्ष एवं कन्या-पक्ष के बीच कोई भी दहेज निश्चित नहीं होता। केवल पुरुष अपनी रुचि के अनुसार अपनी पत्नी को भेंट प्रदान करता है तथा उसे विवाहोपहार देता है जिस पर उस (पति) का कोई अधिकार नहीं होता। किन्तु यदि पत्नी की इच्छा हो तो वह (उपहार) अपने पति को पति को वापस दे सकती है।[77] उपहार के इस स्वरूप को बिहार, उत्तर-प्रदेश के कुछ क्षेत्रों एवं

---

76. **पृथ्वीराज रासो** (इच्छिनी विवाह) पृ-322 छनद-69, पुंडीर-दामिनी-विवाह, पृ-348 छन्द-5, पृ-352 छन्द 12, पृथा विवाह, पृ-395 छन्द 56, इन्द्रावती विवाह पृ-939 छूनद 31, कांगुरा युद्ध पृ-964 छन्द-24, कनवज्ञ (चतुर्थ खण्ड) पृ-857 छन्द 670; **बीसलदेव रासो** पृ-223 छन्द-20, पृ-223 छन्द-21; **परमाल रासो** खण्ड 15 छन्द 189; **चंदायन** पृ-40 पद-42; **मिताक्षरा** याज्ञवल्क्य 2.143-44

77. **अल्बेरुनीज इंडिया** भाग-2 सचाऊ कृत पृ-154

राजस्थान में दहेज अथवा दाईज[78] के नाम से जाना जाता था।

हिन्दुओं के समान सम्पन्न एवं उच्च श्रेणी के मुस्लिम भी दहेज प्रथा के प्रचलन से अछूते नहीं थे मुसलमानों में यह प्रथा 'जहेज' के नाम से प्रचलित थी।[79] हजरत मुहम्मद ने भी इसे अनाथों के प्रति अभिभावकों का कर्त्तव्य बताया है और उनके अनुसार प्रत्येक महिला को जिससे विवाह किया जाये, दहेज देना आवश्यक है, चाहे वह स्वतन्त्र महिला हो अथवा युद्धबन्दी अनाथ महिला। जैसा कि कुरआन में प्रसंग है प्रत्येक स्त्री अपना वैवाहिक जीवन कुछ सम्पत्ति की स्वामिनी के रूप में प्रारम्भ करती है। इस प्रकार विवाह उसके सामाजिक स्तर को उच्च करने का एक साधन है

---

78. **पृथ्वीराज रासो** समय 31 छन्द-38 पृ-912 में विवाह के उपहार (दहेज) का उल्लेख, साथ ही दोहा 46 पृ-935; नरपति नाल्ह का **बीसलदेव रासो** छन्द 20 पृ-74; **ढोला मारू रा दुहा**, दोहा 595 पृ-143 में प्रसंग है कि ढोला और मारवानी के विवाह अवसर पर राजा पिंगल दहेज के रूप में रत्न-जटित आभूषण, हाथी और अनेक दासियाँ देते हैं –

   "सोवान जटित सिंगार, बहु मारवणी मुकलई
   गाय हेवांर दासी बहुत, दिहिन पिंगल शाय"

79. के.पी. जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना खण्ड-1, **अफसाना-ए-बादशाही** या **तारीख-ए-अफगानी** का फोटोप्रिन्ट, पृ-39 पर 'दहेज' का उल्लेख।

और विवाह अनेक रूप से उसे उसके पति की समानता में ले आता है।[80] इस प्रकार उस काल के दोनों प्रधान धर्मो द्वारा मान्यता प्राप्त होने के कारण ही पूर्वमध्य काल में 'दहेज' सर्वप्रचलित हो चुका था।

साधारणतया वर पक्ष के लोग कन्या पक्ष से दहेज लेते थे। लेकिन कभी-कभी कन्या पक्ष के लोग भी वर पक्ष से दहेज प्राप्त करते थे। यह प्रथा निर्धन वर्ग में अधिक प्रचलित थी।[81] अधिकतर धनी लोग जो कम उम्र की कन्या से विवाह करना चाहते थे, कन्या पक्ष को दहेज देते थे। इस सन्दर्भ में कन्याओं को खरीदने की पद्धति तत्युगीन समाज में विद्यमान थी।[82]

परदा-प्रथा

'परदा' एक फारसी शब्द है; इसका मूलार्थ होता है 'आवरण'।

---

80. **दी होली कुरआन**, अनुवादक, मौलवी मुहम्मद अली लाहौर, द्वितीय संस्करण, 1920 अध्याय-4 भाग-1 उपदेश-4 पृ-200 पर उल्लिखित है "स्त्रियों को मुफ्त भेंट के रूप में दहेज दो, पर यदि वे स्वयं उसका एक भाग तुम्हें देने को राजी हों तो उसे प्रसन्नता से स्वीकार कर लो।"

81. ए. के. सेन, **पीपुल एण्ड पॉलिटिक्स इन अर्ली मेडिवल इंडिया,** कलकत्ता – 1913 पृ-93; यह प्रथा आधुनिक उत्तर-प्रदेश और बिहार में प्रचलित थी - देखिये, रेखा मिश्र, **वीमेन इन मुगल इण्डिया,** दिल्ली, पृ–131

82. किदवई शेख एम. एन., **वुमैन अन्डर डिफरेन्ट सोशल एण्ड रिलीजियस लॉज,** दिल्ली, 1976, पृ-205

अपने मूलार्थ के साथ-साथ इस शब्द ने एक और अर्थ अपना लिया – 'स्त्रियों की एकान्तता' भारत में स्त्रियों के लिए परदा का प्रचलन कबसे हुआ, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। वैदिक युग से पहली सदी ई.पू. तक हिन्दू समाज में स्त्रियों के लिए परदा अथवा अवगुंठन के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं है। उपरोक्त काल में स्त्रियाँ बिना परदे के स्वच्छन्दतापूर्वक आ जा सकती थी तथा पुरुषों के साथ हिल-मिल सकती थी। सहशिक्षा का व्यवहार स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से उन्मुक्त वातावरण प्रदान करता था। पूर्ववैदिक काल में वधू सभी आगतों को दिखाई जाती थी, उस युग की स्त्रियाँविदथ (सभा और समिति) तथा समन (उत्सव और मेला) में भी स्वच्छन्दतापूर्वक सम्मिलित होती थी।[83]

प्रायः स्त्रियाँ जब श्रेष्ठ लोगों के सम्मुख जाती थी तो आदर और सम्मान व्यक्त करने के लिए अवगुंठन कर लेती थी। राज-परिवारों और अभिजात् वर्ग की स्त्रियाँ सम्मान और गरिमा को व्यक्त करने के लिये लज्ञा भाव से उसने मुख पर अवगुंठन डाल लिया करती थीं ताकि लोगों की दृष्टि उन पर न पड़े। कालिदास के अनेक ग्रन्थों में अवगुंठन का उल्लेख हुआ है,[84] सम्राट हर्ष ने लिखा है कि कन्या के लिए परदे की कोई आवश्यकता नहीं है, विवाह के बाद ही इसकी अपेक्षा की जाती

---

83. **ऋग्वेद** – 10.85.33, **ऐतरेय ब्राह्मण** – 12-11, **अर्थवेद** – 14.1.21

84. **रघुवंश** – 16.59 कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी।
कुमारसंभव –7:2; **शाकुन्तलम्** – चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी,
मालविकाग्नीमित्रम – 2.44, बम्बई संस्कृत सीरीज – 1889.

है।[85] तीसरी सदी ईसवी के पश्चात कुछ उच्च राजकीय परिवारों में परदे का प्रचलन शनैः शनैः प्रारम्भ हो गया था। कभी किसी विशिष्ट अवसर पर अथवा वयोवृद्ध और ज्योष्ठ लोगों के सम्मुख जाते समय वधू द्वारा अवगुंठन कर लिया जाता था। फाश्येन, श्वान-च्वांग और ईत्सिंग जैसे पूर्वमध्ययुगीन चीनी लेखकों ने कहीं भी स्त्री के परदे का उल्लेख नहीं किया है। ग्यारहवीं सदी के कथा साहित्य में स्त्री के परदा प्रथा का कहीं भी स्पष्ट संकेत नहीं है, बल्कि कथासरित्सागर में उल्लिखित रत्नप्रभा नामक नारी ने परदे का विरोध किया है।[86] कल्हण की राजतरंगिणी में भी परदा प्रथा का कहीं कोई संदर्भ नहीं मिलता। दसवीं सदी के अरब लेखक अबूजैद ने लिखा है कि उसके समय में भारतीय रानियाँ परदे के बिना ही राजसभा में उपस्थित होती थीं।[87] बारहवीं सदी तक के ऐतिहासिक साहित्य में परदा-प्रथा का हम कोई उल्लेखनीय वर्णन नहीं पाते, इस युग तक परदा-प्रथा चाहे उच्च समुदायों और राजपरिवारों में भले ही प्रचलित रही हो, परन्तु साधारण जनता में इसका पूर्ण प्रचलन नहीं था, स्त्रियाँ प्रायः बिना किसी प्रतिबन्ध के उन्मुक्त और अवगुंठन-हीन घूँमती थीं।[88] कुछ विद्वानों के अनुसार पूर्व

---

85. **नागानन्द** – हर्षदेव, अंक-1 सम्पा, शिवराज शास्त्री साहित्य भंडार, मेरठ-1968

86. **कथासरित्सागर**, 33.6-7, सोमदेव भट्ट, और **बृहत्कथामंजरी** - क्षेमेन्द्र सम्पा. महामहोपाध्याय पं. शिवदत्त एवं काशीनाथ पांडुरंग, बम्बई-1931

87. इलियट एच.एम. और डाउसन जे., हिस्ट्री ऑफ **इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स**

88. विन्सेंट ए. स्मिथ **'दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'** कैलरेंडन प्रेस, आक्सफोर्ड, द्वितीयसंस्करण 1923, पृ. 261

मुस्लिम काल में भी समाज में एक ऐसा वर्ग था जो राजकीय स्त्रियों के परदा व्यवहार करने का समर्थन करता था ताकि उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हो।[89]

ऐसा प्रतीत होता है कि परदा प्रथा का प्रचलन बारहवीं सदीं के बाद ही हुआ, जब देश और समाज विदेशी आक्रामकों से आक्रान्त होने लगा था और भारतीय स्त्रियों के लिए सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण बन चुका था। परिणामस्वरूप व्यवस्थाकारों ने हिन्दू समाज में अपनी स्त्रियों की रक्षा के लिए परदा जैसा प्रतिबन्ध लगाया। आक्रमणकारी स्त्रियों को न देख सके, इसलिए उनके लिये आवरण की व्यवस्था की गई। बारहवीं सदी के उपरांत में परदा हिन्दू समाज का प्रधान अंग बन गया। परदे के वर्तमान स्वरूप के विकास को अनेक तत्वों ने सम्भव बनाया जिनमें से अत्यन्त महत्वपूर्ण है – हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति, उसके कार्य और नैतिकता सम्बन्धी विचार, हिन्दू समाज में पुरुष समाज से स्त्रियों का पृथकत्व एक सामान्य बात थी और घर ही उनका क्षेत्र था। मुस्लिम अपने साथ वर्ग, जातीय पृथकता और शाही व्यवहार के अतिरंजित विचार लाये जिन्होंने यहाँ की अनुकूल भूमि में जड़े जमा ली। इसमें

---

89. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन**, पृ. 166-179; **'जर्नल आफ गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट'** इलाहाबाद खण्ड-7 भाग-1, नवम्बर 1949 में शकुन्तला राव शास्त्री का **'दी परदा'** निबंध देखें; **दी मुस्लिम रिव्यू** खण्ड-4 संख्या-4 1930 में पृ.- 35-39 पर पंडित शिवनारायण का निबंध' **"दी परदा सिस्टम"** भी देखें।

एक व्यवहारिक कारण भी जुड़ गया – असुरक्षा की वृद्धिगत भावना जो 200 वर्षों से आक्रमणों का कारण बनी रही।[90]

पूर्वमध्यकालीन भारत में हमें परदा-प्रथा के प्रचलन का उदाहरण प्राप्त होता है, जिसमें इस बात का उल्लेख है, कि नवविवाहितायें भी अपने पति से परदे की ओट से बात करने को विवश थीं,[91] यही नहीं विवाह आदि के अवसर पर भी वधू बनी बालायें अवगुंठन अथवा परदा का पालन करती थीं। चूँकि लाल रंग को विवाह आदि कार्यों में शुभ रंग माना गया है अतः प्रायः इस अवसर पर लाल रंग के परदे का प्रयोग किया जाता है।[92] सम्भवतः परदा केवल विवाहित स्त्रियों के लिए विहित था, अविवाहित कन्यायें पर्दा नहीं करती थी।[93] अमीर खुसरो के

---

90. के.एम. अशरफ; **लाइफ एण्ड कंडीशन आफ पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान,** दिल्ली 1959, पृ.-139

91. **पृथ्वीराज रासो** (प्रथम खण्ड) महाकवि चन्द विरदाई, सम्पादक-कविराज मोहन सिंह, साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर संख्या-2011.
ईच्छिनी-विवाह पृ.-303, दोहा-19

92. **हर्षचरित**, बाणभट्ट टीका-पंडित श्री जगन्नाथ पाठक, साहित्याचार्य चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी-1958, चतुर्थ उच्छवास, पृ.-240 तथा **राउलवेल** रोड, सम्पा. माता प्रसाद गुप्त, 'मित्र प्रकाशन इलाहाबाद 1962, पृ.-102 दोहा-41, हर्ष चरित-तृतीय, उच्छवास, पृ.-163

93. **प्रियदर्शिका** – श्री हर्ष, टीका - पं. श्री रामचन्द्र मिश्रा, पृ.-82, दोहा-7

अनुसार उत्तम स्त्री वह है जो यथा रीति परदा का पालन करती है और मुख पर बुरका (मुखावरण) धारण करती है। स्त्रियों को अपने घर में भी चाहे वह इतना न्यून और छोटा हो तो भी परदा का पालन करना पड़ता है।[94] उसके अनुसार परदा स्त्रियों का श्रेष्ठतम् आभूषण है, उचित आयु (लगभग 17 वर्ष) के आगमन पर स्त्रियों के लिए परदा प्रथा का पालन करना अत्यंत आवश्यक हो जाता है।[95] भारत की अधिकांश कृषक स्त्रियाँ कोई भी परदा अथवा आवरण वस्त्र का प्रयोग नहीं करती थीं, न ही वे एकान्तता का पालन करती थी जब वे किसी अजनबी को सामने देखती तो अपनी साड़ी अथवा शीश वस्त्र को अपने मुख की ओर खींच लेती थीं, उनकी बाहुयें एवं मुख प्रायः खुले ही रहते थे।[96] स्त्रियाँ जब कुएं, नदी अथवा तालाब इत्यादि से पानी लेने जाती थीं तो प्रायः समूह में जाती थीं और वे किसी प्रकार के आवरण वस्त्र का प्रयोग प्रायः नहीं करती थी।[97]

---

94. **हश्त-बहिश्त** , अमीर खुसरो, सम्पा. मौलाना सैय्यद सुलेमान अशरफ, अलीगढ़-1918, पृ.-118

95. **मतलाउल-अनवार** अमीर खुसरो, पृ.-224, तथा **हश्त-बहिश्त** अलीगढ़-1918, पृ.-29-30.

96. के.एम. अशरफ **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान** पृ.-638-643; अमीर खुसरो, **देवल रानी खिज्र खां**, अलीगढ़ 1917 पृ.-49; **तारीख-ए-फिरोजशाही**, पृ.-506

97. **तारीख-ए-फिरोजशाही**, पृ.-352; **ग्लिम्पसेज ऑफ मेडीवल कल्चर**, यूसुफ हुसैन, पृ.-129.

पूर्वमध्यकालीन भारत में चेहरे को आवरण युक्त रखने का पर्याप्त प्रचलन था, जैसा कि ग्रामीण भारत में आज भी बहुतायत से देखने को मिलता है। सम्भवतः यह महिलाओं की कुलीनता का द्योतक था। कुल मिलाकर यह एक आंशिक परदा था, इसे घूंघट कहा जाता था। समसामयिक साहित्यिक कृतियों में घूँघट शब्द के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[98] यही नहीं तत्कालीन समाज में वेश्या द्वारा भी घूँघट किये जाने का विवरण प्राप्त होता है।[99] चूँकि लाल रंग को सुहाग की निशानी माना जाता था अतः विवाहित स्त्रियॉ रक्त वर्ण की ओढ़नी या चादर का प्रयोग करती थीं तथा अविवाहित बालायें श्वेत व अन्य रंग के आवरण का प्रयोग करती थीं।[100] अमीर खसुरो ने दुपट्टे के महत्व की ओर संकेत करते हुये उसकी तुलना सुल्तान के ताज से की है।[101]

---

98. **पृथ्वी राज रासो** भाग-4, समय 58, दोहा-286, पृ.-684; यहां पर घूँघट का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख है जो इस प्रकार है – "ढंको सिरो लाज"; तथा दोहा-290, पृ.-658 भी देखें; के.एम. अशरफ **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान**, पृ.-139.

99. **पृथ्वीराज रासो**, भाग-4, पृ.-658,दोहा- 289.

100. **राउल वेल**-पू. 100, दोहा-27 एवं पृ.-102, दोहा-41; साथ ही देखें अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक**, सम्पा. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-1919.

101. अमीर खुसरो कृत **'मतलाउल-अनवार'**, पृ.-226

समकालीन साहित्यिक उद्धरणों में किसी स्थान विशेष के विशिष्ट प्रकार के आवरण वस्त्रों अथवा चादर के प्रयोग के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।[102] उच्च श्रेणी की कुलीन स्त्रियाँ पूर्ण आवरण और डोलियों (जिनमें ताले लगे होते थे) में बाहर आया करती थीं जो उनके आवागमन का साधन थीं, इन सवारियों को पालकी, डोली, चौडाले या हिण्डोला कहा जाता था।[103]

---

102. नरपति नाल्ह, - **वीसलदेव रास**, सम्पा. माता प्रसाद गुप्त हिन्दी परिषद, विश्व विद्यापीठ, प्रयाग - 1953, पृ. - 127, दोहा - 85, **झूना** (जूनागढ़) का ताव (चादर) पहिनकर राजमती वीसलदेव से मिलने आई; तथा **राउल-वेल** पृ. - 100, दोहा - 27, दो ओढ़निया सेंदूरी (एक धारीदार कपड़ा) और सेलदही (दक्षिण भारत का महीन मलमल)।

103. ओझा डॉ. पी.एन. – **आस्पेक्ट्स ऑफ मेडिवल इण्डिया कल्चर**, पुस्तक भवन राँची, पृथु संस्करण अप्रैल - 1961, पृ. - 216; **कबीर**, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बम्बई - 1955, पृ. - 349, पद - 218; चन्दबरदाई कृत **पृथ्वीराज रासो** भाग - 1 (उदयपुर संस्करण) दोहा - 65, पृ. - 169, कवित्त - 56, पृ. - 659 दोहा- 142.

समसामयिक साहित्यिक कृतियों में इस प्रकार की डोली या पालकी के अनेक विवरण प्राप्त होते हैं।[104] निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि परदा-प्रथा के कारण हिन्दू और मुस्लिम दोनों जातियों की स्त्रियों के विकास के पथ पर पर्याप्त अवरोध उत्पन्न हुये। 'परदा' स्त्रियों का एक पृथक भवन अथवा भवन के एक पृथक, एकान्त कक्ष में वास करना भी प्रकट करता है। यह कहा जा सकता है कि परदा-प्रथा उस काल के स्त्रीत्व का एक सामान्य लक्षण बन चुकी थी, यही कारण है कि 'परदे में' रहने की प्रथा इतनी लोकप्रिय एवं विस्तृत रूप से प्रचलित हुई जबकि प्राचीन काल में यह बात नहीं थी।[105] एस.एम. जाफर महोदय ने परदा को हिन्दू स्त्रियों के लिये धार्मिक कर्त्तव्य कहा है तथा इसके समर्थन में उन्होंने रामायण और महाभारत से सीता और द्रौपदी का उदाहरण दिया है।[106] धार्मिक ग्रन्थों का उद्धरण देते हुये यह समझाने का प्रयास किया कि पर्दा त्यागना हिन्दू समाज में भी निन्दनीय समझा जाता था।[107]

---

104. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, समय-6 (नाहरराय कथा) दोहा-65, पृ.-169 पर **डोला** का उल्लेख, समय 18 (प्रथा-विवाह) कवित्त-56, पृ.-396. पर **डोलिया** का उल्लेख, भाग-2 समय 23 (**शशिव्रता समय**), दोहा-142, पृ.-659, पर **डोल** का उल्लेख; **चंदायन**-दाउद, सम्पादक माता प्रसाद गुप्त, आगरा-1967, पृ.-37-38, दोहा- 40; **कीर्तिलता** विद्यापति ठाकुर, सम्पा. वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य सदन चिरगाँव (झाँसी) 1962, प्रथम पल्लव, पृ.-83-84.

105. विन्सेन्ट ए.स्मिथ. **दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया**, पृ.-261.

106. एस.एम. जाफर, **सम कल्चरल ऐस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया**, दिल्ली-1972, पृ.-198-199

107. **ब्रह्मपुराण**, अध्याय-32, श्लोक 39, उद्धृत

उनका कहना है कि सार्वजनिक समारोहों में स्त्रियों के बैठने के लिये अलग व्यवस्था थी और उसे पर्दे से ढका जाता था।[108] इन परिस्थितियों में विद्वान इतिहासकार यह नहीं स्वीकार करते कि परदे की प्रथा हिन्दू समाज में मुसलमानों के राज्य स्थापित करने के बाद आई।[109] यह सही हो सकता है पर्दा समाज में सिर्फ कुलीनता का एक चिन्ह माना जाता था, हिन्दू समाज में भी स्त्रियों का एकांत निवास तथा घूँघट से मुख ढंकना सम्मान का विषय समझा जाता था।[110]

विवाह-विच्छेद

मुस्लिम कानून एवं रिवाज में कुछ विशेष सीमाओं सहित विवाह विच्छेद की व्यवस्था है।[111] ईसा के पूर्व हिन्दुओं में भी विशेष एवं सुस्पष्ट परिस्थितियों

सम कल्चरल आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया

108. **हरिवंश पुराण**, अध्याय-19, उद्धृत
सम कल्चरल आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया

109. **एस.एम. जाफर**, पृ.-201; एन.सी. मेहता का लेख- **पर्दा**, लीडर, इलाहाबाद, मई-1928; एन.एन. ला - **एन्शियेन्ट हिन्दू पॉलिटी** पृ.- 144

110. **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान**-पृ.-172

111. **दी होली कुरआन**, अनुवादक, मौलवी मुहम्मद अली, लाहौर, द्वितीय संस्करण-1920, अध्याय-2, भाग-28-31, पृ.-102-212; **दी जर्नल ऑफ मुस्लिम वर्ल्ड**, खण्ड-29, 1939, पृ.-55-62 में प्रकाशित रिचार्ड वेल का लेख।

में विवाह-विच्छेद का विधान था।[112] प्राचीन हिन्दू धर्म संहिता के लेखक मनु ने इस विषय में लिखा है – "एक वर्ष तक पति अपनी पत्नी को (जो उससे द्वेष-भाव रखती है) सहन कर ले, किन्तु एक वर्ष व्यतीत होने के उपरान्त अपनी पत्नी को सम्पत्ति में से वंचित कर दे एवं उससे कोई सम्पर्क न रखे। उस पत्नी को, जो अपने पति का निरादर करती है जो (पति) कुव्यसनी हो, मद्यव्यसनी हो अथवा रोगग्रस्त हो, तो तीन मास के निमित्त उसे (पत्नी को) त्याग दे और उसे उसके आभूषणों एवं सामग्रियों से वंचित कर दे। किन्तु वह (पत्नी) जो अपने उस पति के प्रति द्वेष रखती हो जो विक्षिप्त, पापी, नपुंसक अथवा कुष्ठरोग आदि से ग्रस्त हो, ऐसी (पत्नी) का न तो त्याग करना चाहिए और न ही सम्पत्ति से वंचित करना चाहिए। जो पत्नी मदिरापान करे, दुराचारिणी, पति-विरोधिनी, रोगग्रस्त, दुष्ट और अतिव्ययी हो, तो पति को अन्य विवाह कर लेना चाहिए।[113] कौटिल्य ने भी उन परिस्थितियों का स्पष्टीकरण किया है, जिन परिस्थितियों में पति-पत्नी का साथ जीवन व्यतीत करना कठिन हो जाता था, इन परिस्थितियों में उन्होंने पति-पत्नी दोनों की सहमति से विवाह विच्छेद की अनुमति प्रदान की है। स्त्री पति इच्छा के प्रतिकूल करना विवाह-विच्छेद नहीं कर सकती, और न ही पति, पत्नी की इच्छा के प्रतिकूल विवाह संबंध तोड़ सकता है। किन्तु पारस्परिक द्वेष

---

112. **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,** पृ.- 83.

113. **दी लॉज ऑफ मनु,** अध्याय-9 खण्ड-77-80 जैसा कि दी सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट (सम्पा. एफ. मैक्समूलर) खण्ड -25, आक्सफोर्ड, 1886, पृ. -341-342.

के आधार पर विवाह-विच्छेद किया जा सकता है (परस्परम् द्वेषामोक्षः)।[114] किन्तु धर्म्य विवाहों में, वह भी विवाह विच्छेद की अनुमति नहीं देते।[115] इसका कारण है कि धर्म शास्त्रकार विवाह को एक पवित्र संस्कार समझते थे, जिसमें विवाह-विच्छेद संभव नहीं था। किन्तु कौटिल्य अधर्म्य विवाह में विच्छेद संभव मानते हैं। कालान्तर में किसी भी प्रकार के विवाह में विच्छेद संभव नहीं रहा। अवलोकित काल में भी उच्च वर्गीय हिन्दू महिलाओं को विवाह-विच्छेद की सुविधा प्राप्त नहीं थी। इस संबंध में अल्बेरूनी ने स्पष्ट रूप से कहा है ''पति पत्नी का संबंध-विच्छेद केवल मृत्यु द्वारा ही होता था, क्योंकि उनमें विवाह-विच्छेद की प्रथा नहीं थी।[116] किन्तु विवाह-विच्छेद की प्रथा डोम्ब, चाण्डाल एवं शूद्रों जैसे निम्नस्तरीय वर्णों में प्रचलित थी।[117]

माता के रूप में नारी की भूमिका

हिन्दू समाज में माता का स्थान अत्यन्त प्राचीनकाल से ही अत्यन्त ऊँचा गरिमायुक्त एवं महत्वपूर्ण रहा है। माता के प्रति हिन्दू समाज की स्वाभाविक

---

114. **कौटिल्य अर्थशास्त्र** – पुस्तक-3, अध्याय-3, पृ.-176-177.

115. **कौटिल्य अर्थशास्त्र** – पुस्तक -3, अध्याय-3, पृ.-176-177.

116. **अल्बेरूनीज इंडिया,** भाग,-2, सचाऊ, पृ. - 154.

117. एक सामाजिक कृति '**चार्या गीति पदावली**' सम्पा. डॉ. सुकुमार सेन, बर्दवान 1956, पद-10 (हा पद) पृ. - 58 में निम्न जाति (डोम्बी) की महिला के विवाह-विच्छेद का उल्लेख मिलता है।

श्रद्धा एवं निष्ठा रही है। कुटुम्ब की संरचना में माता का अभूतपूर्व योगदान है जो उसकी घनिष्ठता, अपनत्व, उत्सर्ग और स्नेह का प्रतीक है।[118] पूर्व मध्यकालीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भी माता के रूप में स्त्रियों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है, इस युग में परिवार में उनका सम्मान और आदर मर्यादायुक्त और आदर्शात्मक था।[119] समाज में पिता और माता की तुलना में सन्तान को जन्म देने के कारण माता की महिमा अधिक मानी गई है, तत्युगीन साहित्य में यह निर्देशित है कि यदि माता विष भी दे तब भी उसका साथ अपरिहार्य है, भले ही उस पिता का साथ छोड़ दिया जाये, जो संतान को बेचने के लिए तत्पर हो –

विषय गुटी माका दियै। बेचि पिता लै दान।

माता सरन सुनिकपै। पिता सरन मन मानि।[120]

वीर-प्रसविनी होने के कारण माता का स्थान परिवार में पिता से भी श्रेष्ठ माना गया था।[121] प्रसिद्ध साहित्यकार अमीर-खुसरो ने भी भारतीय समाज में

---

118. पी. एच. प्रभु. **हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन,** बम्बई–1958, पृ. 251; शकुन्तला राव शास्त्री, **वुमैन इन सेक्रेड लॉज,** पृ. 102.

119. **मतलाउल-अनवार,** पृ.119-121; **तारीख-ए-मुहम्मदी,** अनुवाद, जकी मुहम्मद, पृ.-62; मैकॉलिफ, एम. ए., **दी सिख रिलीजन,** प्रथम, दिल्ली– 1978, पृ.– 87-88.

120. **पृथ्वीराज रासो,** प्रथम भाग, पृ. – 2094 छन्द – 409.

121. **पृथ्वीराज रासो,** प्रथम भाग, पृ. 2166 छन्द – 379.

माता के उच्च स्थान के विषय में उल्लेख करते हुए कहा है कि शिशु को जन्म देने के कारण समाज में उसका स्थान सर्वोच्च था।[122] पूर्व मध्यकालीन साहित्य में अनेक स्थलों पर माताओं द्वारा पुत्र-प्राप्ति हेतु कामना तथा व्रत-अनुष्ठान आदि का विस्तृत उल्लेख मिलता है, चूँकि यह काल राजपूत राज्यों के राजनीतिक उत्थान तथा गंगा-यमुना दोआब में तुर्की-प्रसार का काल था अतः इन परिस्थितियों में राज्यशक्ति का प्रमुख आधार सैन्यशक्ति ही था। तत्कालीन राजनीतिक वातावरण में माताओं द्वारा वीर-पुत्रों की कामना करना स्वाभाविक ही था। पूर्वमध्ययुगीन इन वीर माताओं ने कायर पुत्रों की माता होने की अपेक्षा पुत्रहीन होना अधिक श्रेयस्कर माना है –

देवल दे कहि बाँझ न रष्षिय। क्षत्रिय धर्म कर्म गय भविष्य।

स्वामि साकरै येह न कटिट्‌य। हा करतार कूष नहि फटिट्‌या।[123]

या

पाति साह श्रवनन सुनी, जंपी मात निधान।

मैं ग्रम्मह झुझयो धरयौ, सुंठित षद्‌दीषान।।[124]

स्मृतिकारों ने माता को पारिवारिक एवं सांस्कारिक शिक्षा प्रदान करन वाली परमगुरू मानकर परिवार और समाज में उसकी सर्वोच्चता को दर्शित करने

---

122. **हश्त-बहिश्त** (भूमिका) पृ. 209; **मतलाउल-अनवार**, पृ. 223.

123. **परमाल रासो**, सम्पादक-डॉ. श्यामसुन्दर दास, काशी प्रकाशन, खण्ड–11, छन्द 131.

124. **पृथ्वीराज रासो**, पृ. – 1354, छन्द -46.

का प्रयास किया है, तद्नुसार संतान का प्रथम सम्पर्क अपनी माँ से होता है और वही उसके सर्वाधिक निकट होती है अतः अपनी प्रारम्भिक शिक्षा माँ से ही प्राप्त करता है। अतः माता ही शिशु की प्रथम गुरू मानी जाती है।[125]

अमरी खुसरो के अनुसार यदि माता सौम्य, शान्त एवं ईश्वर से डरने वाली है, तो संतान ये गुण स्वाभाविक रूप से अपनी माँ से ग्रहण कर लेता है।[126] निर्माण और संवृद्धि से माता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है, सन्तान का जन्म, लालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा और भरण-पोषण माता के प्रमुख कर्त्तव्य माने गये हैं।[127] विवेच्युगीन साहित्यकारों द्वारा यह स्वीकार किया गया है, कि प्रसूति में उदरशूल की वेदना तथा शिशु के लालन पालन में होने वाले कष्ट जैसे ऋण का बदला संतान नहीं चुका सकती अतः परिवार तथा समाज में माता का स्थान निस्सन्देह सर्वोच्च है।[128] पूर्व मध्ययुगीन साहित्य में यह निर्देशित किया गया है कि

---

125. **याज्ञवल्क्य स्मृति**, 1.35; **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** – 1.10.28.9; **वशिष्ठ धर्मसूत्र** 13.48; रिजवी, एस.ए.ए., **ए हिस्ट्री ऑफ सूफीज्म इन इंडिया,** दिल्ली 1978, पृ. - 403; अब्दुल हक, **अखबर-उल अखयार** पृ. - 283.

126. **हश्त-बहिश्त** (परिचय, पृ. 209).

127. **किरानुस्सादैन 'अमीर खुसरो, लखनऊ**–1871, पृ. 168; **हश्त बहिश्त** पृ. - 209; **वुमैन इन सेक्रेड लॉज** पृ.- 109.

128. **संस्कार-प्रकाश** पृ. 479; **पाराशरमाधवीय** 2.1.38; **विक्रमांक देवचरित** – x1/11; **तबकाते-नासिरी** अनुवाद, इलियट एण्ड डाउसन, 11, पृ. - 307-308.

क्योंकि माता के अभाव में समाज में सन्तति सम्भव ही नहीं है अतः पुत्री के जन्म को भी परिवार में पुत्र-जन्म की भाँति महत्वपूर्ण माना जाना चाहिये।[129] पूर्वमध्ययुगीन नरेशों द्वारा उत्कीर्ण करवाये गये अभिलेखों में भी पिता की अपेक्षा माता को ही प्रधानता दी गई है, ये शासक अपनी दिवंगत माता के नाम पर दानादि दिया करते थे, तथा उनके सम्मान में अभिलेख उत्कीर्ण करवाते थे।[130] गुर्जर प्रतिहार नरेश माथनदेव अपनी माता को ईश्वर से श्रेष्ठ मानते थे। इसलिये राजोर अभिलेख में महादेव (शिव) के पहले अपनी माता लच्छुका का नाम उत्कीर्ण करवाया था।[131] चौहान वंशी रुद्रपाल और अमृतपाल ने अपनी माता की कीर्ति के लिए दान दिया था जिसका उल्लेख रामपाल के नाडलई शिलालेख (1189 ई.) में प्राप्त होता है।[132] कन्नौज शासक गोविन्दचन्द्र गहड़वाल ने बनारस ताम्रपत्र में अपनी माता राहल्देवी का उल्लेख किया है।[133] कभी-कभी शासक वर्ग अपने मन्त्रियों की माता के सम्मान

---

129. **हश्त-बहिश्त**, पृ. - 26-27; **मतलाउल-अनवार** पृ. - 223, **प्रबोधचन्द्रोदय**, प्रथम, पद – 54.

130. **सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस,** संख्या-52 बी; **एथिग्राफिया इंडिका** जिल्द- 2 पृ.- 359; वही, जिल्द-11, पृ.-35, जिल्द, 27, पृ-154; **आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट** 1923-24, पृ .101, प्लेट-36 बी

131. **सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस**, जिल्द-3 संख्या - 36

132. **सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस,** जिल्द, 3संख्या- 36

133. **एपिग्राफिया इंडिका**, जिल्द-2, पृ.- 359

में भी उनका उल्लेख करते थे। चेदि शासक रत्नदेव तृतीय ने मन्त्री गंगाधर की माता का उल्लेख अत्यन्त सम्मानपूर्वक खरोद अभिलेख में किया है।[134] माता को प्रसन्न रखना पुत्र का कर्त्तव्य था और उसकी प्रसन्नता के लिये वे हर-सम्भव प्रयास करते थे। रानी दिद्दा के श्रीनगर अभिलेख में वर्णन है कि जिस प्रकार कार्त्तिकेय, गणपति, आदित्य तथा कृष्ण ने अपनी माता को आनन्दित किया था उसी प्रकार धर्मांक नामक व्यक्ति ने अनेक जनहित कार्य जैसे कुएं-तालाब का निर्माण करवाकर अपनी माँ को प्रसन्न किया था।[135] यशोवर्मदेव ने अपनी माता मोमल्लादेवी के सम्मान में, अत्येष्ठि क्रिया के अवसर पर दो ग्राम दान दिये थे।[136] पालशासकों के शासनकाल में बौद्ध भिक्षुओं की माता की कीर्ति के लिये धार्मिक दान दिये जाते थे। बिहार में एक बुद्ध मूर्ति मिली है जिस पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि श्री महेन्द्रपाल देव के शासन काल में भागश्री माह में धर्ममित्र भिक्षु की माता गौतमी की धार्मिक कीर्त्ति के लिये धार्मिक दान दिया गया था।[137] माता की आज्ञा पुत्र के लिये अनतिक्रमणीय है। स्वयं को मातृ-दास मानकर पुत्र उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे।[138] चेदिराज ने माता के अनुरोध पर अपने शत्रुओं के परामर्शदाताओं

---

134. **एपिग्राफिया इंडिका**, जिल्द-21, संख्या – 26, पृ. - 160

135. **एपिग्राफिया इंडिका**, जिल्द-27, पृ.-154

136. **इंडियन एन्टीक्वेरी**, जिल्द - 19 पृ.- 348 (यशोवर्मनदेव का ताम्रपत्र)

137. **आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया** , एनुएल रिपोर्ट, 1923-24, पृ.- 101

138. **सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस** संख्या- 52 पृ. 381

के समूह तथा शत्रु-पत्नियों को कैद मुक्त कर दिया था।[139] कभी-कभी पुत्रियाँ भी अपनी माता की कीर्ति के लिए धार्मिक कृत्य किया करती थीं। लोणियवंशी श्री कृष्णादेवी इसका प्रमाण है जिन्होंने अपने माता-पिता की कीर्ति के लिये धार्मिक कार्य किये थे।[140]

पूर्वमध्ययुगीन समाज में पति की माँ को सास की संज्ञा से पुत्र वधुयें सम्बोधित करती थीं। परिवार में उसका स्थान अत्यन्त उच्च था। सास की प्रत्येक आज्ञा को पुत्रवधुओं को अनिवार्य रूप से शिरोधार्य करनी पड़ती थी। पृथ्वीराज रासो में संयोगिता द्वारा पृथ्वीराज के नेत्र-विहीन होने की सूचना अपनी सास को देते समय इस बात पर पश्चाताप किया जाता है कि किसी भी प्रकार उसके द्वारा सास की अवज्ञा तो नहीं हो गई –

कै ज्योति विप्र परहरयो।
कट्यो नन बैन सासु को।।[141]

मनु के अनुसार यदि व्यक्ति बिना संतान के मर जाये तो उसकी सम्पत्ति माता को मिलनी चाहिये।[142] इस विचार से प्रायः सभी धर्मशास्त्रकार सहमत

---

139. **एपिग्राफिया इंडिका** जिल्द - 1 पृ.- 38 पद्य - 22

140. **एपिग्राफिया इंडिका** जिल्द – 27 पृ. - 169 पद्य - 4

141. **पृथ्वीराज रासो**, पृ.- 2015, छन्द 202

142. **मनुस्मृति** 9.217

हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार पुत्रों के जीवित होने पर भी माता को उनके बराबर पैतृक सम्पत्ति का एक भाग मिलना चाहिये।[143] शुक्र का मत है कि माता को पुत्र के भाग का चौथाई भाग मिलना चाहिये। अतः स्पष्ट है कि इस युग में माता के रूप में स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को भी मान्यता प्रदान की गई। तत्युगीन समाज में माता का पद अत्यन्त सम्मानित, महिमामय और आदर्शात्मक रहा है। उसके प्रति सन्तान की स्वाभाविक श्रद्धा और आस्था रही है। और इसी तथ्य पर अवलोकित काल के साहित्यकारों ने भी बल दिया है।

पत्नी के रूप में स्त्री की भूमिका

हिन्दू परिवार में पत्नी का स्थान प्राचीन काल से ही अत्यन्त गरिमायुक्त एवं महत्वपूर्ण रहा है। पत्नी घर की मर्यादा, धर्म, अर्थ और काम की संचालिका मानी जाती थी।[144] परिवार की संरचना में पत्नी का अभूतपूर्व योग माना जाता है। पूर्व मध्यकालीन साहित्य में पत्नी कों पारिवारिक जीवन की धुरी माना गया है –

---

143. **याज्ञवल्क्य स्मृति** 2, 135-36

144. सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** 1/3/14; कल्हण कृत **राजतरंगिणी** 3/391 धनपाल कृत **तिलकमंजरी**, बम्बई – 1903, पृ.- 9

निप्र ब्याह राह च्यं तो सुचित,
घर तरुणी सुगठित निधरा।[145]

पातिव्रत्य धर्म का पालन और पति की सेवा स्त्री का सर्वप्रधान कर्त्तव्य माना गया था। विवेच्ययुगीन शास्त्रकारों ने भी इन्हीं दो कर्त्तव्यों को सर्वाधिक महत्व दिया है।[146] पत्नी का पातिव्रत्य ही इहलोक तथा परलोक दोनों की गति का साधन था।[147] पत्नी पुरुष की जीवन संगिनी होती है, सुख-दुःख की सहचारिणी होती है, पति कैसा भी हो, यदि पत्नी उसकी सेवा करती है तो उसे इह लोग में यश और परलोग में स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तत्युगीन ऐसी मान्यता थी।[148] सती एवं शीलवती स्त्रियाँ लोक प्रशंसा की पात्र होती थीं, विपत्ति में भी पातिव्रत्य का पालन करना कुलीन स्त्रियों के लक्षण माने जाते थे।[149] इसी प्रकार ऐसी पतिव्रता स्त्रियाँ संसार का भूषण मानी जाती थी।[150] समकालीन साहित्य में ऐसी धर्मपरायण पत्नियों की प्रशंसा मिलती

---

145. **पृथ्वीराज रासो** भाग-4, पृ.-767 छन्द 483 साथ ही देखें भवभूति कृत **मालती माधव** टीका-पं शेषराज शर्मा. बनारस – 1954, 6/18.

146. **मिताक्षरा** याज्ञवल्क्य 1.87; शंख, **स्मृतिचन्द्रिका** – 25.1.

147. **कथासरित्सागर** 3/3/98, इहामुत्रच साहवीना पतिरेव गतियेज्ञ; **पृथ्वीराज रासो** खण्ड-4, छन्द - 144

148. **पृथ्वीराज रासो** खण्ड-4 छन्द 144, खण्ड-4, छन्द-146-149.

149. **कथासरित्सागर** खण्ड-1, 1/3/14 'अपद्यपि सत्तीवृत्त कि मुन्चन्ति कुलस्त्रियः; **राजतरंगिणी** 1-318-21.

150. **कथासरित्सागर** भाग–1/6/3/188, भाग-1, 1/4/83.

है तथा साथ ही उनकी तुलना देवियों तक से की जाती थीं।[151] पतिव्रता पत्नी के सम्बन्ध में कहा गया है कि पतिव्रता पत्नियाँ पति भक्ति रूपी रथ पर चढ़कर चरित्र रूपी कवच से सुरक्षित धर्म रूपी सारथी के सहारे बुद्धि रूपी शस्त्र से विजय प्राप्त करती है।[152] कुलीन स्त्रियों ये यह अपेक्षा की जाती थी कि वे दुर्भाग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा प्राणों का त्याग करें तो अधिक श्रेयष्कर हो।[153] पारिवारिक संरचना में सबसे महत्वपूर्ण स्थान पत्नी का ही होता है। वह पति की सहभागिनी होती है तथा पति के प्राण त्यागने पर सर्वस्व समरपित कर देती है –

पूरन सकल विलास राय। सरसु पुत्रफल दान।

अन्त होई सहभागिनी। नेह नारि को मानि।[154]

समकालीन साहित्य के अनुसार पत्नी को अपने पति को देवता के समान पूजा करनी चाहिये यदि पति पत्नी को त्याग दे तो उसका जीवन मृत्यु से भी अधिक संतापदायी है, अतः पत्नियों को पति के पूर्ण निष्ठा रखनी चाहिये।[155] युद्ध

---

151. **राजतरंगिणी** 3/391; **नवसाहसांक चरित** 15/25, **खालिक बारी**, पृ.- 28, पद 11; **कथासरित्सागर** पृ.-42, पद-120

152. **कथासरित्सागर**, भाग–1, 6/3/188

153. **दशकुमार चरित,** उत्तर पीठिका, 6/36

154. **पृथ्वीराज रासो**. पृ.-2012 छन्द 176.

155. **मत्स्य पुराण**, 210-18; **दशकुमार चरित** पृ.- 164, 159 आदि **पृथ्वीराज रासो** खण्ड- 4, छन्द-144 तथा छन्द146-49

क्षेत्र के अतिरिक्त सर्वत्र पत्नी का साहचर्य पति को प्राप्त था।[156] विभिन्न प्रकार के राजकीय उत्सव, त्योहार तथा दान आदि धार्मिक कार्यों में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य थी, शासक राज्याभिषेक के अवसर पर पत्नी के साथ गाँठ जोड़कर राज्याभिषेक सम्पन्न करवाते थे।[157] यद्यपि समकालीन कुछ साक्ष्यों में युद्धक्षेत्र में भी रानियाँ द्वारा पति के साथ जाने का प्रमाण उपलब्ध होता है। काश्मीर की अनेक रानियों ने युद्ध भूमि में युद्धकर अपनी वीरता का परिचय दिया था।[158] पत्नी के विविध कर्त्तव्यों पर विशदत्तापूर्वक विचार करते हुए पूर्वमध्ययुगीन शास्त्रकारों ने कहा है – 'वह पत्नी अत्यन्त गुणसम्पन्ना भी जो गृह से अनकहे बाहर नहीं जाती थी बिना उत्तरीय के नहीं निकलती थी, त्वरित गति से नहीं चलती थी, परपुरुष से अभिभाषण नहीं करती थी, वणिक् वृत्ति की होती थी, गुल्फ तक परिधान धारण करती थीं, पति एवं अन्य बांधवों से द्वेष नहीं करती थीं, गणिका प्रव्रजिता, स्त्री-ज्योतिषियों, मायावी और दुश्शील स्त्रियों से नहीं मिलती थी।[159] इस काल के स्मृतिकारों का मत है कि पत्नी को पूर्णतया पति के प्रति अनुरक्त रहना चाहिये, उसके उपदेशों का पालन करना चाहिये तथा सेवक की भाँति पति की हर प्रकार से सेवा करनी चाहिये।[160] साथ ही पति को भी धर्म के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये और अपनी पत्नी से घृणा या ईर्ष्या नहीं करनी

---

156. **पृथ्वीराज रासो** पृ. 1761, छन्द - 1255.

157. कल्हण कृत **राजतरंगिणी** – VII, 905, 909, VIII-1137-1139

158. **पृथ्वीराज रासो** भाग-3 पृ.-517 छन्द 29, भाग-3 पृ.-562, छन्द -49

159. **मिताक्षरा**, याज्ञवल्क्य 1.87; **स्मृतिचन्द्रिका** , शंख पृ.- 251; **वायु पुराण** 70.67.

160. **मेघातिथि**, टीका-मनुस्मृति 9, 1.

चाहिये। पूर्वमध्यकालीन टीकाकार मेघातिथि के अनुसार पति-पत्नी के केवल शरीर भिन्न हैं, उनके अधिकार समान हैं। दोनों ही कानून के द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं, यदि पति पत्नी पर अत्याचार करे तो वह राजा को प्रार्थना पत्र देकर स्वयं को उसके अत्याचार से मुक्त करा सकती है, और पत्नी यदि पति को दुःखी करे तो पति राजा को प्रार्थना पत्र दे सकता है।[161] पत्नी के भरण-पोषण का पूर्ण उत्तरदायित्व पति पर समझा जाता था चाहे इसके लिये पति को सौ पाप भी करने पड़े।[162] यदि पति विदेश जाये तो जाने से पूर्व उसे पत्नी के भरण-पोषण का पूर्ण प्रबन्ध करना चाहिये।[163] तत्युगीन टीकाकारों के अनुसार यदिं पत्नी पति से घृणा भी कर तो भी पति को उसका भरण-पोषण करना चाहिये, जब पत्नी को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाये केवल उसी दशा में पति उसे छोड़ सकता है।[164] इस दशा में भी उसके अलग घर में रहने और उसके भोजन और उसके वस्त्र की व्यवस्था करना पति का कर्त्तव्य माना जाता था।[165] मेघातिथि का मत है कि पति को पत्नी को डाँट कर ही ठीक मार्ग पर लाने का अधिकार है, यदि इस पर भी वह ठीक न हो तो यदा-कदा उसे

---

161. **मेघातिथि** टीका मनुस्मृति 1, 32 **तथा** 9,1.

162. **विज्ञानेश्वर** टीका, याज्ञवल्क्य 1, 224, 2, 75; **मेघातिथि** टीका-मनुस्मृति, 9.1.

163. **मेघातिथि** 9, 74

164. **मेघातिथि,** टीका, मनुस्मृति–1.70

165. **वही,** 8,29.

पीटना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि पति चाहे तो पत्नी को आर्थिक दण्ड भी दे सकता है।[166] परन्तु पूर्वमध्यकालीन टीकाकारों के अनुसार धर्म, अर्थ और काम के सम्बन्ध में स्त्रियाँ स्वतंत्र नहीं है, अपने पति की अनुमति से ही इन कार्यों के लिये वे धन व्यय कर सकती है।[167]

शुक्रनीति-सार (तेरहवीं शती ई) में पत्नी के कर्त्तव्यों का विवेचन करते हुये यह कहा गया है कि – ''उसे पति से पहले उठना चाहिये, सब बर्तन साफ करने चाहिये, घर की सफाई करनी चाहिये, परिवार के गुरुजनों को अभिवादन करना चाहिए। स्त्रियों को स्वतन्त्र रूप से धर्म, अर्थ और काम के लिये धन व्यय करने का अधिकार नहीं है। पत्नी को मन, वचन, कर्म से पवित्र होना चाहिये। उसे अपने पति की आज्ञा का पालन करना चाहिये। छाया की भाँति उसका अनुसरण करना चाहिये। पति के अच्छे कार्यों में उसका व्यवहार मित्र के समान होना चाहिये। उसके आदेशों का उसे सेवक की भाँति पालन करना चाहिये। घर पर उसकी वाणी मधुर और व्यवहार नम्र होना चाहिये। पति सब कुछ प्रदान करता है इसलिये पत्नी को उसकी पूजा करनी चाहिये, पत्नी को संगीत और नम्र व्यवहार से अपने पति को मोहित करने का प्रयास करना चाहिये।[168] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल में पति का पत्नी पर पूर्ण अधिकार माना जाता था।

---

166. **वही,** 9, 84

167. **मेघातिथि**, टीका मनुस्मृति, 9.2.

168. **शुक्रनीतिसार,** अनुवाद-बी.के. सरकार, इलाहाबाद– 1914, 11-65.

ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी के टीकाकारों का मत है कि पति को पत्नी को उसके कार्यों में इतना व्यस्त रखना चाहिये कि उसे दूसरे पुरुषों के विषय में सोचने का अवसर ही न मिले। पति और अन्य सम्बन्धियों को पत्नी को वस्त्र, आभूषण और उत्तम भोजन देकर उसका आदर करना चाहिये। विदेश जाने से पूर्व पति को पत्नी के भरण-पोषण का प्रबन्ध करना चाहिये साथ ही परित्यकता पत्नी के रहने और भोजन का प्रबन्ध भी पति को करना चाहिये।[169] यदि पति पतिव्रता स्त्री को अकारण ही छोड़ दे तो राजा को उसे दण्ड देना चाहिये।[170]

इस काल के टीकाकारों का मत है कि यदि पति की मृत्यु बिना पुत्र के ही हो जाये, तो पत्नी पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी हो सकती है।[171] यदि पत्नी भी जीवित न हो तो पुत्री भी पिता की सम्पत्ति की स्वामिनी हो सकती थी।[172]

---

169. देववण्णभट्ट कृत **स्मृतिचन्द्रिका** सम्पा. श्रीनिवासचार्य, 568-70.

170. **स्मृतिचन्द्रिका** – 574-76

171. **विज्ञानेश्वर और अपरार्क टीका**, याज्ञवल्क्य स्मृति-2, 135-136; **स्मृति चन्द्रिका** 3, 673-675, व्यवहार काण्ड – 748-49

172. **विज्ञानेश्वर, अपरार्क टीका** -2, 135-136; **स्मृतिचन्द्रिका** 3, 682-85; **व्यवहार काण्ड** 683-95

विधवा स्त्री की स्थिति

हिन्दू समाज में पति की मृत्यु के बाद स्त्री के लिये दो प्रमुख कर्त्तव्य निर्देशित थे।[173] जिसमें से किसी एक का अनुसरण करना विधवा के लिए वांछनीय था, एक पति के साथ सहमरण या अनुमरण करना (सती होना) और दूसरा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शेष जीवन व्यतीत करना।[174] पूर्वमध्यकालीन हिन्दू समाज में विधवा के लिये शुद्ध और पवित्र जीवन जीने के लिए अनेक नियम बनाये गये, जिनका अनुपालन करना प्रत्येक विधवा स्त्री के लिये आवश्यक बताया गया था। तत्युगीन ग्रन्थकारों का मत है कि, 'स्त्री जिह्वा, हस्त, पाद, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर, स्वचारवती होकर, दिन-रात पति का अनुशोचन करती हुई शान्त रहकर, जीवन के अन्त में पतिलोक का विजय करती है, और पुनः पति वियोग को प्राप्त नहीं होती।[175] अल्बेरूनी के अनुसार यदि मृत्यु के कारण किसी का पति न रहे तो वह दूसरे पुरुष से विवाह नहीं कर सकती, उसे केवल दो विकल्प में से एक को चुनना पड़ता है, या तो वह यावज्जीवन विधवा

---

173. **दक्ष स्मृति** 4/18-19

174. एल. डी. बार्नेट, **एन्टीक्विटीज ऑफ इंडिया** कलकत्ता – 1964, पृ.-147-148,
बी. एन. शर्मा, **सोशल लाइफ इन नार्दन इंडिया** दिल्ली – 1966, पृ. - 18-19

175. लक्ष्मीधर कृत **कृत्यकल्पतरू**, (हारीत का उद्धरण) व्यवहार काण्ड पृ. - 634,
11 खण्ड बड़ोदा, 1941-53

रहे या स्वयं को प्रज्ञवलित अग्नि में भस्म कर दें।[176] सामान्यतया आलोच्यकालीन समाज में विधवा की स्थिति अत्यन्त दयनीय नियन्त्रित और दुःखद थी।[177] अल्बेरूनी ने समकालीन समाज में उसकी स्थिति पर टिप्पणी करते लिखा है, "कि विधवा के रूप में जीवित रहने पर उसके साथ सम्पूर्ण जीवन दुर्व्यवहार किया जाता है।"[178] तत्युगीन धर्मशास्त्रकारों ने विधवा स्त्री के लिए अनेक कठोर नियम बनाये और यह व्यवस्था दी कि विधवा को बाल संवारना छोड़ देना चाहिए, पान सुगन्धित वस्तुओं, फूल, आभूषणों और रंगीन वस्त्रों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए, अंजन नहीं लगाना चाहिए, इन्द्रियों का दमन करना चाहिए, सदा हरि की पूजा करनी चाहिए और रात्रि को कुशा की चटाई पर सोना चाहिये, राजा को विधवा की सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए। यदि विधवा संयम का जीवन न बिताये तो राजा उसे पति के मकान से निकाल सकता था।[179] मंगल उत्सवों पर उसे उपस्थित होने का अधिकार नहीं था। उपनयन, विवाह इत्यादि शुभ अवसरों पर केवल सुहागिन

---

176. **अल्बेरूनी का भारत,** 2 भाग-3 परिच्छेद-69, पृ.- 199

177. **दी रेहला ऑफ इब्नबतूता** अनुवाद, डॉ. महंदी हुसैन, बड़ोदा-1953; शकुन्तला राव शास्त्री, **वुमैन इन सेक्रेड लॉज** पृ. 123; **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान,** पृ.-189; ए. राशिद, **सोसायटी एण्ड कल्चर इन मेडीवल इंडिया,** कलकत्ता – 1969, पृ.- 144.

178. **अल्बेरूनी का इंडिया,** भाग-3 अनुच्छेद - 69, पृ.- 155.

179. **वृद्ध हारीत,** 11.205.10.

स्त्रियाँ ही वधू का प्रसाधन कर सकती थीं, विधवा स्त्रियों का वहाँ जाना तक निषिद्ध कर दिया गया था।[180] अल्बेरूनी के अनुसार जहाँ तक राजाओं की पत्नियों का सम्बन्ध है उन्हें, चाहें वे चाहें या न चाहें, जलकर मर ही जाना पड़ता है और इस प्रकार यह प्रबन्ध किया जाता है कि वे कुछ ऐसा न कर बैठें जो उनके स्वर्गीय महान् पति की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल हो। इस संबंध में उन्हीं विधवाओं को छोड़ा जाता है जिनकी उम्र बहुत अधिक हो गयी होती है और उन्हें जिनके बच्चे होते हैं, क्योंकि पुत्र अपनी माँ का उत्तरदायी संरक्षक माना जाता है।[181]

भारतीय समाज में नियोग की प्रथा वैदिक कालीन है।[182] परन्तु कालान्तर में धर्मशास्त्रों में नियोग व्यवस्था को पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य के आवरण में एक और विहित मानकर भी उसका प्रशस्त समर्थन नहीं किया गया, तथा समाज-सुधारकों ने समाज की नैतिकता और पवित्रता बनाये रखने के उद्देश्य से इस प्रथा का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। आपस्तम्ब, बौधायन और मनु जैसे विचारकों ने इस प्रथा की निरर्थकता सिद्ध की है।[183] लगभग 600 ई. के बाद यह प्रथा

---

180. **वृद्ध हारीत**, 9.205-210; **पाराशर स्मृति** 4.31; **अशरफ** पृ.- 189;

सोसायटी एण्ड कल्चर पृ.- 144; **हर्षचरित** चतुर्थ उच्छवास, पृ. – 240.

181. **अल्बेरूनी इंडिया,** भाग-2 सचाऊ, पृ.- 155.

182. **ऋग्वेद** 10.4.2; **अर्थवेद** 9.5.27-28; **गौतमधर्मसूत्र** 18.4.14; **मनु**-9.59.

183. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** 2.6.13.8; **बोधायन धर्मसूत्र** 2.2.3-4; **मनु**- 9.64-68.

समाज से लुप्त प्राय हो चुकी थी।[184] पूर्वमध्यकालीन साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि नियोग नामक प्राचीन प्रथा का विवेच्य समाज में कोई प्रचलन नहीं था। पूर्वमध्यकालीन धर्मशास्त्रकार इस प्रथा के विरोधी थे और उन्होंने नियोग प्रथा को पशुधर्म कहा है।[185] चूँकि इस काल में विधवा स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त नहीं था, इसलिए नियोग प्रथा को भी हीन दृष्टि से देखा जाने लगा।[186] प्राचीन काल में नियोग-प्रथा के प्रचलित होने के कारण स्पष्ट नहीं हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार एक ही सत्य स्पष्ट है, कि वैदिक काल से ही पुत्रोत्पत्ति पर बहुत अधिक बल दिया जाने लगा।[187] ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्रोत्पत्ति तत्कालीन समाज की महती आवश्यकता थी इसलिए इस प्रथा को भी मान्यता प्राप्त थी, शनैः शनैः इस प्रथा का लोप होने लगा और पूर्वमध्यकाल तक आते-आते इस प्रथा का अस्तित्व समाप्त प्राय हो चुका था।[188]

वैदिक काल के साहित्य से ज्ञात होता है कि स्त्री का पुनर्विवाह तत्कालीन समाज में प्रचिलत था, पति की मृत्यु हो जाने पर विधवा स्त्री को

---

184. **अल्तेकर** पृ.-148; **अल्बेरूनीज इंडिया** (सचाऊ) भाग-1, पृ.-107-108

185. **मेघातिथि** 4/176 मनुस्मृति पर टीका, कलकत्ता 1932;

कृत्यकल्पतरू, व्यवहार काण्ड पृ.- 643.

186. **याज्ञवल्क्य** स्मृति पर **अपरार्क टीका** 1/87,

आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना – 1903-41.

187. डॉ. काणे, **धर्मशास्त्र का इतिहास**, भाग-1, पृ.- 341.

188. **अल्तेकर**, पृ. -148; **अल्बेरूनीज इंडिया** (सचाऊ) भाग-1 पृ. 107-108.

दूसरा विवाह करने का अधिकार था।[189] दसवीं शती से समाज में विधवा-विवाह प्रथा का विलोप होने लगा यहाँ तक कि बाल-विधवा के पुनर्विवाह का भी विरोध किया जाने लगा तथा उन्हें भी आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने की शपथ लेनी पड़ती थी।[190] इसका कारण था मनुष्य के जीवन में त्याग और आदर्श को बहुत अधिक महत्व दिया जाने लगा, और यह समझा जाता था कि जब बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ उच्च आदर्शों का पालन करने में समर्थ हैं तो विधवा स्त्री उन आदर्शों का पालन क्यों नहीं कर सकती?[191] अल्बेरूनी जब भारत आया उस समय तक विधवा स्त्री के सती होने की प्रथा अत्यन्त प्रचलित हो चुकी थी, तथा विधवा स्त्री का पुनर्विवाह पूर्णतः वर्जित हो चुका था, उसने लिखा है कि विधवा स्त्री पुनः किसी दूसरे पुरुष से विवाह नहीं कर सकती।[192] लगभग ग्यारहवीं शती तक हिन्दू समाज में विधवा स्त्री के पुनर्विवाह की प्रथा का लोप, उच्च श्रेणी के लोगों में पूर्णतया हो गया, परन्तु निम्न श्रेणी में अधिकांश स्त्रियों के पुनर्विवाह हुआ करते थे।[193]

---

189. **ऋग्वेद** 10.40.2; **अर्थवेद** 9.5.26-27; **तैत्तिरीय संहिता** – 3.2.4.4.

190. देववण्णभट्ट कृत **स्मृतिचन्द्रिका**, सम्पा. श्रीनिवासाचार्य, मैसूर 1914-21 (देवण्णभट्ट ने लिखा) 1150 ई.। कि कलियुग में विधवा विवाह वैध नहीं है। (**वुमैन पोजीशन इन हिन्दू सिविलाइजेशन**, पृ.- 157.

191. **अल्केतर,** पृ. - 157.

192. **अल्बेरूनी का भारत**, भाग-3, अनुच्छेद-69, पृ.- 199.

193. **अल्केतर** , पृ.-156

हिन्दू समाज में विधवा का सम्पत्ति विषयक अधिकार स्वीकार किया गया है, यद्यपि वैदिक साक्ष्य इसके विरुद्ध है। संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को स्वीकार नहीं किया गया है।[194] परवर्ती काल में विधवा के सम्पत्ति अधिकार को समाज में स्वीकृति मिली, पूर्वमध्ययुगीन शास्त्रकारों ने विधवा के आर्थिक जीवन को सुगम बनाने के विचार से उसके सम्पत्ति विषयक अधिकार को स्वीकार किया।[195] पूर्वमध्ययुग में नारी के साम्पत्तिक अधिकारों की विवेचना करने वाले दो प्रमुख ग्रंथ दायभाग और मिताक्षरा के अनुसार मृत व्यक्ति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा स्त्री प्राप्त करती रही है।[196]

यद्यपि उपर्युक्त मतों के विपरीत इस युग में भी कुछ ऐसे धर्मशास्त्रकार हुए जिन्होंने मृत पति की सम्पत्ति में विधवा के भाग को स्वीकार

---

194. **तैत्तिरीय संहिता**, 6.5.4.2; **शतपथ ब्राह्मण** 4. 4.2.13.

195. बृहस्पति उद्धत **दायभाग खण्ड** 11; वृद्ध मनु उद्धत **मिताक्षरा**, याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य 2.135-36; प्रजापति उद्धत **पाराशरमाधव** जिल्द 3, पृ. 536; **व्यास-अपरार्क**, पृ.- 752 (तदनुसार विधवा को स्त्रीधन के अतिरिक्त 2000 से 3000 पण तक की सम्पत्ति मिलनी चाहिए।

196. **दायभाग** खण्ड 13, **मिताक्षरा,** याज्ञवल्क्य 2.136;

अपुत्रा शयनं भूः पालयन्ती पतिव्रता।

पत्नेयव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमश हरेत च।।

नहीं किया।[197] नारद ने उत्तराधिकारी के अभाव में मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति पर राज्य के अधिकार को ही स्वीकार किया तथा विधवा को केवल भरण-पोषण के लिए राज्य द्वारा धन प्रदान करने का निर्देश दिया है।[198] किन्तु सुधारवादी स्मृतिकारों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि परिवार की सम्पत्ति के पति और पत्नी दोनों स्वाभाविक संयुक्त स्वामी है, अतः तार्किक आधार पर विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति अवश्य मिलनी चाहिए।[199] तत्युगीन एक अन्य धर्मशास्त्रकार बृहस्पति ने विधवा स्त्री को उत्तराधिकारी बनाने का प्रबल समर्थन करते हुए तर्क प्रस्तुत किये हैं कि वेद में, स्मृतियों में, लोकाचार में पत्नी विद्वानों द्वारा पति का आधा शरीर स्वीकार की गयी है और पुण्य, पाप के फल वह पति के साथ तुल्य रूप से ग्रहण करती है। जिस पुरुष की पत्नी मृत नहीं, उसकी देह का आधा भाग जीवित है, उसके जीवित रहते कोई दूसरा (उसके पति के धन को) कैसे प्राप्त कर सकता है? उनके मतानुसार, सकुल्य, पिता, माता, सहोदर भाई आदि के रहते हुए भी अपुत्र मृत पुरुष की सम्पत्ति उसकी पत्नी को मिलती है, यही सदा से चला आने वाला नियम

---

197. **नारद स्मृति** 13, 52; **कात्यायन** उद्धृत विज्ञानेश्वर टीका
याज्ञवल्क्य स्मृति – 2. 136

198. **नारद,** 13.52

199. **बृहस्पति उद्धृत दायभाग** भाग x 1 ; **वृद्ध मनु उद्धृत मिताक्षरा,** याज्ञवल्क्य स्मृति 2.135-36; **प्रजापति उद्धृत पाराशरमाधव,** जिल्द- 3, पृ.- 536.

है। यदि सपिण्ड (पितृकुल के सम्बन्धी) बन्धु या शत्रु इस सम्पत्ति को हानि पहुँचाये तो राजा उन्हें चोरों सा दण्ड दे।[200] इसी प्रकार प्रजापति ने भी पति की सम्पत्ति में विधवा के उत्तराधिकार को स्वीकार किया।[201]

पूर्वमध्यकाल में विधवाओं के साम्पत्तिक अधिकारों में और अधिक वृद्धि हुई और निःसन्तान, मृत, और विभक्त परिवार के पुरुष के सम्पूर्ण धन को एक पतिव्रता स्त्री को प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया।[202]

अतः स्पष्ट है कि इस युग में विधवा को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी स्वीकार किया गया। परन्तु विधवा स्त्री को पति की कितनी सम्पत्ति लेने का अधिकार है तथा वह उस सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग में कितना अधिकार रखती है, इस सम्बन्ध में पूर्वमध्ययुगीन व्यवस्थाकारों में मतभेद है। जीमूतवाहन एवं

---

200. **दायभाग** खण्ड - x 1

आम्नाये स्मृतितन्त्रे च पूर्वाचार्येश्च सुरिभिः।
शरीरार्ध स्मृता भार्या पुण्या पुण्यफले समा।।

201. **पाराशरमाधव** में उद्धृत, खण्ड – 11 पृ.- 536

202. **विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य** 2/135-136 पर टीका -

तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विवक्तास्या संसृष्टिनो धन।
परिणीता स्त्री सकलमेव गृहणतिति स्थितम्।।

विज्ञानेश्वर ने पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामी विधवा स्त्री को माना है।[203] कतिपय विद्वानों के अनुसार विधवा स्त्री को स्त्री धन के अतिरिक्त 2000 से 3000 पण तक की सम्पत्ति मिलनी चाहिए।[204] विवेच्य युग के साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इस युग में विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति के भोग का अधिकार तो प्रदान किया गया, किन्तु अपनी इच्छा से पति की सम्पत्ति को बेचने या गिरवी रखने या दान देने का कोई अधिकार नहीं दिया गया।[205]

---

203. **मिताक्षरा,** याज्ञवल्क्य 11, 136.

204. **व्यास, अपरार्क,** पृ.- 752

205. **स्मृति चन्द्रिका** पृ.-667

तृतीय अध्याय

स्त्रियों की वेशभूषा, आभूषण तथा प्रसाधन

नारी की श्रृंगारिक अभिरुचि, वेश-भूषा एवं आभूषणों की विविधता का जो चित्रण किसी भी युग के साहित्य और कला में उपलब्ध होता है, उसमें प्रत्येक वर्ग की नारी की सामाजिक स्थिति की रूपरेखा निश्चित हो जाती है। प्राचीन काल से ही भारत में ऋतु के अनुरूप वस्त्र धारण करने की प्रथा रही है।[1] यहाँ पर शीत, उष्ण और शीतोष्ण प्रदेश होने के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों में अत्यन्त प्राचीन काल से ही भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता रहा है। प्रायः उत्तर भारत में ग्रीष्म काल में स्त्रियाँ दुकूल की बनी हल्की साड़ी पहनती थीं तथा बसंत ऋतु में केसरिया साड़ी तथा केसरिया और लाल कंचुक वस्त्र धारण करती थी।[2] ये ऐसे परिधान थे, जिनके धारण करने से मन और शरीर दोनों को शीतलता मिलती थी, तथा शोभा और अभिरामता की भी वृद्धि होती थी। तत्युगीन साहित्य में भी भारतीय ऋतुओं के अनुरूप वस्त्र धारण करने का निर्देश दिया गया है कि बसंत ऋतु में रेशम, सूती बारीक

---

1. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा - **मध्यकालीन भारतीय संस्कृति** प्र. स. 1945, पृ.-42; डॉ. मोतीचन्द्र कृत **प्राचीन वेश-भूषा** भारती भण्डार, प्रयाग-पृ.-15; एस. बी.गुप्ता **कास्ट्यूम टेक्सटाइल्स, कॉस्मेटिक्स एण्ड कॉफयर इन इन्शियेन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया,** पृ.- 147.
2. कालिदास कृत **ऋतुसंहार,** निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1922, 1/4 **मालविकाग्निमित्रम्** बम्बई संस्कृत सीरीज 1889-512.

आकर्षक वस्त्र ऋतु में रंगीन लाल-गुलाबी या अन्य गाढ़े रंग के वस्त्र तथा शरद ऋतु में ऊनी वस्त्र धारण करने चाहिये।[3] दसवीं शती के अरब यात्री सुलेमान ने रूहमी राज्य (बंगाल का पाल राज्य) के सम्बन्ध में लिखा है कि यहाँ निर्मित बढ़िया मलमल वस्त्र को मुद्रिका से निकाला जा सकता था।[4] कुछ वस्त्र तो इतने बारीक होते थे जिनका अनुमान सिर्फ स्पर्श से ही लगाया जा सकता था, देखकर नहीं।[5] स्त्रियाँ अधिकांशतः रंग बिरंगे व कढ़े हुए वस्त्र पहनती थीं।[6] उच्च वर्ग की स्त्रियाँ प्रायः रंगीन छपे हुए वस्त्र पहनती थीं।[7]

अमरकोष में बल्क, फाल, कौशेय तथा रांकव नामक वस्त्रों के चार प्रकार स्पष्ट किये गये हैं।[8] तुरीय, तन्तु, वेम और शलाका द्वारा अनेक प्रकार के वस्त्र

---

3. **मानसोल्लास,** 10/34-39, सोमेश्वर टीका, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, 1939. **कर्पूर मंजरी** , 1/13-14, राजशेखर निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1949
4. इलियट एवं आउसन, **हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स**, लन्दन 1966-77, जिल्द-1; पृ. 5
5. बाणभट्ट-**हर्षचरित**, चतुर्थ उच्छवास।
6. **हर्ष चरित** तृतीय उच्छवास बहुविध कुसुम शकुनिशत शोभिता। **रघुवंश**–17.25.
7. **प्रबोध चन्द्रोदय**, श्री कृष्ण मिश्र टीका, पं. रामचन्द्र मिश्रा, चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी 1955, 4 विद्यालंकार अत्रिदेव **प्राचीन भारत के प्रसाधन,** भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी 1958, पृ.- 213.
8. अमर सिंह, **अमरकोष**, टीका सहित, ओरिएण्टल बुक एजेंसी पूना, 2/6/11.

बुने जाते थे।[9] साथ ही कौशेय उर्ण और कार्पास का भी उल्लेख मिलता है।[10] अधोवस्त्र, प्रवास, वासस, सौम, अत्सी, प्रत्रोर्ण, चीनांशु आदि विभिन्न प्रकार के वस्त्र तत्कालीन समाज में प्रचलित थे।[11] कश्मीर में पटुए से निर्मित वस्त्र प्रचलित थे।[12] पूर्वमध्यकालीन साहित्य में अंशुक वस्त्र का अनेक बार उल्लेख किया गया है, यह वस्त्र अत्यन्त झीना और स्वच्छ होता था।[13] इनके अतिरिक्त हमें अंशुक के एक विशिष्ट प्रकार के मुक्तांशुक वस्त्र का भी वर्णन मिलता है, ''मुक्तमुक्तांशु रत्नकुसुमकनप पत्राभरणाण।''[14] मुक्तांशुक

---

9. हेमचन्द्र कृत **शब्दानुशासन** प्रोयतेउस्यामिति प्रवाणीतन्तु वायशलाका सानिर्गमतास्मादिति निष्प्रवाणिः पटः।

10. **शब्दानुशासन** 6.2.39, कौशेयम 6.2.37.

11. **अरमकोष** 2.90; **शब्दानुशासन** 3.4.41, 7.1.34, 6.4.185, 5.3.125, **कूट्टनीमत्तम्** श्लोक-66

12. कल्हण **राजतरंगिणी** 7.300.

13. डॉ. मोतीचन्द्र, **प्राचीन भारतीय वेशभूषा**, भारतीय भण्डार प्रयाग सं. 2007, पृ.-245; आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी **प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद,** बम्बई 1952 पृ. 56; **हर्ष चरित,** तृतीय उच्छवास ''सूक्ष्म विमलेन अंसुकेनच्छित्र शरीर'' धनपाल, **तिलकमंजरी**, काव्यमाला-85 निणण सागर प्रेस, पृ. 12, 417, 303.

14. **हर्षचरित** वाणभट्ट पृ. - 244; **तिलकमंजरी** पृ. 207

असली मोती को पोहकर बनाया जाता था।[15] इसी प्रकार दुकूल वस्त्र के भी अनेक उल्लेख तत्कालीन साहित्य में उपलब्ध है। दुकूल पुण्ड्रदेश अर्थात बंगाल से बनकर आता था तथा इसके बड़े थान में से टुकड़े काटकर धोती या अन्य वस्त्र बनाये जाते थे।[16] बंगाल में निर्मित दुकूल वस्त्र सफेद और मुलायम होते थे, पौण्ड्र देश में निर्मित दुकूल नीले और चिकने होते थे तथा सुवर्णकुड्या में बने दुकूल ललाई लिये होते थे।[17] साहित्यिक उद्धरणों में हंसचित्रित दुकूल का उल्लेख है।[18] साहित्य के अवलोकन से

---

15. अग्रवाल वासुदेव शरण, **हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन,** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 1964, पृ.-200; विद्यालंकार अत्रिदेव **प्राचीन भारत के प्रसाधन**, पृ.- 108

16. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, **प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद**, पृ.- 78; **हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन** पृ.- 78; मिश्र जयशंकर, **ग्यारहवीं सदी का भारत तिलकमंजरी** – 24, 34, 54, 198, 203, 219, 243, 255, 397.

17. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, 2/11; अग्रवाल वासुदेव शरण, **हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन**, पृ.- 78.

18. कालिदास, **रघुवंश** 17/25 बाणभट्ट, **कादम्बरी** स. मोहनदेव पंत, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1971, पृ. 17; मधुसेन- **अ कल्चरल स्टडी ऑफ निशीथ चुरनी,** वाराणसी 1975, पृ. 146-160.

स्त्रियों के तीन प्रकार के वस्त्र परिलक्षित होते हैं - साड़ी, अंगिया (कंचुकी) और लहंगा।[19]

साड़ी

अवलोकित काल में सारी या साड़ी स्त्रियों में प्रचलित परिधान था, जिसका पूर्व रूप अधोशुक नाम का नीचे की ओर पहना जाने वाला निबन्धनीय वस्त्र था।[20] जातकों में साड़ी के लिये सट्ट व साट्टक संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[21] समकालीन साहित्य में सुरंग पटोरी का उल्लेख मिलता है।[22] 'पटोरी' एक प्रकार का रेशमी साड़ी का नाम है, सामान्यतया इसे पटोर वस्त्र से निर्मित साड़ी माना जा सकता है। अन्यत्र विरोदक साड़ी का भी हमें उल्लेख मिलता है।[23]

पूर्व मध्ययुगीन समाज में स्त्रियों द्वारा विभिन्न रंगों की साड़ियाँ

---

19. जयानक-**पृथ्वीराज विजय** सं. जी. एच. ओझा एवं चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अजमेर 1941, पृ. 112; रिजले एच. एच., **द पीपुल ऑफ इण्डिया,** द्वितीय संस्करण, बम्बई, 1915, अंगिया का उल्लेख **मीरा सिंधु** में मिलता है (मीरा प्रकाशन समिति, भीलवाड़ा द्वारा प्रकाशित) पद 26, पृ. 903 एवं पद 192 पृ. 641.
20. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, **प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद** पृ. - 97
21. डॉ. मोतीचन्द्र, **प्राचीन भारतीय वेशभूषा,** पृ.- 125
22. **चन्दायन,** दाउद कृत, पृ.- 91/3
23. **चन्दायन** , पृ. 163

पहनी जाती थीं, जैसे-लाल, श्वेत, नीली, पीली एवं काली।[24] ~~प्रतीत होता~~ है, इसके प्रयोग का उल्लेख हमें समकालीन अन्य वस्त्रों के वर्णन में भी उपलब्ध होता है।[25] कतिपय ग्रन्थों में साड़ी का विवरण प्राप्त होता है - 'वैसा परिधान जिसका एक छोर कमर में लपेटा जाता है तथा दूसरा छोर सिर में रखा जाता है।[26] अनेक अवसरों पर स्त्रियाँ अपनी साड़ी के साथ कोछा अथवा कछनी भी पहनती थीं।[27]

---

24. 'कुसुम्भी साड़ी' (लाल साड़ी) हेतु **मीरा माधुरी**, सम्पा. ब्रजरत्नदास, वाराणसी, पद 61; 'कुसम्भी रेनी सार' (लाल रंग की साड़ी), **पृथ्वीराज रासो,** भाग-1 समय-14 (इच्छिनी विवाह) दोहा-83, पृ. 317, तृतीय संस्करण, दोहा-38, पृ.-18; श्यामवर्णा साड़ी हेतु **'नरसई महतेना पद'** सम्पा. केशव राय शास्त्री, पद-16, दोहा-4, पृ.-11; नीलनि चोलम् (नीली साड़ी) हेतु **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 समय-58, छन्द 176, साथ ही देखे जयदेव कृत **गीतगोविन्द**, विजयचन्द्र मजूमदार द्वारा सम्पादित, कलकत्ता 1925, पृ.- 88

25. अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक** पृ.- 176, दोहा 143; **राउल-वेल,** पृ.-102 दोहा 41; **चंदायन** 91/3, 90/1, 448/1; **खालिक बारी** पृ.-30 दोहा-18

26. **मेमॉयर्स ऑफ बाबर** , भाग - 3, ल्युजाक एण्ड क. लन्दन द्वारा प्रकाशित 1971, पृ.-519

27. कोछा अथवा कछनी के उल्लेख समकालीन साहित्य में प्राप्य है - **मृगावती** सम्पा. डॉ. शिवगोपाल मिश्र पृ.- 149; कछनी हेतु, **मीराबाई की पदावली** सम्पा. परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग - 1884 पद-8, पृ.- 103 डॉ. मोतीचन्द्र कृत **प्राचीन वेशभूषा**, पृ. - 169

मलमल या रेशम की उत्तम प्रकार की साड़ियाँ सम्पन्न वर्ग की स्त्रियों में अत्यधिक लोकप्रिय थीं।[28] दसवीं शती में भारत में विभिन्न प्रदेशों में पहनी जाने वाली साड़ी के विभिन्न रूपों का वर्णन तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थों में मिलता है - उदाहरण के लिए बंगाल के लिये सर्वमान्य विधि थी–

सीमन्तचुम्बिसिंचयः स्फुटबाहू मूलः (वेषः)[29]

.... बंगाल के लिये

आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलि तोत्तरीयं वेषं नमस्यत महोदयसुनदरीणाम्[30]

.... उत्तर प्रदेश के लिये

कक्षनिवेषनिबिडीकृत नीविरषे वेशश्चिरं जयति केरलकामिनाम्[31]

मालाबार की स्त्रियों के लिये।

---

28. पातल चीर (पतली साड़ी) **विद्यापति की पदावली** पद 164, पृ.- 270 साथ ही देखे जायसी का **पद्मावत,** साहित्य सदन चिरगांव, 1961, सर्ग 27, दोहा-329/39, पृ.-395, झिलमिल साड़ी का उल्लेख, डॉ. मोती चन्द्र कृत **प्राचीन वेशभूषा,**, पृ. 183

29. राजशेखर कृत **काव्यमीमांसा,** दलाल डी. सी. एडिशन निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1949, पृ.8 एवं 9.

30. **उपरोक्त**

31. राजशेखर कृत **काव्यमीमांसा** , पृ.-8 एवं 9

साड़ी के साथ यदा कदा एक डोरी का भी प्रयोग करती थीं जिसे निबिन्ध,[32] कहा जाता था। इस डोरी को संजाने एवं सुमधुर ध्वनि हेतु कभी-कभी छुद्र घंटियों का भी प्रयोग किया जाता था।[33]

प्राचीन काल से ही वक्ष पर धारण करने वाले विभिन्न परिधानों में अंगिया अथवा कंचुक का विवरण मिलता है। अंगिया को कंचुकी[34] या चोली[35] भी कहा जाता था। स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त इस परिधान हेतु साहित्य में चोल या कूर्पासक

---

32. **विद्यापति की पदावली**, पद - 76 दोहा-8, पृ.-124 पद 84, दोहा 2 पृ.-134
33. नारायणदास कृत **छिताई वार्ता** सम्पादक डा. माता प्रसाद गुप्त, वाराणसी, चौपाई-580, पृ.- 101
34. डॉ. दशरथ शर्मा द्वारा सम्पादित **'रास और रासान्वयी काव्य'** में निहित 'स्थूलिभद्र फाग' में कंचुकी का उल्लेख, सर्ग-3 दोहा-13 पृ.-141; **बीसलदेव रासो** छन्द 72 पृ.-118 तथा छन्द 123 पृ.-162; पीत कंचुकी **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 समय-14, दोहा 83 पृ.-327; **छिताई वार्ता** दोहा 144-45 एवं 192 पृ.-14, 19, 21 मंझन कृत **मधुमालती** मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद-1961, दोहा-206 तथा 451, पृ.-174, 396.
35. चुली का उल्लेख-ज्योतिरीश्वर कृत **वर्णरत्नाकर**, द्वितीय कल्लोल पृ.-4; पंचरंग चोली-हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत **कबीर पद**-224; कुसुम्भी चोली **पदमावत** दोहा 337/7 पृ.-407.

शब्द का भी प्रयोग उपलब्ध होता है।[36] इसके सामान्यतः दो प्रकार के नमूने होते थे, एक तो वक्ष-स्थल मात्र को ढ़कती थी और दूसरी कमर तक लम्बी होती थी। दूसरी प्रकार की अंगिया (जो कमर तक लम्बी होती थी) अमीर-गरीब दोनों वर्गों में पर्याप्त प्रचलित थी।[37] भारतीय स्त्रियों के पहनावे पर अल्बेरुनी का कथन है कि कुर्त्तकों (बाहों वाली छोटी कमीजें, जो कंधों से शरीर के मध्य तक होती है जो स्त्रियों के वस्त्र हैं) की काट दायें और बायें दोनों ओर होती हैं।[38] तत्युगीन ग्रन्थों के अनुसार स्त्रियाँ अपने शरीर के ऊपरी भाग को सदैव वस्त्रों से ढ़कें रखती थी।[39] देशीनाममाला में ऊपरी भाग को ढकने वाले दो प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है – 'स्तनयोरुपरि वस्त्रग्रंथिः' और 'कंचुक'।[40] कतिपय ग्रन्थों में कंचुक को चोली के अर्थ में प्रयुक्त किया

---

36. अमर सिंह, **अमरकोष की टीका सहित**, मनुष्य वर्ग 119; 2/6/118, "चोल कूर्पासकौ स्त्रियाः"

37. विद्यालंकार अत्रिदेव-**प्राचीन भारत के प्रसाधन**, वाराणसी, 1958 पृ.-153; डॉ. मोती चन्द्र- **प्राचीन भारतीय वेषभूषा** पृ.-172

38. **ग्यारहवीं सदी का भारत**, पृ.-242 जयशंकर मिश्र, वाराणसी-1968.

39. सोमेश्वर कृत **मानसोल्लास** 2.101; हेमचन्द्र कृत **देशीनाममाला** 2.93, भंडारकर ओरिएण्टल रिस्रच इन्स्टीट्यूट पूना-1938.

40. **देशीनाममाला** 2.93.

गया है।[41] कंचुक को 'बारबाण' भी कहा जाता था।[42] कंचुकी जिसका प्रयोग राजपूत महिलायें करती थी, सामने की ओर खुली होती थी।[43]

फुंदिया, कसनिया, हटांगी, चोली इत्यादि अत्यन्त प्राचीन काल से ही स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाले प्रचलित परिधान हैं, जिनका उल्लेख समकालीन साहित्य में यत्र-तत्र मिलता है। फुंदिया और कसनिया, चोली (पंतागी)[44] के ऐसे रूप प्रतीत होते हैं जो आगे अथवा पीछे से खुले होते थे तथा उन्हें किसी डोरी की सहायता से बाँधा जाता था। फुँदिया की डोर में कदाचित फुँदना लगा होता था और इससे परिधान में गाँठ लगाई जाती थी। समकालीन साहित्य में फुँदिया के वर्णन से ऐसा ही आभासित होता है।[45] सम्भवतः कसनिया पीछे की ओर से बाँधा जाने वाला वस्त्र था। तत्युगीन साहित्य में वर्णित कूर्पास[46] नामक वस्त्र भी शरीर के ऊपरी भाग का आवरण

---

41. सोमदेवकृत-**यशस्तिलक**, सम्पादक शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस पृ.-16 - पीनकुचकुम्भदर्पत्रुटत्कंचुकाः

42. **यशस्तिलक**-पृ.-51, टीका-बारबाणकंचुकम्; **अमरकोष** 2.8.64 -'कंचुकोबारबाणों'।

43. **उत्तर भारती** (जर्नल ऑफ रिसर्च ऑफ दि यूनिवर्सिटीज ऑफ उत्तर-प्रदेश) ग्रन्थ खण्ड-6, 1959, सं.-2 पृ.-60 में जी.एन. शर्मा का लेख **'मेवाड़ पेन्टिंग थ्रू दि एजेज'**

44. **चंदायन** सम्पा. माता प्रसाद गुप्त, पद-267, पृ.-254.

45. **चंदायन** दाउद कृत 94/1; रोड कृत **राउल-वेल** पृ.-102, दोहा -46.

46. राजशेखर कृत **कर्पूरमंजरी**, बम्बई-1949, 1/13 **अमरकोष**-119, 2/6.

प्रतीत होता है। कूर्पास प्रत्येक मौसम में प्रयोग किया जाने वाला वस्त्र नहीं था, साहित्य के वर्णनानुसार बसंत ऋतु के प्रारम्भ होने पर स्त्रियाँ कूर्पास धारण करना बन्द कर देती थीं।[47] चोली एक अत्यन्त प्राचीन वस्त्र है जो साड़ी के साथ पहना जाने वाला स्त्रियों का लोकप्रिय परिधान था।[48]

अंगिया का प्रयोग प्रायः स्त्रियाँ अन्तर्वस्त्र के रूप में करती थीं, अंगिया का ही एक दूसरा नाम हटांगी[49] था। स्त्रियों द्वारा शरीर के ऊपरी भाग में धारण किये जाने वाले वस्त्र यथा फुँदिया, चोली, कूर्पास, कंचुक आदि वस्त्र प्रायः साड़ी के रंग से मेल खाने वाले होते थे यदि साड़ी अथवा चादर सेन्दूरिया है तो स्त्रियां प्रायः फुँदिया अथवा कंचुक भी रक्त वर्ण की धारण करती थीं।[50] इन वस्त्रों के अतिरिक्त 'चोलक' नामक वस्त्र भी तत्युगीन समाज में प्रचलित था, चोलक सभी वस्त्रों के ऊपर कोट के रूप में धारण किया जाता था।[51]

---

47. राजशेखर कृत **विद्धशाल भंजिका**, सरस्वती प्रेस कलकत्ता 1883 4/6; **कर्पूरमंजरी** 1/14

48. हजारी प्रसाद द्विवेदी-**प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद** पृ.-91; विद्यालंकार अत्रिदेव, **प्राचीन भारत के प्रसाधन** पृ.- 68.

49. **चंदायन** दाउदकृत 267/2; **काव्यमीमांसा**-पृ.-26.

50. **राउल-वेल** पृ.-96 दोहा-9 तथा पृ.-102 दोहा 41; अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक** पृ.-149 दोहा-28.

51. सोमदेव कृत **यशस्तिलक** पृ.- 466.

लँहगा स्त्रियों द्वारा धारण किया जाने वाला एक अधोवस्त्र है जिसे प्रायः चण्डातक कहा जाता था।[52] इस युग में लँहगा[53] तथा घँघरा[54] स्त्रियों में अत्यन्त लोकप्रिय थे। गुजरात से लेकर बंगाल तक लगभग सम्पूर्ण उत्तर-भारत में लँहगा पहनने का प्रचलन था, लँहगा अत्यन्त सुविधाजनक परिधान था यही कारण है कि आधुनिक काल तक लँहगा हिन्दू स्त्रियों के एक प्रमुख परिधान के रूप में कायम रह सका।[55] विवेच्ययुगीन साहित्य में पटोर लँहगे का भी विवरण प्राप्त होता है, साहित्य में पटोर वस्त्र से निर्मित लँहगे को पहन कर चलती हुई स्त्री की तुलना लहराते हुये समुद्र से की जाती थी।[56] लँहगे की तरह घाघरा[57] भी अत्यन्त लोकप्रिय परिधान था। घाघरा

---

52. **अमरकोष**-2/6/119 'चण्डतक' (मंशुकम्)

53. हेमचन्द्र कृत **देशीनाममाला** तृतीय सरग, छन्द-13 पृ.-134 यहाँ पर लँहगे के स्थान पर 'चिनफुल्लानी' शब्द का प्रयोग किया गया है।

54. जरकस घाघरा (सुनहरा झुब्बेदार घाघरा) के लिये देखिये, **पृथ्वीराज रासो** खण्ड-1, समय-14 दोहा-83, पृ.-327; **मृगावती**, पृ.- 141.

55. **प्राचीन भारतीय वेशभूषा**-पृ.-102; **प्राचीन भारत के प्रसाधन** पृ.-63.

56. **चंदायन** सम्पा. डॉ. माता प्रसाद गुप्त 25/2; **प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद** डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ.-103.

57. **पृथ्वीराज रासो** प्रथम खण्ड, समय-14 दोहा 83 पृ.-327 **राउल-वेल**, पृ.-98, दोहा-18; हेमचन्द्र कृत **कुमारपाल चरित** , पृ.-431, दोहा-322.

मुस्लिम स्त्रियों में अधिक प्रचलित था।[58] अवलोकित काल के कतिपय ग्रन्थों में घाघरा को 'जघनवस्त्रभेदः' से स्पष्ट किया गया है।[59]

शरीर के ऊपरी भाग में आवरण डालने में प्रयुक्त होने वाला वस्त्र उत्तरीय कहलाता था तथा आधुनिक ओढ़नी के सदृश ही महिलाओं में लोकप्रिय था। उत्तरीय प्रायः महिलाओं की वेशभूषा का एक अनिवार्य अंग बन चुका था, जो किसी बड़े वस्त्र खण्ड से निर्मित किया जाता था।[60] उच्च वर्गीय हिन्दू स्त्रियाँ जब भी घर से बाहर जाती तो ओढ़नी,[61] चुनरी[62] या दुपट्टा[63] (कपड़े का बड़ा टुकड़ा जिससे सिर और शरीर का ऊपरी भाग ढका जाता था) का प्रयोग करती थीं। पुष्पपत्र, पक्षियों,

---

58. **अल्तेकर-दि पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन**-पृ.-296.

59. हेमचन्द्र कृत **देशीनाममाला** 2.107, जगणत्थवत्थभेसघग्घरमादी रसयम्मि घरयंदो।

60. अमरसिंह कृत **अमरकोष** 2/6/118 'संख्यानुमत्तरीय'।

61. 'लाल ओढ़नी' के लिये, नारायणदास की **'छिताईवार्त्ता'** सम्पादक-डॉ. माता प्रसाद गुप्त, चौपाई 405, पृ.-65; 'घुँघरआली घट' (छुद्र आभूषण घटिकाओं से सुसज्जित ओढ़नी) लावण्य समय कृत **विमलप्रबन्ध** सर्ग-5, दोहा-75 पृ.- 96: 'नील उरनी' महाकवि चण्डीदास पदावली, कलकत्ता 1933 पृ.-50.

62. 'चुनड़ी' के लिये, नरपति नाल्ह कृत **बीसलदेव रासो** छन्द 27, पृ.-76; **चंदायन**, 'चुंदरी' पद 83, पृ.-91.

63. **पृथ्वीराज रासो** खण्ड-4 समय-61, दोहा-306 पृ.- 1100, यहां कवि ने इसे 'अंचर' कहा है।

फूल-पत्तियों एवं अन्य आकर्षक नमूनों से सुसज्जित उत्तरीय को या तो कन्धे पर डाला जाता था अथवा तत्युगीन स्त्रियाँ इसे कमर में कस लेती थी।[64] उत्तर भारत के सभी प्रान्तों की विभिन्न वर्ग की स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के उत्तरीय वस्त्र धारण करती थीं, जिसकी पुष्टि तत्कालीन मूर्तिकला से भी होती है।[65] इब्नबतूता ने मालाबार की स्त्रियों की वेशभूषा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुये लिखा है – इस नगर की तथा समुद्रतट की सभी स्त्रियां बिना सिले हुये कपड़े (साड़ी) पहनती हैं, इस कपड़े के एक छोर को वे अपनी कमर में लपेटती हैं तथा दूसरे छोर से अपने माथे व वक्ष-स्थल को ढकती है।[66] समकालीन साहित्य में चीर (सूती कपड़ा) का भी पर्याप्त विवरण हमें मिलता है।[67] साधारण वर्ग की स्त्रियाँ फुँदिया से मिलती हुई सिंदूरी रंग की साड़ी, मेघवाना और कुसियारा धारण करती थीं तथा जोगिया चौकड़िया वाला चीर पहनती थीं, सर पर

---

64. पद्मगुप्त परिमल कृत **नवसाहसांक चरित**, टीका-शास्त्री जितेन्द्र चन्द्र भारतीय, वाराणसी-1963, 7/12, 15/46; **हर्षचरित** तृतीय उच्छवास, पृ.-218.

65. **इंडियन स्कल्पचर**, पट्टिका-7, उदयगिरि से प्राप्त शाल-भंजिका मूर्ति 927 ई., दाहिने कंधे से लटका हुआ उत्तरीय वस्त्र; **सागर विश्वविद्यालय पुरातत्व संग्रह संख्या**-78, त्रिपुरी से प्राप्त स्त्रीमूर्ति का कंधे से लटका हुआ उत्तरीय।

66. इब्नबतूता - **दि रेहला ऑफ इब्नबतूता**, पृ.-199.

67. **चंदायन** , दाउद कृत 42/3, 47/3, 50/5, 51/1, 97/6/ 90/3, 94/2, 26, 173/2, 224/2 इत्यादि; **राउल-वेल** पृ.-102 दोहा-78; **खालिक-बारी** पृ.-56 दोहा-22.

मूंगिया ओढ़नी तथा चुंदरी पहनती थी, सावन में कुसुंभी साड़ी तथा एक खण्ड छाप की गुजराती साड़ी पहनती थी।[68] नर्तकियों एवं गणिकायें (मुतीरबान) स्वयं को आकर्षित बनाने के निमित्त रेशम से बने कसे हुये तथा जालीदार वस्त्र धारण करती थीं।[69] परदा-प्रथा का पालन सम्पन्न मुस्लिम महिलाओं में दृढ़ता से होता था। उस युग के सम्पूर्ण उत्तर-भारत की सम्पन्न वर्ग की स्त्रियों में एक साधारण और संयतमार्गी परदे का चलन था। इसे घूँघट[70] कहा जाता था। यह एक आंशिक परदा था जिसमें केवल मुख को छिपाया जाता था। स्त्रियाँ जब श्रेष्ठ अथवा ज्येष्ठ लोगों के सम्मुख जाती थीं तो आदर और सम्मान व्यक्त करने के लिये परदा कर लेती थी। वस्तुतः परदा-प्रथा अवलोकित काल में स्त्रियों की प्रतिष्ठा और सतीत्व का एक सामान्य लक्षण बन चुकी थी। पूर्वमध्यकालीन साहित्य में विभिन्न प्रकार तथा रंग के चमाऊ (चमड़े के) जूते (पाई पादत्री) पहनने का उल्लेख मिलता है।[71] इसके साथ साबर की पानही (जूती)

---

68. **चंदायन** सं.डा. माता प्रसाद गुप्त पद 83 पृ.-82; **जैन साहित्ययनो संक्षिप्त इतिहास**, देसाई मोहनचन्द दलीचन्द, जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स बम्बई 1993 पृ-.-107.

69. नर्तकियों के 'चुस्त पैराहन' (चुस्त वस्त्र) **अमीर खुसरो** कृत 'नूह-सिफिर', पृ.-379; साथ ही देखें लिबास-ए-तुनुकदम (जालीदार वस्त्र), अमीर खुसरों कृत **'देवल रानी खिज्र खॉ'** पृ.-158.

70. **पृथ्वीराज रासो** भाग-4, समय-58, दोहा-286, पृ.-684; **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ दी पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान**, पृ.-139.

71. अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक** छन्द 53 पृ.-155 में इसे 'पावरू' कहा गया है। मुल्ला दाउद कृत **चंदायन** सम्पा. माता प्रसाद गुप्त पद-95, पृ.-83.

का भी उल्लेख मिलता है।[72] अल्बेरुनी ने भी यह लिखा है कि तत्युगीन समाज में जूता पहनने का प्रचलन था। उनके अनुसार, 'वे जब जूते पहनते हैं, तब उन्हें कसे रहते हैं।[73] समकालीन कुछ अन्य ग्रन्थों में भी पैरों में पादुका (जूती) पहने जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[74] अतः कुछ विद्वानों की यह मान्यता कि जूतों का प्रचलन इस काल में नहीं था, गलत प्रमाणित हो जाती है।

आभूषणः

आभूषण, वैभव और विलास के प्रतीक हैं। मनुष्य की आभूषणों के प्रति सौन्दर्यप्रियता प्राग्वैदिक काल से ही विद्यमान रही है। भारत में स्त्री पुरुष दोनों के द्वारा प्राचीन काल से ही आभूषण धारण किये जाते थे वस्तुतः स्वाभाविक रूप से ऐसी मान्यता और धारणा भी थी कि स्त्री का सौन्दर्य अनेक प्रकार के आभूषणों द्वारा संवृद्ध होता था। बाल्यावस्था से ही भारतीय स्त्रियाँ आभूषण धारण करने की अभ्यस्त होती थीं। अत्यन्त अल्प आयु में ही उनके नाक व कान छेद दिये जाते थे।[75]

---

72. नरपति नाल्ह कृत **बीसलदेव रासो** पृ.-205 दोहा-196.

73. **ग्यारहवीं सदी का भारत**, जयशंकर मिश्र, वाराणसी-1968, पृ.-244.

74. हेमचन्द्र कृत **देशीनाममाला**, 6.76.

75. इब्नबतूता-इसका उल्लेख इस प्रकार करता है – "मुस्लिम महिलाओं की पहचान यह है कि उनके कान छिदे नहीं होते हैं इसके विपरीत हिन्दू स्त्रियों के कान अल्पवय में ही छेद दिये जाते हैं।" गिब.एच.ए.आर., **'ट्रैवल्स ऑफ इब्नबतूता'** लन्दन 1921, पृ.-71 भाग-3.

अवलोकित काल में आभूषणों के प्रति स्त्रियों का विशेष लगाव समकालीन साहित्य से प्रतिबिम्बित होता है। ये स्त्रियाँ सिर से पॉव तक शरीर के प्रत्येक अंग को विभिन्न प्रकार के आभूषणों द्वारा सुसज्जित करती थीं। तत्युगीन ग्रन्थों में कर्णिका, कुण्डल, एकावली, केयूर, अंगद, कांची, मेखला, रशना आदि अनेक प्रकार के रत्नाभूषणों का उल्लेख हुआ है, जिन्हें बड़े चाव से धारण किया जाता था।[76] रत्नो में मणि, मरकत, पद्मराग, शोणरत्न (लोहितक) मुक्ता, प्रवाल पुष्पराग, वैदूर्य, महानील, वज्र (हीरा) स्फटिक, सूर्यकान्त तथा चन्द्रकान्त का उल्लेख समकालीन साहित्य में पर्याप्त रूप से मिलता है।[77] इतिहासकारों ने राजाओं, रानियों और अभिजात्य परिवार के लोगों द्वारा धारण किये जाने वाले आभूषणों का विस्तृत उल्लेख किया है, जो बहुमूल्य रत्नों से जड़े होते थे।[78] प्राचीन काल से स्त्रियों की रुचि अलंकारों के प्रति अधिक थी, वे अपने शरीर को विभिन्न प्रकार के आभूषणों से सज्जित करती थीं। उनके पैर प्रायः नूपुरों से सुसज्जित होते थे, वक्षस्थल आकर्षक हारों से, कान कुण्डल से, भुजायें बाजूबन्दों

---

76. **अमरकोश**, 2.4, 11.9, 94.109, 2.6.103, कर्णिका तालपत्रस्यात् कुण्डल कर्णवेष्टनम्, 2.6.106, एकावल्येकयष्टिका, 2.6.107 केयूरमंगदं तुल्ये, 2.6.108 स्त्रीकट्यां मेखला कांची सप्तकी रशना तथा; **बी.एन. शर्मा**, पृ-.284.

77. **रघुवंश** 18.32, 13.54; **कुमारसंभव** 1.24, 4.19, 13.69, 11.21 सोमदेवकृत **यशस्तिलक**, पृ.- 367;

78. वाटर्स, **यूवान-च्वांग ट्रैवेल्स इन इंडिया** लन्दन 1904-5, पृ.-151; **अल्तेकर**, पृ.-298; ओझा, **मध्यकालीन भारतीय संस्कृति**, पृ.-56; **इब्नबतूता**, अनुवाद महदीं, पृ.- 118.

से तथा केश स्वस्तिकों से।[79] तत्कालीन अनेक मूर्तियों में भी ऐसे अनेक आभूषणों का अंकन हुआ है, केयूर, मुद्रा, कंकण, हार, उदरबन्ध, नूपुर आदि उस समय की स्त्रियॉ सहर्ष धारण करती थीं।[80] हिन्दू स्त्री के लिये सुहाग या विवाहित जीवन का तात्पर्य समग्र देह पर अलंकारों का प्रयोग था। केवल वैधव्य की अवस्था में वह अपने अलंकारों और जवाहरातों को उतार देती और सर से सिंदूर की लाल रेखा को मिटा देती थी।[81] आलोचित काल के साहित्यकारों, रचनाकारों व इतिहासकारों ने नारी के विभिन्न आभूषणों को विशद् विवरण दिया है। शीश के आभूषणों में किरीट, मौलि पट्ट, मुकुट औरकोटीर आदि उस युग में विशेष रूप से प्रचलित थे।[82] कान के धारण किये जाने वाले अलंकारों में अवतंस, कर्णपूर, कर्णिका, कर्णोत्पल और कुण्डल अधिक पहने जाते थे।[83] कण्ट के आभूषणों में एकावली कोष्ठिका हार, हारयष्टि, मौक्तिकदाम

---

79. **यशस्तिलक**, पृ.-३८, पृ.-288, पृ.-398; हेमचन्द्र कृत-**शब्दानुशासन**-6.3.12.

80. कोडरिस्टन, **मेडीवल इंडियन स्कल्पचर्स**, पृ.-29.

81. विद्यापति ठाकुर कृत **पदावली बंगीय**, पृ.-117.

82. **सोमदेव कृत यशस्तिलक**, पृ.-2 त्रिविष्टिपाधीशकिरीटो दयकोटिषुः, पृ.-132 किरोटोच्छयः इवाटीलक्ष्म्याः, पृ.-95, ईशानमौलिमिवः, पृ.-336 महासामन्तमुकुटमाणिक्य।

83. **यशस्तिलक** पृ.-38, कपोल तलोल्सत्स्वेदजलन जरीजालकुसुमितावत सपल्लवाभिः, पृ.-24 स्मरसालापकर्णपूरैः पृ.-367, चन्द्रकान्त-कुण्डलाभ्यामलंकृत श्रवणः।

आदि का विशेष प्रयोग किया जाता था।[84]

हाथों को सुसज्जित करने वाले आभूषणों में अंगद और केयूर अधिक प्रचलित थे।[85] कंकण और वलय नामक अलंकारों से कलाई को सुशोभित किया जाता था।[86] उंगलियों में उर्मिका और अंगुलीयक पहना जाता था।[87] कमर अथवा कटि-प्रदेश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही स्त्रियों द्वारा आभूषण धारण किये जाते रहे हैं। विवेच्युग में कांची, मेखला, रशना, घर्घरमलिका आदि कटि प्रदेश में धारण किये जाने वाले प्रधान आभूषण के रूप में अधिक लोकप्रिय थे।[88] स्त्रियाँ पैरों में भी आभूषण धारण करती थीं इन आभूषणों को पहनकर जब वह चलती थीं तब उनसे सुमधुर कर्णप्रिय ध्वनि निकलती थी। पैरों में मंजीर, हिंजीरक, नूपुर, तुलाकोटि और हंसक आदि अलंकार

---

84. **यशस्तिलक** पृ.-288 एकावली बबन्धः, पृ.-34 उदरहार निर्झरीचित, पृ.-613 कण्ठे मौक्तिकदामभिः प्रदलितम् तथा पृ.-463, पृ.-55; **चंदायन** छन्द-95, दोहा-4, पृ.-131.

85. **यशस्तिलक** , पृ.-398 कुवलीफलस्थूलत्रापुषणणि विनर्मितांगद, पृ.-106; **ढोला मारू रा दुहा** दोहा-481, पृ.-114.

86. **विद्यापति की पदावली** पद 38 दोहा-8, पृ.-67; **यशस्तिलक**, पृ.-15, कनकमयकंकणा।

87. **यशस्तिलक** पृ.-367, सरत्नोर्मिकाभरणः, पृ.-131, प्रसादीकरोत्यंगुलीयकम्।

88. ज्योतिरीश्वर कृत **वर्णरत्नाकर** द्वितीय कल्लोल पृ.-4; **संदेश रासक** छन्द 52, पृ.-14; **यशस्तिलक** पृ.-15, कांचिकोल्लासवशदर्शितोरुस्थलाः, पृ.- 100, 555, 150.

धारण किये जाते थे।[89] पूर्वमध्ययुगीन अन्य साहित्यकारों ने भी स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाले कंठ, बाहु, भुज, कर, ग्रीवा आदि के आभूषणों की विस्तृत चर्चा की है।[90] एक तत्युगीन प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधानचिन्तामणि में प्रायः अलंकार, भूषण और आभरण शब्दों के साथ ही चूड़ामणि, शिरोमणि, हारान्तेत्रणि मौलि, किरीट, कोटीर जैसे अलंकारों का उल्लेख मिलता है।[91] अल्बेरुनी ने भी हिन्दू स्त्रियों की आभूषण-प्रियता का उल्लेख करते हुये लिखा है – "हिन्दू स्त्रियाँ कानों में कुण्डल, हाथों में चूड़ियाँ, हाथ की उंगलियों में स्वर्ण की अंगूठियॉ और पैरों की उंगलियों में छल्ले पहनती हैं।[92] विवेच्ययुग के अरब लेखकों ने भी भारतीय स्त्री-पुरुषों द्वारा धारण किये जाने वाले अलंकारों का विवरण दिया है, उनके अनुसार "भारत के राजा और सम्पन्न वर्ग के स्त्री पुरुष कानों में स्वर्ण निर्मित बाले पहनते हैं, जिनमें बड़े-बड़े बहुमूल्य मोती जड़े रहते हैं। वे गले में अमूल्य रत्नों से जड़े हार पहनते हैं। ये मोती और रत्न उनके कोष होते हैं। सेनाओं के सेनापति और दूसरे राज्याधिकारी भी अपने-अपने पद और मर्यादा के अनुसार

---

89. **यशस्तिलक** पृ.-101 झणझणायमान मणिमंजीर शिजितः, पृ.-6117, पृ.-126 यंत्रचालितौ नुपुरौ; नरपति नाल्ह कृत **बीसलदेव रासो** छन्द 58 पृ.-106.

90. हेमचन्द्र कृत **शब्दानुशासन** 6.3.12; **अशरफ**-224.

91. हेमचन्द्र कृत **अभिधानचिन्तामणि**, 649-651, सम्पा. हरगोविन्द दास और मुनि जिनविजय, भावनगर,-1919

    रथाकस्तु हस्तबिम्बलंकारस्तुभूषणम्।
    परिष्काराभरणे च चूणामणिः शिरोमणिः।।

92. **अल्बेरुनीज इंडिया** (सचाऊ) भाग-1, पृ.-181.

इसी प्रकार के आभूषण पहनते हैं।"[93] कुछ अन्य ऐतिहासिक व साहित्यिक ग्रन्थों में भी कानों में कुण्डल पहने हुये सैनिकों का उल्लेख मिलता है।[94] आभूषणों के प्रति प्रेम भारतीय स्त्रियों के प्रत्येक वर्ग में स्पष्टतः परिलक्षित होता है, राजकीय एवं अभिजात वर्ग की स्त्रियॉं, साधारण वर्ग की स्त्रियाँ, दासियॉं एवं परिचारिकायें, नर्तकियाँ एवं गणिकायें सभी अपने सामाजिक स्तर एवं रुचि के अनुरूप आभूषण धारण करती थीं।[95] आभूषण प्रायः बहुमूल्य उपहार के रूप में सगे-सम्बन्धियों एवं मित्रों आदि को प्रदान किये जाते थे।[96] वस्तुतः इस युग में आभूषणों एवं अलंकारों का महत्व इतना अधिक बढ़ चुका था कि वे सामाजिक स्तर एवं प्रतिष्ठा का प्रतीक बन चुके थे। मात्र आभूषण धारण करने से ही धारक के सामाजिक-आर्थिक स्तर का अनुमान सहज ही लग जाता था, बाहरी आवरण से ही किसी के व्यक्तित्व, परिवार व स्तर की जानकारी मिल जाती थी।

शरीर के प्रत्येक अंग को विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित करना हिन्दू स्त्रियों की एक सामान्य दुर्बलता थी, जिससे उनके सौन्दर्य में वृद्धि हो सके। साथ ही

---

93. रेनाडॉट, इ., **एन्शियएन्ट एकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया एण्ड चाइना, बाइ टू मोहम्मद ट्रैवेलर्स**, लन्दन-1773, पृ.-36, 98-99.

94. कल्हण कृत- **राजतरंगिणी,** 8.2835, लीलाग्युधकुण्डला।

95. अमीर खुसरो कृत **नूह-सिफिर**, 1/11, पृ.-379,
    इब्नबतूता, अनुवाद, महदीं पृ.-122.

96. **इब्नबतूता**, अनुवाद महदीं पृ.-121; जमीला बृजभूषण कृत **इंडियन ज्वेलरी एण्ड आरनामेन्ट्स**, तारपोरेवाला एण्ड सन्स कम्पनी, बम्बई, पृ.-103.

आभूषण सुहाग एवं सौभाग्य के भी द्योतक माने जाते थे। अवलोकित काल की स्त्रियों में विशेष रूप से लोकप्रिय कुछ मुख्य आभूषणों का विवरण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है –

शीशफूल[97] (जिसे राजस्थान और गुजरात में राशदी, राकदी अथवा राखदी के नाम से पुकारा जाता था) तत्युगीन महिलाओं का एक लोकप्रिय शीश-आभूषण था। सम्भवतः माँग की सौंदर्य वृद्धि हेतु स्त्रियाँ इसे धारण करती थीं, शीशभूषण सोने और मोतियों द्वारा निर्मित एक प्रचलित आभूषण था।[98] शीश पर धारण किये जाने वाले अन्य आभूषणों में 'बोर' का उल्लेख मिलता है, जिसे समकालीन साहित्य में मस्तक पर धारण किया जाने वाला गुम्बज के आकार का गहना कहा गया।[99] इस आभूषण की तुलना आधुनिक मारवाड़ी स्त्रियों द्वारा सिर के सामने के भाग में धारण किये जाने वाले आभूषण 'बोरला' से की जा सकती है। महिलायें अपने केशों को दो भागों में विभाजित कर अपनी माँग को मोतियों से अलंकृत करती थीं –

---

97. **राजमती की रत्नजड़ित राकड़ी के लिये देखिये, नरपति नाल्ह कृत बीसलदेव रासो** छन्द 96 पृ.-106 तथा छन्द 23 पृ.-76; रत्नजड़ित शीशफूल के लिये देखिये, **पृथ्वीराज रासो** समय-8 (भूमि स्वप्न कथा) कवित्त-33, पृ.-206 तथा पृ.-1976, छन्द-107.

98. **चंदायन** 75/5; **पृथ्वीराज रासो** पृ.-312 छन्द 44; **बीसलदेव रासो** पृ.-223 छन्द 23 एवं पृ.-234 छन्द-58; **राउल-वेल-** पृ.-99, छन्द-23.

99. हेमचन्द्र कृत, **कुमारपाल चरित,** पूना-1926, पृ.-620, छन्द-410; **वृहत्कथामंजरी**-पृ.-253.

जुकेस मुत्ति संजुरे। ससी सराह दो लरे।[100]

मस्तक पर श्रृंगार के निमित्त बिन्दुली अथवा बिन्दी तथा टिकुली का प्रयोग अवलोकित काल की स्त्रियाँ करती थी।[101] यदा-कदा राजपूत स्त्रियाँ एक विशेष प्रकार का आभूषण अपने भौहों के सौन्दर्य वृद्धि हेतु धारण करती थीं, इस आभूषण को 'सोहाली' कहा जाता था।[102] अवलोकित काल के साहित्य में शीश के अन्य आभूषणों में किरीट, मौली, पट्ट, मुकुट और कोटीर का भी उल्लेख यदा-कदा मिलता है।[103]

अत्यन्त प्राचीन काल से ही हिन्दू स्त्रियाँ सौन्दर्य वृद्धि हेतु अपने कानों में विभिन्न प्रकार के कर्ण-आभूपण अत्यन्त चाव से पहनती थीं। कानों में धारण किये जाने वाले विभिन्न आभूषणों में कर्णफूल महिलाओं में अत्यन्त लोकप्रिय था।[104] कर्णफूल वस्तुतः पुष्प की आकृति के समान निर्मित कानों में पहना जाने वाला एक गहना था। मणिजड़ित कर्णफूलों के प्रयोग का वर्णन पूर्णमध्ययुगीन साहित्य

---

100. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 छन्द-163, पृ.-1085; **यशस्तिलक**, पृ.-132.

101. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-1085 छन्द 164 तथा पृ.-1482, छन्द-121; पृ.- 1382 छन्द-121; पृ.-803, छन्द-312.

102. मारवानी के सोहाली के लिये देखिये-**ढोला मारू का दुहा**, दोहा-465, पृ.-110, वर्णन इस प्रकार है – "भुमूहन उपरी सोहलो परिहाऊ"

103. सोमदेव कृत **यशस्तिलक**, पृ.-2, पृ.-95, पृ.-556, पृ.-288, पृ.-336.

104. कर्णफूल के लिये देखिये, **विद्यापति की पदावली**-पद-163 पृ.-261; **यशस्तिलक** पृ.-24 स्मरसालापकर्णपुरैः

में प्रायः प्राप्त होता है।[105] अन्य लोकप्रिय कर्ण-आभूषणों में तलवट्टो,[106] बाली,[107] ताटंक, [108] (जिसे तड़की भी कहा जाता था) खूँट,[109] (एक गोलाकार कर्णाभूषण, जिसका आकार दीप के समान होता था) इत्यादि का उल्लेख समकालीन साहित्य में प्राप्त होता है जिन्हें स्त्रियाँ कानों में धारण करती थीं। कर्ण-आभूषणों के प्रति अत्यन्त प्राचीन काल से ही स्त्रियों में विशेष रुचि रही है, आधुनिक काल में भी महिलायें कानों के अलंकरण हेतु विभिन्न प्रकार के कर्ण आभूषणों को अत्यन्त चाव से पहनती हैं। कुछ ऐसे भी कर्ण-आभूषण हैं जो प्राचीन काल में भी प्रचलित थे और आज भी किंचित परिवर्तित रूप में समाज में प्रचलित है। स्वर्ण कुण्डल एक

---

105. **नवसाहसांक चरित** 14/22 कर्णिकर्णपूराः ; **राजतरंगिणी**-8.2835; हेमचन्द्र कृत **अभिधानचिन्तामणि**, पृ.-549.

106. तलवट्टो (कर्णाभूषण, हेमचन्द्र कृत **देशीनाममाला** पंचम सर्ग, छन्द-21, पृ.-191.

107. 'कन्नाबालम' के लिये देखिये, **देशीनाममाला** छन्द-23 पृ.-90; जमीला बृजभूषण, **इंडियन ज्वेलरी एण्ड आरनामेन्ट्स** पृ.-173.

108. हीरे का तटंक, नारायणदास कृत **छिताई वार्ता** दोहा-405, पृ.-65 तथा दोहा-651 पृ.-117 यहाँ इसे 'तड़िका' कहा गया है; अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक** छन्द 46 पृ.-13, इसे तड़की कहा गया है। **पृथ्वीराज रासो**-खण्ड-4 समय-61 कविता-8 पृ.-947 इसे त्राटंक कहा गया है। **चंदायन**, छन्द 359, दोहा-2, पृ.-285, इसे 'तरुवन' कहा गया है।

109. **चन्दायन** छन्द-226, दोहा-2, पृ.-124 तथा छन्द-9, दोहा-2, पृ.-131.

ऐसा ही चिर-परिचित कर्ण-आभूषण है। पूर्वमध्ययुगीन साहित्य में स्त्री पुरुष दोनों के द्वारा कुण्डल धारण करने का उल्लेख प्राप्त होता है। [110] बिहार में ग्यारहवीं शती की कुछ मूर्तियाँ पटना तथा नालन्दा संग्रहालय में सुरक्षित हैं, इन मूर्तियों में जिस प्रकार के कर्णाभूषण अंकित हैं, उनमें अधिकांशतः कमलाकृति व चक्र के समान हैं, उन्हें कमल-कुण्डल तथा चक्र कुण्डल की संज्ञा प्रदान की जाती थी।[111] मूर्तियों के अंकन से ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा के आस-पास तथा राजपूताना प्रदेश में स्त्रियाँ सादे गोलाकार कुण्डलों का प्रयोग कर्ण-आभूषणों के रूप में अधिक करती थीं।[112] भोजपुरी आशापुरी से प्राप्त 10वीं शती की उमा महेश्वर की मूर्ति तथा कोणार्क मन्दिर के स्त्री-मूर्तियों में अंकित चक-कुण्डल दर्शनीय हैं।[113]

अभिजात्य एवं राजकीय वर्ग की स्त्रियों के कर्ण-आभूषण हीरे-जवाहरात, मणि माणिक्य, मोती इत्यादि से जड़े होते थे।

---

110. **नवसाहसांक चरित** 15/26, पाटलक कपोल तरलक धौत कुण्डला; **राजतरंगिणी** 8.2835 लीलाग्युधकुण्डला; **यशस्तिलक** पृ.-407; **विद्यापति पदावली** पद 171 दोहा-2, पृ.-277-जढाऊ कुण्डल; **पृथ्वीराज रासो** पृ.-803 छन्द 312; **सन्देश रासक**-पृ.-153, छन्द-46.

111. राजशेखर कृत **कर्पूरमंजरी** 1/13; **काव्यमीमांसा** 1/10; **मानसोल्लास** 2/10.

112. **जरनल ऑफ यू.पी. हिस्टोरिकल सोसायटी**-21, 1940, पृ.-123; टॉड जेम्स, **एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज आफ राजस्थान**, लन्दन, 1920, पृ.-121

113. हावेल ई.बी., **द आइडियल ऑफ इंडियन आर्ट**, लन्दन-1911, अध्याय 1/1 (_दि फेमिनिन आइडियल) पृ.-69.

अवलोकित काल की स्त्रियाँ नाक को भी विभिन्न प्रकार के कलात्मक आभूषणों से अलंकृत करती थी। नकफूली,[114] (छोटी कली के आकार का एक नाक का आभूषण, जिसका डंठल नाक से सटा होता था), बेसर[115] (एक अर्द्धचन्द्राकार आभूषण जो नाक से लटकता रहता था) बेसनी,[116] (बुलाक) नकमोती[117] आदि आभूषण तत्युगीन महिलायें अपनी नाक में धारण करती थीं। नाक के आभूषणों के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि नाक के आभूषण (यथा नथ या नथुनी, नथिया तथा अन्य पूर्व उल्लिखित नाक के आभूषण) मुस्लिमों के भारत में आगमन के पश्चात मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव के परिणामस्वरूप ईस्वी सन् 1000 में या इसी के आस-पास भारतीय जीवन तथा संस्कृति में प्रचलित हुये। संस्कृत साहित्य एवं शब्दकोषों में नथ का अथवा नाक में धारण किये जाने वाले

---

114. जड़ाऊ 'नाकफूली' के लिये देखिये-नारायणदास कृत **छिताई-वार्ता**, दोहा-173, पृ.-18; दाउद दलमई कृत **चंदायन** छन्द 95 दोहा-3, पृ.-131, यहाँ इसे 'नाक काई फूली', कहा गया।

115. **विद्यापति की पदावली**, पद-162, पृ.-261.

116. नर्तकी की नाक के गौहर-ए-बीनि (बुलाक) के निमित्त-अमीर खुसरो रचित **'नूह सिफीर'** पृ.-384.

117. **पृथ्वीराज रासो**-पृ.-1954, छन्द 2516 तथा पृ.-1026, छन्द-59 तथा पृ.-563, छन्द-147.

किसी आभूषण का उल्लेख नहीं मिलता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता का संस्कृत साहित्य इस आभूषण से अवगत नहीं था।[118]

उल्लिखित काल में कण्ठ के आभूषणों में एकावली, कोष्ठिका हार, हारयष्टि, मौक्तिकदाम आदि का विशेष प्रयोग किया जाता था।[119] इन ग्रीवाभूषणों का प्रयोग पूर्वमध्यकालीन स्त्री एवं पुरुष अत्यन्त चाव से करते थे। ग्रीवाभूषण सभी अलंकारों में प्रधान था, उपलब्ध प्राचीन मूर्तियों और चित्रों में एक भी ऐसा चित्र अथवा मूर्ति नहीं है जहाँ मानवाकृति को गले के आभूषणों से अलंकृत न प्रदर्शित किया गया हो।[120] गले में धारण किये जाने वाले विविध

---

118. **दि पूना ओरिएण्टलिस्ट भाग**-21, संख्या-1 से 4 तक, **रेफरेन्सेज टू दि नोज ओर्नामेन्ट्स इन दि समरहस्योपनिषद्, ऑन इट्स डेट (आफ्टर ए.डी.** 1000) पृ.-44-46; **एनल्स ऑफ दी भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट भाग**-19, पृ.-324-331 में पी.के. गोड का "**ऐन्टीक्विटी ऑफ हिन्दू नोज ओर्नामेन्ट्स काल्ड नथ**"; एन.ए. दिवतिया लिखित 'दि नोज रिंग ऐज ऐन इंडियन ओर्नामेंट' शीर्षक लेख।

119. **यशस्तिलक** पृ.-288, एकावली बबन्धः, पृ.-463, पृ.- 34, पृ.-555, पृ.-613; हेमचन्द्र कृत **शब्दानुशासन**-6.3.12; **अभिधानचिन्तामणिः** 649-651.

120. जमीला बृजभूषण-**इंडियन ज्वेलरी एण्ड आर्नामेन्ट्स**, पृ.-64.

आभूषणों में हार[121] सर्वप्रमुख था जो मोतियों तथा स्वर्ण धागों से प्रायः निर्मित होता था और वक्षस्थल तक लटकता रहता था। हार को मोहनमाला का पर्याय मान कर सोने के मनकों से बना कण्ठ-आभूषण कहा गया। विभिन्न प्रकार के कण्ठ-आभूषण स्वर्ण, रजत व अन्य धातुओं द्वारा अनेक कलात्मक व विविधतापूर्ण नमूनों में अपने सामाजिक स्तर व रुचि के अनुरूप निर्मित करवाये जाते थे। अन्य उल्लिखित ग्रीवाभूषणों में सिकड़ी,[122] गले में पहनने की जंजीर या श्रृंखला का एक पूर्वमध्यकालीन रूप प्रतीत होती है। गले के पास छाती के ऊपर की दोनों धन्वाकार हड्डियों को हँसली कहते हैं, इन्हीं पर मंडित होने के कारण एक अन्य ग्रीवाभूषण का नाम हँसली[123] पड़ा, जो प्रायः कण्ठ में पहनने पर इन हड्डियों पर टिका-सा

---

121. स्वर्ण, मोतियों, हीरों तथा सुगन्धित पुष्पों के अनेक हारों का उल्लेख समकालीन साहित्य में मिलता है - मोतिमहारा, **विद्यापति की पदावली**, पद-24, दोहा-4 पृ.-45; नवसर हारलय, **सन्देश रासक**, सर्ग-2 दोहा 27, पृ.-9; **बीसलदेव रासो**-पद-106, पृ.-188-189 तथा पद 127, पृ.-212-213; **चंदायन,** पद-34 पृ.- 82-83; **पृथ्वीराज रासो**, पृ.-1976, पद-116.

122. दाउद कृत **चंदायन** छन्द 95, दोहा-4 पृ.-13; रोड कृत **राउल-वेल** पद 25 पृ.ऋ99; सोमेश्वर कृत **मानसोल्लास** पृ.-198; क्षेमेन्द्र, **वृहत्कथामंजरी** पृ.-163; विद्यालंकार अत्रिवेद, **प्राचीन भारत में प्रसाधन** पृ.-213.

123. दाउद कृत **चंदायन** छन्द 359 दोहा 2 पृ.-285 तथा पद 329, पृ.-326-327; **विशाल शब्द सागर**, पृ.-1526, नरपति नाल्ह कृत **बीसलदेव रासो**, पृ.-220 पद-11, यादव प्रकाश, **वैजयन्ती**, 123.11-14.

प्रतीत होता था। एक अन्य उल्लेखनीय कण्ठ-आभूषण कण्ठी[124] थीं। कण्ठी को कण्ठी-माला अथवा कण्ठी-हार भी कहा जाता था। कण्ठी का वर्तमान रूप गले से चिपटी रहने वाली जंजीर का एक रूप है, जिसमें पहनने वाले के सामाजिक, आर्थिक स्तर के अनुरूप रत्न, मोती अथवा सोने का मनका भी पिरोया जाता था। यह आभूषण वस्तुतः अत्यन्त प्राचीन है और आज भी यह महिलाओं में लोकप्रिय है। पूर्वमध्यकाल में कण्ठी के प्रचलन के प्रमाण प्राप्त होते हैं।[125] मोतियों तथा मुक्ता से निर्मित एक लड़वाला हार एकावली कहलाता था, समकालीन साहित्य में एकावली के दो प्रकार वर्णित हैं – एक तो गले के निकट चिपका कर पहना जाता था और दूसरा उदर तक लटकता रहता था।[126]

मूर्तियों के गले में एकावली हार उत्कीर्ण करने का पर्याप्त प्रचलन विवेच्ययुग में उपलब्ध होता है। चालुक्य सिक्के में अंकित पार्वती,[127] सिरपुर (मध्य

---

124. ग्रीव माल (कण्ठ माला), नारायणदास कृत **छिताई-वार्ता**, दोहा-404, पृ.-65; **पृथ्वीराज रासो**, दोहा-51, पृ.-82.

125. कण्ठहार-**पृथ्वीराज रासो**, पृ.-564 छन्द-153, पृ.-1976 छन्द-116 तथा पृ.-1976 छन्द-701 **चंदायन** (माता प्रसाद गुप्त) पद-329, पृ.-326-327 **राउल-वेल** पृ.-95. पद-4 (जालकण्ठी) पृ.-98, पद 17, जलारी कण्ठी (जल्लार देश की कण्ठी)।

126. अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक**, पृ.-101, पद 38; **कुमारपाल चरित** पृ.-625 पद- 423; राजशेखर कृत **विद्धशालभंजिका** 5/7; हेमचन्द्र कृत **देशीनाममाला**,7.28; सोमदेव कृत **यशस्तिलक**, पृ.-288.

127. **जरनल ऑफ न्यूमिसमेटिक्स सोसायटी ऑफ इंडिया**-1165, पट्टिका-10-1.

प्रदेश) से प्राप्त दम्पत्ति मूर्ति में स्त्री तथा परिचारिका[128] तथा त्रिपुरी से प्राप्त मछली का बोझ उठाये स्त्री[129] मूर्ति के गले में भी एकावली हार अंकित है। अतः साहित्य के साथ-साथ समकालीन मूर्तिकला में भी इसके प्रचलन के प्रमाण प्राप्त होते हैं। बड़ी-बड़ी मोतियों से निर्मित कई लड़ी वाले हार जो प्रायः काफी लम्बे होते थे और उदर तक लटकते रहते थे, तत्युगीन स्त्रियों द्वारा धारण किये जाते थे।[130] इन ग्रीवाभूषणों के अतिरिक्त मुक्त हार, गल्पोति तथा विद्रूम माला का उल्लेख भी प्रायः समकालीन साहित्य में मिलता है।[131] दसवीं सदी के लेखक अबूजैद के अनुसार भारत में लोग गले में अमूल्य रत्नों से जड़े हार पहनते हैं।[132]

पूर्व मध्ययुगीन स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाले **हस्त-अलंकारों** में भुजबन्ध, कलाई में चूड़ियाँ, वलय, हस्तफूल और उँगलियों में विभिन्न प्रकार की अंगूठियों आदि का विवरण समकालीन साहित्य में प्राप्त होता है। हस्त-अलंकारों में

---

128. **सागर विश्वविद्यालय, पुरातत्व संग्रहालय**।

129. हावेल, **द आइडियल ऑफ इंडियन आर्ट** (दि फेमिनिन आइडियल) पृ.-69.

130. **नैषध महाकाव्य**, 3/27 'गुच्छावली मौक्तिकामि; **राउल-वेल**, पृ.-99, पद-24, धनपाल कृत **तिलकमंजरी** ,- पृ.-200, 229 'अनाभिलम्ब मौक्तिकप्रपलम्बम्' तथा पृ.-364.

131. **पृथ्वीराज रासो**, भाग-1, पृ.-1976 छन्द 116, पृ.-564, छन्द-53, पृ.-1986, छन्द 170; **हश्त-बहिश्त**-पृ.-31; **नूह-सिफीर**-1/11, पृ.-380.

132. रेनाडॅट ई. **एन्शियेन्ट एकाउन्ट ऑफ इण्डिया एण्ड चाइना बाइ टू मोहम्मडन ट्रैवलर्स**, पृ.-36.

सर्वाधिक लोकप्रिय हस्त-आभूषण भुजबन्ध था, तत्युगीन साहित्य में भुजबन्ध को केयूर की संज्ञा दी गई है।[133] भुजबन्ध वस्तुतः एक अत्यन्त प्राचीन आभूषण था जो स्त्री एवं पुरुष दोनों में समान रूप से लोकप्रिय था। पूर्वमध्ययुगीन साहित्य में उल्लिखित हस्त-अलंकारों में सलोनी नामक आभूषण का उल्लेख है।[134] वह भी सम्भवतः बाजूबन्द की ही भाँति भुजा में धारण किया जाता रहा होगा। साहित्य में वर्णन है कि सलोनी, टाड बाजूबन्द के समान स्त्रियों की बाहुओं को अलंकृत करने वाला आभूषण था। टाड बाजूबन्द वस्तुतः कुहनी से ऊपर धारण किया जाने वाला एक आभूषण था जो अन्दर से खोखले कड़े के समान होता था।[135] पूर्वमध्ययुगीन स्त्रियों द्वारा बाजुओं की सौन्दर्य-वृद्धि हेतु धारण किये जाने वाले अन्य आभूषणों में बरया अथवा बलया, [136] बाहुरखा अथवा बोरखा[137] (जो कि राजपूत स्त्रियों में विशेष प्रचलित था) तथा अंगद[138] का उल्लेख भी समकालीन साहित्य में प्राप्त होता है।

---

133. पद्मगुप्त परिमल **नवसाहसांकचरित** 15/72; **यशस्तिलक सौगन्धिकानुबद्धकमल-केयूर-पर्ययिणा; अमरकोष,** 2.6.107 केयूरमंगदं तुल्ये; **प्राकृत पैंगलम** खण्ड-1, प्राकृत सोसायटी वाराणसी, 1959, प्रथम परिच्छेद पद-31, पृ.-25.

134. दाउद कृत **चंदायन** 266/3; देवण्णभट्ट कृत **स्मृतिचन्द्रिका** पृ.-285; **तिलकमंजरी** पृ.-39, 101 **चंदायन** (माता प्रसाद गुप्त) पद 260 पृ.-253.

135. जमीला बृजभूषण, **इंडियन ज्वेलरी एण्ड आर्नामेन्ट्स** पृ.-171.

136. बरया-कुतुबन कृत **मृगावती** दोहा 203 एवं 260 पृ.-136 तथा 159.

137. **ढोला मारू रा दुहा**-दोहा-481 पृ.-114.

138. **प्राकृत पैंगलम** खण्ड-1, पद-31 पृ.-25; **यशस्तिलक** -556, पृ.-95.

अवलोकित काल की स्त्रियां कलाई को सुशोभित करने वाले विविध अलंकारों को धारण करती थीं, जिनका विवरण तत्युगीन साहित्य में प्राप्य है। इन आभूषणों में कंकण, हतपूर, चूड़े, चूड़ी तथा वलय का उल्लेख मिलता है। कंकण अथवा कंगन[139] (जिसे कंकन भी कहा जाता था) कलाई पर धारण किया जाने वाला एक प्रमुख आभूषण था। यह प्रायः दोनों सिरों पर घुंडी वाला ठोस अलंकार था। कमलनाल के समान चिकने सादे कंगनों का उस काल में अधिक प्रचलन था।[140] विभिन्न धातुओं से निर्मित रंग-बिरंगी चूड़ियों[141] (जिन्हें बालाया, बलया अथवा तार भी कहा जाता था) के उल्लेख समकालीन साहित्य में प्राप्य हैं। सोने एवं काँच के अतिरिक्त हाथी दाँत, शंख, पत्थर एवं पुष्पों की अलंकृत चूड़ियां बनती थी। हथपुर से अभिप्राय कदाचित हाथ-फूल से है, हाथ फूल पाँच जंजीरों वाले उस बलय को कहते हैं जो करमूल पर पहना जाता है, इसकी प्रत्येक जंजीर हाथ की पाँचों अंगुलियों में पहनी गई अँगूठियों के साथ बँधी होती है।[142]

---

139. **विद्यापति की पदावली** पद 171 दोहा 6 पृ.-277; ज्योतिरीश्वर कृत **वर्णरत्नाकर,** द्वितीय कल्लोल, पृ.-4; **नाथ सिद्धों की वाणियाँ,** नागरी प्रचारिणी सभा. प्रथम संस्करण, वाणी-152, पृ.-26; **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-1955 छन्द 2518.

140. विल्हण कृत **विक्रमांकदेवचरित** 8/58; **यशस्तिलक** पृ.-15.

141. **विद्यापति की पदावली** पद-38 दोहा-8 पृ.-67, बालाय; चूड़ी- **ढोला मारू रा दुहा**-दोहा-349, पृ.-81; **कुमारपाल चरित** पृ.-612 पद-395.

142. डॉ. ज्ञानचन्द शर्मा, **चंदायन का सांस्कृतिक परिवेश** पृ.-167.

वलय[143] कंगन के समान ही कलाई में धारण किया जाने वाला अलंकार था, जो स्वर्ण, रजत व अन्य धातुओं द्वारा अपने सामाजिक स्तर के अनुरूप विविध कलात्मक नमूनों में निर्मित होता था। प्रत्येक उंगली को अलंकृत करने के निमित्त अंगूठी, मुंदरी अथवा अंगुरी का प्रयोग किया जाता था। विवेच्ययुगीन साहित्य में दोनों हाथों की दसों उंगलियों में महिलाओं द्वारा अँगूठी पहने जाने का विवरण हमें मिलता है।[144] दसों उंगलियों में अँगूठी धारण करना वैभव, समृद्धि व सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता था। सम्पन्न वर्ग की महिलायें प्रायः हीरे-जवाहरातों व अन्य बहुमूल्य नगों से जड़ी हुई अँगूठियाँ पहनती थीं।[145] उंगलियों में अंगूठियों के अतिरिक्त कुछ अन्य आभूषण भी धारण किये जाते थे। इन आभूषणों में उर्मिका और अंगुलीयक का उल्लेख समकालीन साहित्य में मिलता है।[146] अंगूठे में पहनी जाने

---

143. हेमचन्द्र कृत **कुमारपाल चरित**-पृ.-631 पद 444, 'वलयावलि निपतभेदन' **यशस्तिलक**-पृ.-15, 'मृणालवलयालंकृत कलाचीदेशाभिः'.

144. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-1087 छन्द 190; मुद्रिका के लिये देखिये **बीसलदेव रासो** (डॉ. माता प्रसाद गुप्त) पद-95 पृ.-166-167; **चंदायन** (माता प्रसाद गुप्त) पद-94 पृ.-92-93 पद-329, पृ.-78, पद-169 खातम (अंगूठी) हण्डी क्यू.के.के., **यशस्तिलक चम्पू एण्ड इंडियन कल्चर, शालापुर**-1949, पृ.-121.

145. **यशस्तिलक**, पृ.-367, सरत्लोर्मिकाभरणः; **विद्यापति की पदावली**, पद-39, पृ.-68; **तिलकमंजरी** , पृ.-247, 356.

146. **प्राकृत पैंगलम** खण्ड-1 प्रथम परिच्छेद पद सं.-31 पृ.-25 **पृथ्वीराज रासो**- पृ.-1087, छन्द-190

वाली दर्पणयुक्त एक विशेष प्रकार की अँगूठी को आरसी कहा जाता था जिसके उल्लेख समकालीन साहित्य में प्राप्त होते हैं।[147]

स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाले विविध अलंकारों में कमर अथवा कटि-प्रदेश को अलंकृत करने वाले आभूषणों का विशेष आकर्षण रहा है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक आभूषणों की लम्बी परम्परा में कटिसूत्र अथवा मेखला का स्थान विशेष है। कांची,[148] मेखला,[149] रशना[150] आदि कटि-आभूषणों के निरन्तर उल्लेख विवेच्ययुगीन साहित्य में प्राप्त होते हैं। कटि-प्रदेश में धारण किये जाने वाले उपर्युक्त प्रमुख अलंकारों के साथ ही कुछ अन्य आभूषण भी महिलाओं में लोकप्रिय थे, इनमें विशेषकर छुद्रघंटियों[151] का उल्लेख किया जा सकता है। इस

---

147. **दाउद कृत चंदायन** 94/4 तथा 95/6; यादव्र प्रकाश **वैजयन्ती** 127.14.

148. अमर सिंह कृत **अमरकोष** 2.6.108 कांची सप्तकी ... हेमचन्द्र कृत **शब्दानुशासन** 6.3.12; **यशस्तिलक** पृ.-15 कांचिकोल्लास...

149. **अमरकोष** 2.6.108, स्त्री कट्यां मेखला .... **यशस्तिलक**, पृ.-100, मुखरमणि मेखला; **प्रियदर्शिका**-पृ.-50; **संदेश-रासक**, पृ.-194, पद-219; **वर्णरत्नाकर** द्वितीय कल्लोल, पृ.-4.

150. **यशस्तिलक**. पृ.-555 आरसनहारयष्टिभिः; पृ.-150, सारसना ....; **अमर कोष** रशना तथा ....; **प्रबोधचन्द्रोदय** 6/18.

151. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-1976 छन्द-122; अब्दुल रहमान कृत **सन्देश-रासक** पृ.-149-पद-26 तथा पृ.-149; पद-27 एवं पृ.-194 पद 219; **वर्णरत्नाकर** द्वितीय कल्लोल, पृ.-4; **छिताई वार्त्ता**-दोहा-580, पृ.-101.

आभूषण को सोने के तारों में छोटी-छोटी घंटिकाओं को पिरोकर बनाया जाता था, तथा घुँघरुओं की भाँति यह भी स्त्रियों के चलने पर मधुर संगीत-लहरी उत्पन्न करती थी। कमर के लिये किनकिनी[152] एवं घर्घरमालिका[153] दो अन्य विशेष आभूषण थे। समकालीन साहित्य में स्वर्णनिर्मित मणिजड़ित मेखलाओं का भी वर्णन प्राप्त होता है, जो मणि जड़े होने के कारण, साधारण मेखला से भिन्न थी व जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है राजपरिवारों व धनाड्य वर्ग की स्त्रियों द्वारा ही प्रमुख रूप से धारण की जाती रही होगी।[154]

पदाभूषणों में पायल अथवा पाजेब[155] अवलोकित काल की स्त्रियों के अत्यन्त प्रचलित चरणाभूषण थे। वस्तुतः पायल जंजीर और झूलनों से युक्त चाँदी अथवा स्वर्ण निर्मित एक पदाभरण था। समकालीन साहित्य में मुख्यतः दो प्रकार की पायल के उल्लेख होते हैं – सादी पायल तथा सुमधुर ध्वनि उत्पन्न करने वाली पायल। चलने के साथ झंकार करने वाली पायल के अनेक उल्लेख हमें पूर्वमध्यकालीन साहित्य

---

152. किंकिनी के लिये देखिये-**विद्यापति की पदावली** पद-13, दोहा-2, पृ.-26 एवं पद 171 दोहा-2 पृ.-277; **संदेश रासक** सर्ग-3 छन्द 179, पृ.- 44.

153. सोमदेव कृत **यशस्तिलक**, पृ.-234, मुक्ताघर्घरमालिका; **रत्नावली** पृ.-165.

154. विल्हण कृत **विक्रमांकदेव चरित** 2/70; अब्दुल रहमान कृत **संदेश रासक** पृ.-154 पद-52 धनपाल कृत **तिलकमंजरी** पृ.-158.

155. नरपति नाल्ह रचित **बीसलदेव रासो** छन्द 58 पृ.- 106 **दाउदकृत चंदायन** 122/7; **अमरकोष** 2.6.108; पैंजनिया-**चंदायन** माता प्रसाद गुप्त पद-94 पृ.-92-93 पद-179, **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ.-3 पद-5; पृ.- 327 पद-82.

में उपलब्ध हैं।[156] पूर्वमध्यकालीन साहित्य में इसको 'पादहंसिका' कहकर भी सम्बोधित किया गया है।

स्त्रियों के अन्य चरणाभूषणों में नूपुर था,[157] जिसे यदा-कदा अत्यन्त बहुमूल्य एवं जड़ाऊ बनाने के लिये जवाहरातों तथा विभिन्न प्रकार के मोतियों का प्रयोग किया जाता था। नर्तकियों द्वारा धारण किये जाने वाले चरणाभूषणों में घुँगरू[158] तथा झांझर[159] का उल्लेख किया जा सकता है, जो अत्यन्त लोकप्रिय थे। ये आभूषण पैरों को अलंकृत करने के साथ ही संगीतमय ध्वनि उत्पन्न करते हैं यही कारण है कि

---

156. विल्हण कृत **विक्रमादेव चरित** 7/25 **सन्देश रासक** पृ० - 149, पद 27, पृ० - 154 पद - 52, पृ० - 184 पद - 179 **पृथ्वीराज रासो** भाग - 1, पृ० - 3, पृद - 5; पृ० - 327 पद - 82.

157. नारायण दास कृत **छिताई वार्ता**-दोहा-134, पृ.-13 तथा दोहा-580 पृ.-101; जेवर के उल्लेख के लिये देखिये-**संदेश रासक** सर्ग - 2 छन्द - 26, पृ. - 9 एवं छन्द 52, पृ. - 14 नेयूर के लिये-**प्राकृत पैंगलम** (प्राकृत एवं अपभ्रंश छन्द पर एक मूल ग्रन्थ) खण्ड - 1 पद संख्या-31 पृ. - 25; **विक्रमांक देव चरित**-7/25 सज्रित नुपुराभिः।

158. घुँघरू (जिसे घुघरी अथवा घुघरा भी कहा जाता था) का उल्लेख समकालीन साहित्य में मिलता है-**ढोला मारू रा दुहा**, दोहा - 539 पृ. - 129; **मृगावती** दोहा - 3 पृ. - 87; **राउल वेल**, पृ. - 96, पद - 10; **खालिक बारी** पृ. - 78, पद - 179 जंगूलः (घुँघरू)

159. **ढोला मारू रा दुहा**, दोहा-481, पृ.-114; **पृथ्वीराज रासो** खण्ड-15, छन्द-180.

ये पदाभूषण आज भी महिलाओं में लोकप्रिय हैं और स्त्रियाँ इन्हें बड़े चाव से पहनती हैं।

चूड़ा[160] पिण्डलियों पर धारण किये जाने वाले खोखले अथवा ठोस कड़े का नाम है। यह पहनने वाले के सामर्थ्य, पद एवं मर्यादा के अनुरूप स्वर्ण, रजत अथवा राँगा आदि धातुओं से निर्मित होता था, इसे पादचूड़ की संज्ञा भी दी जाती थी। अनवट तथा बिछुआ[161] पूर्वमध्यकालीन विवाहित महिलाओं में अति लोकप्रिय आभूषण था। आज भी इन आभूषणों को सौभाग्य-चिन्ह मानकर धारण करने का पर्याप्त प्रचलन है। अनवट नामक पादभूषण को पैर के अँगूठे में पहना जाता था।[162] तथा बिछुआ पाँव की अन्य अँगुलियों में विशेषतः अँगूठे के साथ वाली अँगुली में धारण

---

160. दाउद कृत **चंदायन** 359/3, 6; **नैषध महाकाव्य** 2/125; धनपाल कृत **तिलकमंजरी** पृ.-283; सोमदेव कृत **यशस्तिलक** पृ.-100; हेमचन्द्र कृत **अभिधानचिन्तामणि** पृ.-649-651; **खालिक बारी** पृ.-77 पद 165 पाए बिरिंजन (पाँव का कड़ा)।

161. **चंदायन** (माता प्रसाद गुप्त) पद 329 पृ.-326-327 चन्दबरदाई कृत **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ.- 327, पद-82; रोड कृत **राउल वेल** पृ.-98, पद-15, धनपाल कृत **तिलकमंजरी** पृ.-32, जमीला बृजभूषण, **इंडियन ज्वेलरी एण्ड आरनामेन्ट्स** पृ.-190.

162. चन्दबरदाई कृत **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 समय-14 इच्छिनी विवाह पद 82 पृ.-131 यहाँ इसे 'अनोट खोट नग-मण्डित' (रत्नजड़ित सोने की अनवट) कहा गया है; रोड कृत **राउल वेल** पृ.-102 पद 47; जमीला बृजभूषण **इंडियन ज्वेलरी एम्ड आरनामेण्ट्स**, पृ.-190.

किया जाने वाला आभरण था।[163] कबी-कभी पॉव में एक से अधिक बिछुआ भी स्त्रियॉ धारण करती थी, वस्तुतः बिछुआ एवं अनवट अत्यंत प्राचीन काल से ही महिलाओं के सुहाग का प्रतीक माना जाता था। उस काल की स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाले उपर्युक्त अलंकारों के साथ ही मंजीर,[164]

हिंजीरक,[165] तुलाकोटि[166] और हंसक[167] जैसे आभूषणों के नाम भी मिलते हैं। निर्धन वर्ग की महिलायें सत-फल एवं फूलों के कलात्मक आभूषण निर्मित कर उन्हें अत्यन्त रुचि से धारण करती थीं।

सतखने आवासं महिलानै मझमद नूपश्या।

सतफल बज्रनु पयास पब्बिरियं नैव चालति।।[168]

इस प्रकार अवलोकित काल की महिलायें शरीर के अन्य अंगों की भाँति अपने पैरों को भी विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य पदाभूषणों से अलंकृत

---

163. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ.- 327 पद-82; **चंदायन**-छंद-95, दोहा-6.

164. सोमदेव कृत **यशस्तिक**-पृ.-101 'झणझणायम[illegible]णिमंजी रशिजितः; धनपाल कृत **तिलकमंजरी**, पृ.-283, 'चलचरणमुखमंजीरया'।

165. **यशस्तिलक**-पृ.-6117, धृतविरचित हस्ते च हिंजीरकम्।

166. **यशस्तिलक** -पृ.-354, वाचालतुलाकोटिक्कणिता कुलित-विनोदवारलम्।

167. **तिलकमंजरी** पृ.-240 विलासिनीगमनमिव कहहँसकापलकृत क्षोभम्; **यशस्तिक** पृ.-399 कंसहंसकरसिवाच[illegible]।

168. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 खण्ड-11, छन्द- 17

किया करती थीं, जो इनकी सौन्दर्यप्रियता एवं आभूषण-प्रियता का परिचायक है। पैरों में विभिन्न प्रकार के आभूषण पहने जाने के कारण सम्भवतः स्त्रियों को जूते धारण करने में किंचित असुविधा का अनुभव होता था।[169]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अवलोकित काल की स्त्रियां विभिन्न प्रकार के आभूषणों के प्रयोग में विशेष रूचि रखती थीं। स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाले आभूपणों की एक लम्बी परम्परा है, जो युगों के अनुरूप किंचित परिवर्तनों एवं संशोधनों के साथ आज भी मान्य है। भारतीय स्त्रियाँ प्रायः सिर से पाँव तक शरीर के प्रत्येक अंग को विभिन्न प्रकार के कलात्मक आभूषणों से अलंकृत करती थीं। अलंकार एवं श्रृंगार के साथ ही आभूषण हिन्दू-स्त्रियों के लिये सुहाग एवं सौभाग्य का प्रतीक-चिन्ह माने जाते रहे हैं अतः स्त्रियों के जीवन में इनका विशेष महत्व रहा है, केवल वैधव्य की अवस्था में हिन्दू-स्त्री अपने अलंकारों का त्याग करती हैं।

प्रसाधन

प्रसाधन से अभिप्राय है, सुवेश और साज-सज्ञा। मानव मन निसर्गतः श्रृंगाराभिमुख रहा है। सौन्दर्य तथा शारीरिक लावण्य के प्रति आकर्षण के कारण स्त्रियाँ विभिन्न प्रसाधनों का प्रयोग चिरकाल से करती रहीं हैं, और उनकी इस चिरन्तन प्रवृत्ति

---

169. किशोर प्रसाद साहू, **मध्यकालीन उत्तर भारतीय सामाजिक जीवन के कुछ पक्ष**, पृ.-124.

की सत्यानुभूति पूर्वमध्यकालीन साहित्य (एवं कलाकृतियों) से भी सिद्ध होती है। प्राकृतिक रुचि के कारण प्रसाधन सर्वप्रथम मनःसिला, सिन्दूर, हरताल अनेकादि प्राकृतिक वस्तुओं से प्रारम्भ हुआ।[170] जैसे-जैसे स्त्रियों की रुचि परिष्कृत होती गई, प्रसाधन के नवीन साधन विकसित हुये तथा उसमें कलात्मकता एवं सुरुचि का समावेश हुआ और प्रसाधन कालान्तर में एक कला में परिवर्तित हो गई। प्रसाधन कला में दक्ष स्त्री को सैरन्ध्री[171] कहा जाता था। अवलोकित काल में भारतीय स्त्रियॉ सोलह श्रृंगार (षोडस श्रृंगार) से भली-भाँति परिचित थीं, तत्युगीन साहित्य में नारियों के सोलह श्रृंगारों का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है।[172] इन सोलह विधानों का एक लम्बा इतिहास है तथा कालानुसार उसमें परिवर्तन भी हुआ है।[173] यह उल्लेखनीय है कि महिलाओं के सोलह श्रृंगारों में जो कि बाहर से किये जाते थे, के अतिरिक्त कतिपय ग्रन्थों में प्रकृति-प्रदत्त शारीरिक सोलह श्रृंगारों का भी वर्णन उपलब्ध होता है –

किसन धूल सित असित। थान चव एक-एक प्रति
पानि पाइ कटि कमल। संथल रजे सूक्ष्म अति
कुच मंडल भुजमूल नितंबजंघागुरु अन्तं करज हास[174]

---

170. अत्रिदेव विद्यालंकार, **प्राचीन भारत के प्रसाधन** पृ.-19.

171. 'सैरन्ध्री शिल्पकारिका' अमर सिंह कृत **अमरकोष** 2/6/18.

172. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग-62 सं.-2-3 पृ.-168-170 में प्रकाशित **'षोडश श्रृंगार'** शीर्षक का एक लेख, लेखक-बच्चन सिंह;
दाउद कृत **चंदायन** 163/1

173. **काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका** भाग-62 सं.- 2-3 पृ.-176.

174. **पृथ्वीराज रासो**; प्रथम भाग, पृ.- 1975, छन्द-105.

नारियों के सोलह श्रृंगारों में उबटन, स्नान सुगन्धित, बेणी, माँग, काजल और बिन्दी तिल, चित, मेंहदी, महावर, पुष्पमाला तथा पानरचना, सुन्दर वस्त्र एवं विविध आभूषण परिगणित किये जाते हैं।[175] इस काल में रानी व राजकुमारियों के अतिरिक्त उनकी दासियाँ भी सोलह श्रृंगार युक्त होती थीं, इस प्रकार का उल्लेख हमें समकालीन साहित्य में भी मिलता है –

सुवर्न छुद्र घंटिकादि। षोडसं वषानयं[176]

उबटन[177] लगाने का प्रचलन तत्कालीन स्त्रियों की श्रृंगारिक पद्धति में सम्मिलित था। इसे वे अपने मुख एवं शरीर के अन्य अंगों को आभायुक्त एवं सुन्दर बनाने के लिये प्रयोग में लाती थीं। शारीरिक कांति की वृद्धि के लिये चंदन

---

175. दाउद कृत **चंदायन** 287/25; अमीर खुसरो कृत **हश्त-बहिश्त** (सैय्यद् सुलेमान अशरफ द्वारा सम्पादित) पृ.-31; **प्रमाणिक हिन्दी कोष** -पृ.-1124; विल्हण कृत **विक्रमांकदेव चरित** 4/29, विद्यालंकार अत्रिदेव, **प्राचीन भारत के प्रसाधन** पृ.-19; **विद्यापति की पदावली** पद-73, दोहा-4, पृ.- 111

176. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ.-904 छन्द 316; साथ ही देखें-पृ.-1025, छन्द-60, पृ.-653, छन्द 99, पृ.-1976, छन्द-105, पृ.-1977 छन्द 126; विद्यालंकार अत्रिदेव, **प्राचीन भारत के प्रसाधन** पृ.-21.

177. चन्दबरदाई कृत **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ.-802 छन्द 304, पृ.-550 छन्द-49, पृ.-551, छन्द–51, पृ.-1025, छन्द-57; सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** पृ.-53, पद-28; अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक**, पृ.-191, पद-203; अमीर खुसरो कृत **मतलाउन अनवार**, पृ.-194.

का लेप[178] भी प्रयुक्त होता था, कांति की वृद्धि के साथ ही चंदन लेप शरीर को सुगन्धित भी करता था। सती होने से पूर्व भी तत्युगीन महिलायें चंदन का लेप लगाती थीं।[179] कतिपय विशिष्ट अवसरों पर गोरोचन,[180] कुंकुम[181] तथा सुगन्धित कस्तूरी विलेपनों[182] (अंगरागों) का प्रयोग तत्युगीन स्त्रियाँ स्वयं को आकर्षक बनाने निमित्त करती थीं। अमीर खुसरो ने गाजा (एक प्रकार का अनुलेप जिसे चेहरे पर लगाया जाता है) अथवा सफेदा[183] का उल्लेख किया है। तथापि अमीर खुसरो ने इन प्रसाधनों के प्रयोग

---

178. अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक** पृ.-174, पद-135, पृ.-175, पद-137, पृ.-175, पद-138, पृ.-176 पद-143 **पृथ्वीराज रासो**-पृ.-1955, चन्द 2520, सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** पृ.-53 पद- 28; **बीसलदेव रासो**-पृ.-234 पृ.-59;

179. अमीर खुसरो कृत **नूह-सिफिर** 1/11 पृ.-560.

180. **नैषध महाकाव्य** 10/56; अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक** पृ.- 103, पद-206; **तिलकमंजरी**-पृ.-161; दशरथ शर्मा, **अर्ली चौहान डायेनस्टीज**, नई दिल्ली-1959, पृ.-256-257.

181. नरपति नाल्ह कृत **बीसलदेव रासो** पृ.-234 पद-59 **सन्देश रासक**, पृ.-182, पद-182, पृ.-187, पद-187, प.-187 पद-189; **वर्णरत्नाकर** तृतीय पल्लव, पृ.-11.

182. **कथासरित्सागर** पृ.-53, पद-28; **सन्देश रासक**, पृ.-190, पद-202, पृ.-187 पद-189, पृ.-184, पद-178.

183. अमीर खुसरो रचित **मतला-उल-अनवार** पृ.-194 तथा अमीर खुसरो कृत **हश्त-बहिश्त**-पृ.-31.

का विरोध किया है और कहा है कि इन प्रसाधनों के अभाव में महिलायें अधिक सुन्दर प्रतीत होती हैं।[184] तत्युगीन स्त्रियाँ अपने शारीरिक आकर्षण की वृद्धि हेतु अनेकों युक्तियाँ अपनाती थीं। स्त्रियां प्रायः सुगन्धित तेलों के प्रयोग के पश्चात ही स्नान करती थी।[185]

स्नान भारतीय जीवन का एक अनिवार्य नित्य कर्म है, इसके अतिरिक्त हिन्दुओं में धार्मिक दृष्टिकोण से भी स्नान को एक पावन कर्त्तव्य माना जाता है। हिन्दू समाज में प्रत्येक विशिष्ट धार्मिक और मांगलिक अवसर पर स्नान का विधान रहा है।[186] अल्बेरुनी ने हिन्दुओं में प्रचलित धावन क्रिया का उल्लेख इस प्रकार किया है – "धावन क्रिया में वे सर्वप्रथम अपना पद धोते हैं फिर मुख, इस प्रकार स्वयं को स्वच्छ कर लेते हैं।[187] स्त्रियाँ अपनी श्रृंगार-सज्जा प्रारम्भ करने से पूर्व विभिन्न प्रकार की सुगन्धित वस्तुओं यथा मृगमद[188] तथा कर्पूर[189] आदि से

---

184. **हश्त बहिश्त** पृ.-31; **मतलाउल-अनवार**, पृ.-255.

185. नारायण दास कृत **छिताई वार्त्ता**, दोहा-316, पृ.-451 विद्यापति की **कीर्तिलता**, तृतीय पल्लव, छन्द-24 दोहा-101 पृ.-184.

186. मुल्ला दाउद कृत **चंदायन** 41/1.

187. **अल्बेरुनीज इंडिया**, भाग-1 (सचाऊ) पृ.-181.

188. **विद्यापति की पदावली** पद-135 एवं 145 तथा पद-180, पृ.-190.

189. ज्योतिरीश्वर कृत **वर्णरत्नाकर** , तृतीय पल्लव, पृ.-11; **छिताई वार्त्ता** चौपाई-186, पृ.-20.

जल को सुवासित कर उससे स्नान करती थीं।[190] स्नान के पश्चात विलेपन का विधान था, पूर्वमध्यकालीन स्त्रियाँ शरीर को सुवासित रखने तथा उसकी शोभा एवं कान्ति में अभिवृद्धि हेतु अगरू,[191] चन्दन,[192] कस्तूरी[193] तथा केसर[194] जैसे द्रव्यों के उपलेपन का प्रयोग करती थीं। समकालीन साहित्य में स्नान क्रिया तथा तत्पश्चात विलेपन द्वारा शरीर को सुवासित करने की क्रिया को सोलह श्रृंगारों में स्थान प्रदान किया गया क्योंकि इन विलेपनों के प्रयोग द्वारा शरीर का अंग-प्रत्यंग निखर उठता था। महिलायें श्रृंगार हेतु सुगन्धित द्रव्यों यथा धूप इत्यादि का प्रयोग भी करती थीं।

---

190. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-551, छन्द 53 तथा पृ.- 1025, छन्द-57, पृ.-1969 छन्द 51; दाउद कृत **चंदायन** 52/12, 448/1 तथा 249/3.

191. डॉ. ज्ञानचन्द शर्मा, चन्दायन, **सांस्कृतिक परिवेश**, पृ.-156; **नवसाहसांक चरित** 14/46; **मृगावती** दोहा- 192, पृ.-131.

192. अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक** पृ.-174 पद 135 पृ.-175, पद-137, पृ.-176, पद-143, **पृथ्वीराज रासो**. पृ.-1955, छन्द 2520; **बीसलदेव रासो**, पृ.-234. पद-59.

193. **नवसाहसांक चरित** 14/56; **सन्देश रासक** , पृ.-190, पद-202, पृ.-187 पद-189; **विद्यापति पदावली**. पद 135 एवं 145, पृ.- 180 एवं 190.

194. **पृथ्वीराज रासो**, खण्ड-2 समय 23 दोहा-2, पृ.-599, **सन्देश रासक**, पृ.-187, पद-189.

अभिजात्य वर्ग की स्त्रियाँ अपने शरीर को विभिन्न प्रकार की धूपों से सुवासित करतीं तथा अनेक सुगन्धियॉ लगाती थीं।[195]

विवेचन से स्पष्ट होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही स्त्रियॉ अपने शारीरिक लावण्य तथा सौन्दर्य के प्रति जागृत थीं। विभिन्न प्रसाधनों के सुरुचिपूर्ण प्रयोग द्वारा अपने प्राकृतिक सौंदर्य में वृद्धि करना स्त्रियों को सदैव ही प्रिय रहा है।

केश-विन्यास

समकालीन साहित्य में उल्लिखित स्त्रियां अपने केश-विन्यास एवं प्रसाधन के विषय में पूर्णतया सजग थीं। केश-विन्यास के प्रति स्त्रियों की विशेष रूचि रही है, केशों के सुरुचिपूर्ण विन्यास के द्वारा अपने सौन्दर्य में अभिवृद्धि करना स्त्रियों को चिरकाल से ही प्रिय रहा है। सुन्दर केश-विन्यास भी वस्तुतः एक कला होती है। विवेच्ययुगीन स्त्रियॉ उक्त कला में पर्याप्त निपुण थीं, यह तथ्य मूर्तियों में व्यवहृत केश-सज्जा तथा समकालीन साहित्यिक विवरणों से और अधिक स्पष्ट हो जाता है। अभिजात और धनिक वर्ग की स्त्रियों के केश प्रायः दासियाँ प्रसाधित करती थीं, जो सेविकाओं के रूप में नियुक्त की जाती थीं। ऐसी सेविकाओं केशकारिणी[196] की संज्ञा से तत्कालीन साहित्य में सम्बोधित किया गया है।

---

195. **बीसलदेव रास** (डॉ. माता प्रसाद गुप्त) छन्द-59, पृ.-140;

पृथ्वीराज रासो-प्रथम भाग, पृ.-551, छन्द-53 तथा पृ.-1955, छन्द 2520.

196. अल्तेकर, **वुमैन पोजीशन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** पृ.-300.

केशों को स्निग्ध एवं चमकीला बनाये रखने के लिये विभिन्न प्रकार सुवासित तेलों का प्रयोग किया जाता था।[197] स्त्रियों के केश सदैव ही सुविन्यस्त रहते थे तथा विभिन्न प्रकार के सुगन्धित तेलों की मिश्रित सुमधुर सुगन्ध उनकी केश-राशि से आती रहती थी। केशों को सुखाने के लिये भी सुगन्धित धूप के धुँये का प्रयोग किया जाता था।[198] स्नान के पश्चात केशों को विन्यस्त कर माँग निकालकर[199] माँग को मोतियों से अलंकृत कर,[200] अगरु-चन्दन तथा बेला-चम्पा[201] इत्यादि से सुगन्धित कर इन्हें विभिन्न कलात्मक ढंग से गूंथकर स्त्रियाँ अपनी केशराशि की वेणियाँ बनाती थीं।[202] श्रृंगार विधियों के अनेक वस्तुओं में पुष्प का विशेष महत्व था। स्त्रियाँ अपने केशों को पुष्पों से सुशोभित करती थीं तथा पुष्पों को आभूषणों की भाँति पहनती थी।

---

197. केवड़ा (सुगन्धित पांडानुन फूल) से निर्मित तेल के लिये देखिये-नरपति नाल्ह कृत **बीसलदेव रासो**, छन्द-96, पृ.-138; अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक**, छन्द-187, पृ.-46; **पृथ्वीराज रासो** पृ.-803, छन्द-310 तथा पृ.-1998, छन्द-53.

198. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-1968, छन्द-55; ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत **कीर्तिलता** तृतीय पल्लव छन्द-24, दोहा-101, पृ.-194.

199. दाउद कृत **चंदायन** 52/2, 75/2; **पृथ्वीराज रासो**, भाग-1, पद-803, छन्द-310 तथा पृ.-1998, छन्द-53.

200. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-803 छन्द-311.

201. दाउद कृत चंदायन 252/3; **विद्यापति की पदावली**-पद-42, दोहा- 6.

202. **नवसाहसांक** चरित 7/12; **मानसोल्लास** 10/23-24, दाउद कृत **चंदायन** 76/2-3; **पृथ्वीराज रासो**-पृ.-803, छन्द-310.

अनेक पुष्प बीचि ग्रंथि। भासिता त्रिषंडियं।
मनो सनाग पुष्प जाति। तीन पन्थि मंडिय।[203]

स्त्रियों द्वारा अपनी केश-राशि से बनाई गई वेणियों के लिए अन्य भी अनेक शब्दों का प्रयोग पूर्वमध्यकालीन साहित्य में उपलब्ध है, यथा-जूड़ा,[204] वेणी,[205] खोंपा[206] आदि। विवेच्ययुगीन साहित्य के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि स्त्रियाँ अपने केशों को ढीले-ढीले लम्बे लच्छों के रूप में खुला छोड़कर लटका देती थी, तथा यदा-कदा गर्दन पर जूड़ा भी बाँधती थीं।[207] पूर्वमध्यकालीन साहित्य में उल्लिखित सम्पन्न वर्ग की स्त्रियाँ अपने केशों के अलंकरण हेतु भी कतिपय

---

203. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-803, छन्द-310; साथ ही देखें **विद्यापति की पदावली**, पद-42, दोहा-6; **जर्नल ऑफ दि यूनाइटेड प्राविन्सेज**, हिस्टोरिकल सोसायटी न्यू सीरीज, भाग-3, खण्ड-2, 1955, पृ.-146 में प्रकाशित "**कास्मेटिक्स एण्ड क्राफर ऐज स्कल्पचर्ड इन दि खजुराहो टेम्पल्स**" शीर्षक लेख, लेखिका - डॉ. उर्मिला अग्रवाल।

204. हेमचन्द्र रचित **देशीनाममाला**, तृतीय सर्ग, छन्द-35, पृ.-114; **प्राकृत पैंगलम** (भोलाशंकर व्यास) प्रथम परिच्छेद-पद-25, पृ.- 20.

205. **मृगावती** पृ.-141; **चंदायन** 252/3; **पृथ्वीराज रासो**, पृ.-803, छन्द 310.

206. दाउद कृत **चंदायन** छन्द 207, दोहा-4, पृ.-114, **देशीनाममाला** छन्द-36, पृ.-114.

207. डॉ. मोतीचन्द्र-**प्राचीन भारतीय वेशभूषा** अध्याय-16, पृ.-217; चन्दा एम. **कास्मेटिक एण्ड काफ़ुयर** इन जर्नल ऑफ दि इंडियन सोसायटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट, वोल्यूम 1/111, 1940, पृ.-80, 105.

आभूषणों का प्रयोग करती थीं, स्त्रियों द्वारा जूड़े को स्वर्ण अथवा चाँदी से निर्मित चंद्रिकाओं से अलंकृत किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[208] मॉग में सिन्दूर भरना विवाहित हिन्दू स्त्रियों में शुभ एवं सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है अतः पूर्वमध्ययुगीन स्त्रियां भी अपनी माँग सिन्दूर एवं मोतियों से अलंकृत करती थीं।[209] समकालीन साहित्य में कुंकम तथा केसर जैसे सुगन्धियों से भरी देदीप्यमान माँग के भी उल्लेख हैं।[210] विवाहित स्त्रियाँ सिन्दूर रखने के लिये एक सुन्दर डिबिया (सिन्दूर का पात्र) रखती थीं जिसे सिंधोरा[211] कहा जाता था, यह एक विशेष महत्व की वस्तु थी जिसे सुहाग व सौभाग्य का प्रतीक माना जाता था।

---

208. **राउल वेल** पृ.-98, पद-21; पृ.-100, पद-103; **कीर्तिलता** तृतीय पल्लव छन्द 24 दोहा-101; चन्दा एम. **'कास्मेटिक एण्ड कॉफ्रयोर'** इन जरनल ऑफ इंडियन सोसायटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट, वोल्यूम 1/111, पृ.-80, 105.

209. **पृथ्वीराज रासो**-भाग-1, पृ.-903 छन्द-311; दाउद कृत **चंदायन** छन्द-52, दोहा-2, पृ.-109; **अर्ली चौहान डायनेस्टी** पृ.-256-257.

210. **नवसाहसांक चरित** 7/14; धनपाल कृत **तिलकमंजरी**, पृ.-262; चन्दा एम. **'कास्मेटिक एण्ड काफ्रयोर'** इन जरनल ऑफ इन्डियन सोसायटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट वोल्यूम 1/111, पृ.-80, 124.

211. दाउद कृत **चंदायन** छन्द-88 दोहा-2, पृ.-124 तथा छन्द-253, दोहा-1, पृ.-224; **कीर्तिलता** द्वितीय पल्लव छन्द-133, पृ.-259.

तिलक-रचना

मस्तक पर तिलक रचना का हिन्दू संस्कृति में विशेष महत्व है। तिलक की रचना शोभा एवं मंगल हेतु की जाती है एवं इसे विवाहित स्त्रियों के सौभाग्य एवं सुहाग का प्रतीक माना जाता है। समकालीन साहित्य में तिलक का वर्णन नारी श्रृंगार के एक प्रमुख अंग के रूप में हुआ है। स्त्रियाँ हाथ में दर्पण लेकर मस्तक पर तिलक तथा बिन्दी (टिकुली) लगाती थीं –

तिलवक सभाल रची रचि रेष। मनो भय गेहु दुआरिन देष
धनं भुज इअ तिलवकस रानि। जिसे घर अद्धर लग्ग सुतानि[212]

स्त्रियों द्वारा भाल पर लगाया जाने वाला तिलक कस्तूरी, चंदन एवं कंकुम आदि से निर्मित किया जाता था।[213] कस्तूरी, चंदन और कंकुम का प्रयोग केवल मस्तक को ही सुसज्जित करने अथवा श्रृंगारिक उद्देश्य के लिये ही नहीं किया जाता था, बल्कि यह शीतलता एवं सुगन्ध भी प्रदान करता था। तिलक एक विवाहित महिला के सुहाग का भी प्रतीक था, निस्संदेह दुर्भाग्यवश यदि वह विधवा हो जाती तो अपने मस्तक से तिलक अथवा बिन्दी को पोंछ देती थीं।

---

212. **पृथ्वीराज रासो**, पृ.-1968, छन्द-57 तथा पृ.-1954, छन्द 2515;
बीसलदेव रासो, छन्द-102, पृ.-144.

213. विद्यापति कृत **कीर्तिलता**, द्वितीय पल्लव, छन्द-24, दोहा-136, पृ.-84;
बीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह) छन्द-102, पृ.-144; **पृथ्वीराज रासो**, पृ.- 1968, छन्द-57 तथा पृ.-1954, छन्द्र-2515.

आलोच्य काल में नारियाँ अपनी ठोढ़ी पर तिल बनाकर अपने मुख की शोभा बढ़ाती थीं। समकालीन साहित्य में तिल बनाकर श्रृंगार को नारी के सोलह श्रृंगारों में एक श्रृंगार कहा गया है –

चिबवक बिन्द असेत सुबानि। प्रसारित कज अली सिसु ठानि।।[214]

इसी प्रकार तत्युगीन स्त्रियों द्वारा कपोल चित्र अंकित करने का भी उल्लेख मिलता है, यह चित्र-कर्म प्रायः चन्दन, गोरोचन, कस्तूरी और धनसार के द्वारा किया जाता था –

कुंडली मंडि बंदन सुचन्द। कसतूर ठिगह धनसार बिन्द।।[215]

अंजन या काज़ल

अंजन या काज़ल का प्रयोग भारत में चिरकाल से ही किया जाता रहा है। अंजन का ही एक प्रकारान्तर काज़ल है। स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य वृद्धि हेतु नेत्रों में शलाका द्वारा सुरमा और काज़ल का प्रयोग करती थीं।[216] समकालीन साहित्यिक

---

214. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ.-1969, छन्द 61; अमीर खुसरो कृत, **हश्त-बहिश्त** पृ.-31.

215. **पृथ्वीराज रासो**-भाग-1, पृ.- 1975, छन्द-107; **कीर्तिलता** द्वितीय पल्लव, छन्द-24 दोहा-136, पृ.-84.

216. अमरी खुसरो कृत **मतलाउल-अनवार**-पृ.-215 **पृथ्वीराज रासो** , पृ.-565, छन्द-159; दाउद कृत **चंदायन** 287/3; अब्दुल रहमान कृत **संदेश रासक**, पृ.-149, पद-28.

कृतियों में काज़ल को नारी श्रृंगार का एक अंग माना गया है।[217] तत्युगीन स्त्रियाँ सुरमा और काज़ल की स्याही से अपनी भौंहों का भी श्रृंगार करती थीं –

रचे जल कज्जल रेष सुमेष। मुषी भय काम जरै जनु एब।।[218]

अधर-रंजन

अधरों का सौन्दर्य उनकी लालिमा में निहित माना जाता है। अधरों की प्राकृतिक लालिमा को कृत्रिम साधनों से रंजित कर और अधिक गहरा करने का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। समकालीन साहित्य में अधरों के श्रृंगार हेतु मोम और अलक्तक (आलता) के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है।[219] अवलोकित काल में ताम्बूल के सेवन द्वारा दाँतों एवं ओष्ठों को रंगने का विशेष प्रचलन था।[220] कर्पूर जाफ़रान, केसर व हिना बहुल पान के प्रयोग का उल्लेख तत्युगीन

---

217. **सन्देश रासक**, पृ.-26, पद-106; **पृथ्वीराज रासो**- पृ.- 5, छन्द-9 तथा पृ.-62, छन्द-44; **ढोला मारू रा दुहा**, दोहा-353, पृ.-82.

218. **पृथ्वीराज रासो**-पृ.-1968, छन्द-58; अमीर खुसरो कृत **मतलाउल-अनवार** पृ.-215.

219. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, **प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद** पृ.-24; अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक**, पृ.-186 पद-187.

220. **सन्देश रासक** पृ.-154 पद-50; दामोदरगुप्त कृत **कुट्टनीमतम्**, वाराणसी- 1961, पृ.-70 'अन्तर्धृतताम्बूलप्रोच्छन कपोल कलित करपर्णः'; हेमचन्द्र कृत **देशीनाममाला** -4.42.

साहित्य में हमें मिलता है।[221] पान के सेवन के पश्चात ही नारियों का श्रृंगार सम्पूर्ण माना जाता था।[222] रानियों के साथ उनका ताम्बूल का डिब्बा रखने वाली परिचारिकाओं का उल्लेख भी साहित्य में उपलब्ध है, जिन्हें 'ताम्बूलकरंकवाहिनी' कह कर सम्बोधित किया गया है।[223]

भारतीय स्त्रियाँ चिर-काल से ही अपने हाथ एवं पाँव को रंजित करने हेतु मेंहदी का प्रयोग करती रही हैं। हाथों का श्रृंगार हथेली पर मेंहदी रचा कर ही पूर्ण माना जाता था।[224] समकालीन साहित्य में मेंहदी द्वारा नख-रंजन के उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं –

दर्पन दल नष जोति। सुरंग मिंहदी रुचि रुचियूय।।[225]

---

221. **सन्देश रासक** पृ.-184. पद-179, पृ.-155, पद-54; **नैषध चरित** पृ.-518; **पृथ्वीराज रासो**, पृ.-1954 छन्द-2516 तथा पृ.-1957, छन्द-2507.

222. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-1954, छन्द-2516; **चंदायन** 248/2; **ढोला मारू रा दुहा**-353, पृ.-82 अमीर खुसरो कृत **नूह-सिफिर** 1/11, पृ.-383.

223. हेमचन्द्र कृत **देशीनाममाला** 4.42; बाणभट्ट कृत **कादम्बरी** उज्ञयिनी वर्णन 'ताम्बूल करंकवाहिनी'।

224. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-802, छन्द-304 तथा पृ.-1025, छन्द-57; **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान**, पृ.-216; **इब्नबतूता**, अनुवाद महदी, पृ.-78.

225. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-327 छन्द-81; साथ ही देखें-**बीसलदेव रासो** (डॉ. माता प्रसाद गुप्त) छन्द-72, पृ.-153-154.

पैरों को आलता से रंजित करना भी विवाहित स्त्रियों का सौभाग्य चिन्ह माना जाता है। समीक्षाधीन अवधि के साहित्य में वर्णित अलक्तक रस से तात्पर्य पैर रंगने वाले द्रव्य से है।[226] अवलोकित काल में एड़ियों के श्रृंगार हेतु जावक, महावर तथा आलता आदि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था –

एड़ी इगुर रंग। उपम ओपियै सु संचिय।
सौतिन सकल सुहाग। भाग जावक तल बंधिय।[227]

दर्पण[228] (अदर्शिका या आईना) श्रृंगार विधि का अभिन्न अंग व उपकरण था। इस युग में निर्मित मूर्तियों में भी प्रायः यह प्रदर्शित किया गया है कि स्त्रियों के बायें हाथ में दर्पण है तथा दाहिना हाथ श्रृंगार करने में व्यस्त है।[229] स्त्रियाँ दर्पण में अंग-प्रत्यंग की छवि निहारकर तदनुरूप श्रृंगार करती थीं। मूर्तिकला में अंकित

---

226. **विद्यापति पदावली** - प्रथम संस्करण-1952, पद-91 दोहा-12, पृ.-145 तथा पद-129 दोहा-10, पृ.-204; **पृथ्वीराज रासो** का भाग-1, पृ.-1086, छन्द-182.

227. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-565, छन्द- 160; **विद्यापति पदावली**, रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी द्वारा सम्पादित, पद-62, पृ.-89.

228. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 समय-14 दोहा-82 पृ.-327; चंदायन (माता प्रसाद गुप्त) पद 332 पृ.-331; **जर्नल ऑफ यू।पी। हिस्टोरिकल सोसायटी**, न्यू सीरीज भाग-3 खण्ड-2, 1955, पृ.-148, **मतलाउल-अनवार** पृ.-228.

229. हावेल ई.बी. **'द आइडियल ऑफ इंडियन आर्ट'** लन्दन-1911, अध्याय-6; **'द फेमिनिन आइडियल'** पृ.-89; **मेम्वायर्स ऑफ आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया**-16, पृ.-11, पट्टिका-11, बी.सी.

दृश्य वस्तुतः तत्युगीन साहित्य के वर्णनानुरुप हैं, जब कोई स्त्री अपने कपोलों पर श्रृंगार प्रसाधन का प्रयोग करती या होठों पर लाली लगाती, मस्तक पर तिलक धारण करती, नयनों को अंजित करती, अपनी माँग में सिन्दूर भरती तथा बिन्दी लगाती थी, तो समस्त श्रृंगार के दौरान दर्पण का प्रयोग अवश्य करती थीं –

तिलवक द्रप्पनं करी। श्रवन्न मंडनं धरी।[230]

प्रसाधनों में पुष्प प्रयोग

पुष्प सदैव से अपनी सुगंध, कोमलता एवं सुन्दरता के कारण लोकप्रिय रहे हैं। देव अर्चना से लेकर वैयक्तिक श्रृंगार तक पुष्पों के विविध प्रकार के प्रयोग के उदाहरण हमें साहित्य में मिलते हैं। प्राचीन काल से पुष्पों के विविध आभूषण निर्मित कर स्त्रियाँ उनसे अपने अंग-प्रत्यंग को सुसज्जित करती थीं।[231] पूर्वमध्ययुगीन साहित्य में पुष्पहारों की गर्णना आभूषणों के अन्तर्गत की गई हैं –

कबरी, कुसुमं निसरत नयं। श्रुति कुण्डल लाल दुसाजनयं।।[232]

---

230. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-1968, छन्द-57 तथा पृ.-1954, छन्द-2215; अमीर खुसरो कृत **हश्त-बहिश्त** पृ.-31; **मतलाउल-अनवार** पृ.-228.

231. **विद्यापति की पदावली** पद-42, दोहा-6; **काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका** भाग-6 2, सं-2-3, पृ.-168-170 में प्रकाशित **षोडश श्रृंगार** लेख, लेखक बच्चन सिंह।

232. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.- 1963, छन्द-13; **चंदायन** (माता प्रसाद गुप्त) पृ.-205, पद 210.

ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च वर्ग की स्त्रियों के आभूषण स्वर्ण तथा मुक्ता मणियों से निर्मित होते थे, जबकि सामान्य वर्ग की स्त्रियाँ धनाभाव के कारण पुष्प-लताओं के आभूषण धारण कर अपने सौन्दर्य को द्विगुणित करती थी।[233]

पूर्वमध्ययुगीन साहित्यिक रचनाओं में गणिकाओं की श्रृंगार विधियों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। वे अपने मुख का भली-भाँति मण्डन करतीं, सिन्दूर लगातीं, वेणी गूँथती, टीका लगार्ती, दिव्य वस्त्र धारण करतीं, केश जाल को उभार कर सज्जित करतीं तथा विभिन्न प्रकार के सुगन्धित पुष्पों द्वारा श्रृंगार करती थीं।[234]

इस प्रकार समीक्षाधीन साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि तत्युगीन स्त्रियां विभिन्न प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों से भलीभॉति परिचित थीं। सिर से नख तक, श्रृंगार, वस्त्र और आभूषणों के प्रयोग के द्वारा वे अपने प्राकृतिक सौंदर्य में और अधिक वृद्धि का प्रयास करती थी। श्री अत्रिवेद विद्यालंकार लिखते हैं – प्रसाधन से श्रृंगार या सौन्दर्यवृद्धि पहले मुख्य उद्देश्य रही, किन्तु बाद में उसके साथ ही शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य की दृष्टि भी सम्मिलित हो गई।[235]

---

233. **इंस्क्रिप्शेस ऑफ बंगाल** पृ.-47 (रत्न पुष्पाणि हरास्तांक); एम.चन्द्रा, **कॉस्मेटिक एण्ड कॉफ्रयोर** वोल्यूम 1/111, 1940.

234. **कीर्तिलता** (डॉ. वीरेन्द्र श्रीवास्तव) पद-134-140, पृ.-79 तथा कीर्तिलता (चिरगाँव, झांसी) साहित्य सदन, प्रथम संस्करण, द्वितीय पल्लव, छन्द-24, दोहा-136, पृ.-84.

235. अत्रिवेद विद्यालंकार, **प्राचीन भारत के प्रसाधन**, पृ.-21

चतुर्थ अध्याय

संस्कार

प्राचीन काल से हिन्दू समाज में संस्कारों का संयोजित विधान रहा है। जीवन में संस्कारों की संयोजना इसलिये की गई कि मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक विकास हो सके तथा उसका दैहिक और भौतिक जीवन सुव्यवस्थित हो सके। संस्कार का मूल आधार धर्म है जिसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन को उन्नत, परिष्कृत एवं सुसंस्कृत बनाता है। संस्कारों द्वारा मनुष्य अपनी सहज प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास कर अपना और समाज दोनों का कल्याण करता था।[1] संस्कारों के विभिन्न क्रमिक रूप मनुष्य के जन्म के पहले से ही प्रारम्भ होकर उसकी मृत्यु के पश्चात तक निरन्तर बने रहे। संस्कृत साहित्य में संस्कार शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं धार्मिक विधि विधान, शुद्धि, परिष्कार, शिक्षा प्रशिक्षण, धारणा, क्रिया की विशेषता, पवित्रता अनुष्ठान आदि, इनकी सम्पन्नता शास्त्रों के निर्देशानुसार मानी गई है।

मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन संस्कारों से आवृत्त रहा है जो समय-समय पर सम्पादित किये जाते रहे हैं संस्कारों का प्रचलन वैदिक युग से ही रहा है किन्तु इनका विवरण वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। सूत्रों और स्मृतियों में संस्कारों के विषय में विस्तार से लिखा गया है। मनुष्य के जीवन में कितने संस्कार होने चाहिये, इस विषय में धर्मशास्त्रकारों में मतभेद है गौतम[2] ने संस्कारों की संख्या चालीस बताई है

---

1. काणे, **हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र,** जिल्द-2, भाग-1, पृ.-192.

2. **गौतम धर्मसूत्र** 1.822, इत्येते चत्वारिशंत्संकारा

और वैखानस [3] ने अट्ठारह, इसके अतिरिक्त कुछ शास्त्रकारों ने संस्कारों की संख्या तेरह बताई है।[4] किन्तु प्रायः अधिकांश धर्मशास्त्रकार संस्कारों की संख्या सोलह मानते हैं – गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन चूर्णाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ उपनयन, वेदारम्भ, केसान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। वस्तुतः संस्कारों की संख्या उनकी मान्यता पर ही निर्भर करती थी। समाज में जितने संस्कार स्वीकार किये गये तथा समयानुसार जिन संस्कारों का पालन किया गया, वे ही अधिक प्रचलित हुये।

गर्भाधान अथवा निषेक हिन्दू समाज में किया जाने वाला प्रथम संस्कार है। वस्तुतः विवाहोपरान्त स्त्री का गर्भवती होना ही गर्भाधान है। इस संस्कार में एक मन्त्र का पाठ किया जाता है जिसका भावार्थ है कि जिस प्रकार पृथ्वी अनेक रत्न उत्पन्न करती है उसी प्रकार यह स्त्री भी ऐश्वर्य के लिए पुत्र उत्पन्न करे।[5] वैदिक काल से लेकर पूर्वमध्यकाल तक इस संस्कार का प्रचलन रहा।[6] अल्बेरुनी के अनुसार विवाह के पश्चात सन्तान के निमित्त व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह गर्भाधान नामक यज्ञ करे।[7] बारहवीं शती ई. के ग्रन्थ मानसोल्लास में इस संस्कार का उल्लेख मिलता

---

3. **वैखानस धर्मसूत्र**-3.2
4. **पाराशर गृह्यसूत्र**-7.31, गुजराती प्रेस संस्करण-1917
5. **अथर्ववेद**-6, 17
6. **मिताक्षरा**, याज्ञवल्क्य-1.11; **स्मृतिचन्द्रिका**, पृ.-17, अपरार्क, पृ.- 25
7. **अल्बेरुनीज इंडिया**, सचाऊ कृत, भाग-2, पृ.-156

है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बारहवीं शती ई. तक राजकीय परिवारों में यह संस्कार सम्पन्न होता था।[8] किन्तु लज्जावश इस संस्कार का प्रचलन मन्द हो गया और अन्त में समाप्त हो गया। कुछ शास्त्रकारों ने इस संस्कार को निषेक, चतुर्थीकर्म अथवा चतुर्थी होम नाम से अभिहीत किया है।[9]

गर्भ के तीसरे महीने पुंसवन संस्कार का आरोपण किया जाता था। अवलोकित काल के साहित्य में भी इस संस्कार का उल्लेख मिलता है।[10] यह संस्कार पुत्रसन्तानोत्पत्ति के निमित्त सम्पन्न होता था।[11] वस्तुतः हिन्दू परिवार में पुत्र की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण थी, श्राद्ध, पिण्डदान आदि का अधिकार केवल पुत्र को ही प्राप्त था तथा पुत्र से ही वंश और कुल की निरन्तरता बनी रहती थी, इस संस्कार द्वारा पुत्र होने में बाधा उत्पन्न करने वाली स्थितियों का देव-पूजन के माध्यम से निवारण होता था। बारहवीं शती ई. में दक्षिणापथ में माता को इस अवसर पर जौ और उड़द की दाल खाने को दी जाती थी।[12] सम्भवतः इस संस्कार का धार्मिक महत्व होने के साथ-साथ कुछ आयुर्वेदिक महत्व भी था।

---

8. सोमेश्वर कृत, **मानसोल्लास**, सम्पा. जी.के. श्रीगोण्डेकर; बड़ोदा-1925, 3, 1246-47

9. **याज्ञवल्क्य स्मृति** 1.10.11; **पाराशर गृह्य सूत्र** 1.11, **आपस्तम्ब गृह्य सूत्र**-8.10.11

10. **मिताक्षरा**, याज्ञवल्क्य स्मृति 1.11; **स्मृतिचन्द्रिका**-1 पृ.-17, **अपरार्क**-पृ.-25

11. **आपस्तम्ब गृह्यसूत्र**-14.9

12. **मानसोल्लास** -3, 1250-52

सीमान्तोन्नयन नामक संस्कार गर्भ के चौथे महीने में आयोजित होता था। इसका उद्देश्य था कि पत्नी स्वस्थ एवं आनन्दचित्त रहकर वीर पुत्र को जन्म दे।[13] इस संस्कार को सीमन्तोन्नयन इसलिये कहा गया कि इसकी सम्पन्नता में गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमन्त) को ऊपर (उन्नयन) उठाया जाता था।[14] अल्बेरुनी ने तत्युगीन भारतीय समाज में प्रचलित इस संस्कार का उल्लेख किया है।[15] स्त्री के सुख और सान्त्वना तथा विघ्न बाधाओं से उसकी रक्षा के निमित्त यह संस्कार सम्पादित किया जाता था।

हिन्दू विधि वेत्ताओं द्वारा निर्धारित सोलह प्रमुख अनुष्ठानों में से कुछ संस्कारों का ही पालन प्रायः अधिकांश हिन्दू, व्यवहार में करते पाये जाते हैं जिनमें, जातकर्म, नामकरण, चूणाकरण, उपनयन, विवाह तथा मरणोपरान्त के कर्म अधिक महत्वपूर्ण है। पुत्र जन्म के समय सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार जातकर्म (जन्म-अनुष्ठान) सम्पन्न होता था। अनिष्टकारी शक्तियों का नवजात शिशु पर कोई कुप्रभाव न पड़े, इसलिये यह संस्कार सम्पादित होता था। इस संस्कार का प्रमुख उद्देश्य बालक को स्वस्थ और प्रखरबुद्धि वाला बनाना था। पूर्वमध्यकालीन लेखकों ने भी जातकर्म संस्कार पर प्रकाश डाला है।[16] अल्बेरुनी के अनुसार पुत्र जन्म और माँ द्वारा उसका पोषण

---

13. **आश्वलायन गृह्य सूत्र**, सम्पा. ए.जी. स्टेंनजलर; लिपजिंग, 1864, 1, 14, 1-9; **गोभिल गृह्यसूत्र** 2, 7, 2
14. **पाराशर गृह्य सूत्र** 1.14.2; **बौधायन गृह्यसूत्र** 1.9.1; **याज्ञवल्क्य स्मृ ति**1/11
15. **अल्बेरुनीज इंडिया**, सचाऊ, भाग-2, पृ-156
16. **स्मृतिचन्द्रिका**-1 पृ.-19-20; **संस्कार रत्नमाला** पृ.-896-97; **संस्कार प्रकाश**-पृ.-201-3, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

प्रारम्भ करने के बीच जातकर्म नामक तीसरा यज्ञ सम्पादित किया जाता है।[17] तत्कालीन समाज में पुत्र का जन्म पिता की तपस्या का परिणाम माना जाता था।[18]

इस काल में उसी घर को श्लाघ्य समझा जाता था जिस घर में कम से कम एक पुत्र अवश्य हो।[19] भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने सामाजिक विकास को दृष्टि में रखकर पुत्रोत्पत्ति पर विचार किया तथा सन्तान की अनिवार्यता पर बल दिया। पुत्र से परिवार की समस्त धार्मिक क्रियायें सम्पन्न होती है तथा पुत्र होने से ही व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त माना जाता था।[20] समकालीन साहित्य से हमें इस बात के संकेत प्राप्त होते हैं कि पुत्र-जन्म के अवसर पर अनेक आयोजन सम्पन्न किये जाते थे।[21] पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में बधाई देने की भी प्रथा थी –

---

17. **अलबेरूनीज इंडिया**-सचाऊ-भाग-2, पृ.-156; जयशंकर मिश्र- **ग्यारहवीं सदी का भारत**, पृ.-221

18. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-23 छन्द 51 (आदि कथा) तथा पृथ्वीराज रासो भाग-1 पृ.-145 छन्द 696; **परमाल रासो** खण्ड-1 छन्द-123; **तिलकमंजरी** पृ.-216

19. **पृथ्वीराज रासो**, पृ.-2195 छन्द 529, तथा पृ.-2432 छन्द-354; हेमचन्द्र कृत **शब्दानुशासन** 5.3.125; कापड़िया, **मैरेज एण्ड फैमिली इन इंडिया**, पृ.-131

20. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-2432 छन्द 345; **शब्दानुशासन** 5.3.125; **जॉली, हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम** पृ.-123

21. **पृथ्वीराज रासो पृ.-22 दोहा 46 (आदि कथा) पृ.-21 छन्द 45, पृ.-594 छन्द** 102 (धनकथा); **मृगावती** पृ.-9-11, दोहा 13-15; **इपिग्राफिया इंडिका**-4, पृ.-126-127 **जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन** पृ.-290

सब सहर नारि अंगार कीन। अप अप्प झुंडमिलि चलि नवीन।
थपि कनक थार भरि द्रव्य दूब। पटकूल जरफ जर कसी ऊब।
अछूछित अनूप रोचन सुरंग। मृदु कमल हास लोइन कुरंग।[22]

इसी प्रकार पुत्रोत्पत्ति का शुभ समाचार देने वाले दास-दासियों को घोड़े, हाथी वस्त्र आदि प्रदान किये जाते थे तथा ब्राह्मणों को आमन्त्रित करके सम्पूर्ण विधि-विधान के साथ जातकर्म संस्कार सम्पूर्ण करने के पश्चात उन्हें अनेक प्रकार के दान आदि दिये जाते थे।[23] इस कर्म का पूर्ण आयोजन प्रायः रनिवास तक ही सीमित रहता था। इस अवसर पर मंगल-गीत गाये जाते थे, बच्चे की न्योछावर उतारी जाती थी तथा इसी दिन नवजात शिशु की जन्म पत्रिका भी सुविज्ञ ब्राह्मण द्वारा बनवाई जाती थी।[24] जन्म मूहूर्त विचारने का प्रचलन और जन्म समय देखकर भविष्यकाल के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की पद्धति विशेष रूप से प्रचलित थी –

---

22. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-138 छन्द 691, साथ ही देखें शिव स्वरूप सहाय, **हिन्दू सामाजिक संस्थायें**, पृ.-203; डॉ. पी.एन. प्रभु, **हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन** पृ.-312; जॉली, **हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम्स**, पृ.-123
23. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-138 छन्द 691, **हिन्दू संस्कार**, राजबली पाण्डे, पृ.-123, हेमचन्द्र कृत **शब्दानुशासन** 6.1.3, **ग्यारहवीं सदी का भारत**, पृ.-132
24. **मृगावती** पृ.-11 दोहा 15; **पृथ्वीराज रासो** पृ.-148, छन्द- 712, **संस्कार प्रकाश** पृ.-203

अनॅगपाल पुहवै नरेस, ब्यास जग जोत बलाइय
लगन लिद्धिअनु जासु, नाम चिहु चक्क चलाइय[25]

हिन्दू समाज में सन्तान को नाम प्रदान करना भी एक संस्कार माना गया जिसे नामकरण अथवा नामधेय कहा गया। परिवार में नाम का अत्यधिक महत्व रहा है, जो शुभ कर्मों और भाग्य का आधार माना गया है।[26] शिशु के नाम का चुनाव धार्मिक क्रियाओं के साथ निश्चित तिथि को सम्पन्न किया जाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों,[27] गृह्यसूत्रो[28], स्मृतियों[29] आदि में नामकरण संस्कार का सविस्तार वर्णन किया गया है। नामधेय के लिये नामकरण का काल और नामार्थक शब्दों का विचार भी आवश्यक था। पूर्वमध्ययुगीन भाष्यकारों[30] के अनुसार नामकरण संस्कार को जन्म के ग्यारहवें दिन सम्पन्न करना चाहिये। हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने नामकरण के चार आधार निर्धारित किये, देवता-नाम, मास-नाम, नक्षत्र-नाम और व्यवहारिक

---

25. **पृथ्वीराज रासो** (आदि कथा) छन्द 44 तथा पृ.-187 छन्द 689; साथ ही देखें, **चंदायन** सम्पादक (माता प्रसाद गुप्त) पृ.- 29-30, छन्द 32 एवं पृ.-31, छन्द 33
26. जयशंकर मिश्र, **प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन** पृ.-271
27. **शतपथ ब्राह्मण** 6.1.3.9; **तैत्तिरीय संहिता** 6.3.13
28. **आपस्तम्ब गृह्यसूत्र** 15.8.11; **आश्वलायन गृह्य सूत्र** 1.15.4-10
29. **याज्ञवल्क्य स्मृति** 1.12; **मनुस्मृति** 2.30
30. **विश्वरूप**, मनुस्मृति-2.30; **मेधातिथि**-2.30

नाम सन्तान को प्रदान किये जाते थे।[31] नामकरण संस्कार सम्पन्न करते समय विभिन्न देवी-देवताओं और अपने कुल-देवता का पूजा अर्चन होता था। समकालीन साहित्य में नामकरण संस्कार सम्पादित किये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[32]

वैदिक युगीन बालिकाओं की शिक्षा का प्रारम्भ भी बालकों के समान उपनयन संस्कार द्वारा होता था। कालान्तर में स्मृतिकारों ने इस संस्कार पर प्रतिबन्ध लगा दिया और बालिकाओं को उपनयन संस्कार हेतु अयोग्य घोषित कर दिया, निस्संदेह इसका प्रभाव स्त्री शिक्षा पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ा। स्त्रियों के विवाह संस्कार को ही उपनयन संस्कार मान लिया गया।[33] अर्थात् इस युग से ही उसके समस्त संस्कार लुप्त हो गये केवल विवाह संस्कार ही शेष रह गया। इस समय मात्र एक ही उदारवादी विचारक शंख हुये जिन्होंने कन्या को पुत्र के समकक्ष रखा और उसके लिये भी संस्कारों की व्यवस्था की।[34]

---

31. **आपस्तम्ब गृह्य सूत्र** 3.13; **संस्कार प्रकाश** पृ.-322; **अपरार्क** पृ.-36

32. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-147 छन्द 705 तथा पृ.-149 छन्द 712;
कादम्बरी पूर्वभाग 'प्राप्ते दशमेहनि पुण्ये मूहूर्ते चन्द्रापीड इति नाम चकार।
इपिग्राफिया इंडिका 4 पृ.-120; 10, पृ.-95

33. **मनुस्मृति**-2/67; **याज्ञवल्क्य स्मृति** 1/13

34. **संस्कार रत्नमाला**-11/98

विवाह संस्कार

हिन्दू संस्कृति में विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसे एक धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण किया गया। विवाह से व्यक्ति की नई सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति प्रारम्भ होती है।[35] विवाह शब्द के लिये संस्कृत साहित्य में अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं – जैसे उद्वाह, परिणय, उपयम, पाणिग्रहण आदि। उद्वाह का अर्थ है वधू को उसके पिता के घर से ले जाना, परिणय का अर्थ है अग्नि की पदाक्षिणा करना, उपयम का अर्थ है किसी को निकट लाकर अपना बनाना तथा पाणिग्रहण का अर्थ है वधू का हाथ ग्रहण करना।[36] हेमचन्द्र ने पाणिग्रहण शब्द की व्याख्या 'पाणिगृहीति' शब्द से की है। संस्कार की विधि के अनुसार पाणिगृहीता शब्द परिणीता स्त्री के लिये प्रयुक्त होता था।[37] विवाह का तात्पर्य है 'विवाह विशिष्ट वहनम्' अर्थात विशिष्ट रूप से वहन करना। विवाह में वधू को विशेष रूप से पिता के गृह से पति गृह में ले जाया जाता है। विवाह शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है, प्रथम

---

35. **याज्ञवल्क्य स्मृति** 5.97; **मत्स्य पुराण** 154.152-53; **मनुस्मृति पर कुल्लूक भट्ट का भाष्य** 9.45

36. **अपरार्क**, पृ.-95

एवमुपयमन पाणिग्रहणशब्दात्परिणयन शब्दोपि

दण्डिन्यायेनैव कर्मसमुदाये शास्त्रेषु प्रयुज्यते।

37. हेमचन्द्र कृत **शब्दानुशासन** 2.4.51, 2.4.52 पाणिगृहीतोस्या पाणौ वा गृहीता पाणिगृहीति एवं कर गृहीति।

विवाह संस्कार के रूप में, द्वितीय इस संस्कार से उत्पन्न दाम्पत्य जीवन के रूप में। मेघातिथि ने विवाह शब्द का अर्थ संस्कारपरक किया है जिसके अन्तर्गत अनेक विधियाँ होती है और उसके द्वारा वर-वधू का पाणिग्रहण करता है।

विवाह का सीधा अर्थ है सन्तानोत्पत्ति के लिये स्थापित दाम्पत्य सम्बन्ध के लिये समाज द्वारा स्वीकृत पद्धति। हिन्दू समाज में प्रचलित विवाह संस्कार पद्धति में समय-समय पर अनेक विधान जुड़ते चले गये और आज भी समाज में उनका प्रचलन है। सामान्य धारणा के अनुसार मनुष्य जब तक गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण से उऋण नहीं होता उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। पुत्र द्वारा प्राप्त पिण्ड और उदक जिसे देने का अधिकार सिर्फ पुत्र को ही होता था, से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती थी। अतएव पुत्र प्रजनन के लिये विधिवत गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होना अनिवार्य था। गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ भी विवाह संस्कार से होता है अतः विवाह का जीवन में सदैव से अत्यधिक महत्व रहा है और इसके अभाव में मनुष्य जीवन को शून्य माना गया है। हिन्दू समाज में विवाह संस्कार सम्पन्न करने में अनेक प्रकार के मांगलिक कार्य व अनुष्ठानों का अनुसरण किया जाता रहा है। हिन्दू समाज में प्राचीन काल से मान्य विधि विधान किंचित परिवर्तनों के साथ आज तक समाज में प्रचलित हैं। पूर्वमध्ययुगीन वैवाहिक कार्य-कलापों से सम्बन्धित अनेकानेक रीति-रिवाज तत्युगीन साहित्य में संग्रहीत है, जिनमें वर-वधू की साज-सज्ञा सहित आदर-सत्कार करना, मंगल गीत गाना, गृह-प्रवेश कराना, कुल-देवताओं की पूजा-अर्चना करना, गृहस्थी की शिक्षा देना तथा विवाह के एक वर्ष उपरान्त गौना सम्पन्न कराने का भी विवरण प्राप्त होता है –

करि गौना उच्छाह किय, चलिय राजा अजमेर
सहज बजि है सुभर, बर संत सखि मन मेरे[38]

विवाह में वर का चयन अत्यन्त सावधानी से किया जाता था तथा वर की जाति, गोत्र, प्रवर को पहले महत्व दिया जाता था। बाद में वय, चरित्र, धन आदि के सम्बन्ध में विचार किया जाता था। यदि वर में उपर्युक्त सभी योग्यतायें विद्यमान हों तो कन्या का विवाह सम्पन्न कर दिया जाता था।[39] विवेच्ययुग में ज्योतिष-विद्या का भी विवाह में अत्यन्त महत्व था। वर-वधू की जोड़ी उचित हो इसके लिये दोनों की जन्मपत्रियों के मिलान में सतर्कता बरती जाती थी। पूर्वमध्यकालीन साहित्यिक उद्धरणों से इस विषय पर प्रकाश पड़ता है।[40] वैवाहिक कार्य कलापों में सर्वप्रथम विवाह के लिये उपयुक्त वर खोजने हेतु पुरोहित को भेजा जाता था। उक्त द्विज के द्वारा कुछ मूल्यवान वस्तुएँ जैसे – धन-मुद्रायें, रत्न, मणि-मोती आदि के साथ ही श्रीफल वर-पक्ष को प्रदान कर विवाह का प्रस्ताव दिया जाता था –

---

38. **पृथ्वीराज रासो** पृ-23 (आदि कथा) छन्द-49, साथ ही देखें पृ-324-325 इच्छिनी विवाह, छन्द 77-79 पृ-1266, छन्द-57 पृ-1266 छन्द 59 पृ-1267 तथा पृ-1269 छन्द 76; **परमाल रासो** खण्ड-15 छन्द-180; डा. राजबली पाण्डेय, **हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास** भाग-1, पृ-120, अध्याय-5, पृ-132

39. **शुक्रनीतिसार**-3/165-8

40. **कथासरित्सागर**, पृ-219 लक्षणज्ञोऽयं कार्त्तान्तिर इत्यमुष्यै कन्याः कन्यावन्तः प्रदर्शयाम्बभूवः

नालि केर फल परठि दूज, चौक पूरि मनि मुक्ति।
दई जुकिन्या वचन वर, अति अनंद करि जुन्ति।।[41]

इसी प्रकार समकालीन साहित्य में अनेक स्थलों पर वधू-पक्ष द्वारा वर-पक्ष को विवाह-पूर्व की रस्मानुसार टीका भेजने की प्रथा का उल्लेख भी मिलता है, इसी प्रथा को ही लगन भेजना भी कहते थे।[42] इस प्रथा में अपने कुल पुरोहित द्वारा नारियल तथा वस्त्र, हाथी-घोड़े, आभूषण, मुद्रायें और मिष्ठान आदि वर-पक्ष को समर्पित करने की प्रथा प्रचलित थी।[43] लगन के अवसर पर असीम

---

41. **पृथ्वीराज रासो**, पृ.-360-361, पद्मावती समय छन्द 19-20; साथ ही देखे, पृ.-372 छन्द-9 पृथा विवाह; **बीसलदेव रासो** डॉ. माता प्रसाद गुप्त, पृ.-91-92 छन्द 8-9; **चंद्रायन** पृ.-33, छन्द-35

42. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ.-2933, छन्द-3, पृ.-360 (पद्मावती समय) छन्द - 19 तथा पृ.-372 व 377 छन्द 9 व 17 (पृथा विवाह); **बीसलदेव रासो** डॉ. माता प्रसाद गुप्त पृ.-91-92 छन्द 8, 9; **परमाल रासो** प्रथम खण्ड 13 छन्द 141

43. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-360 छन्द 19, तथा पृ.-293 छन्द-3; **परमाल रासो** खण्ड 24, छन्द 82-84 तथा 87, खण्ड-13 छन्द-14; **बीसलदेव रासो**, पृ.-24, छन्द – 19

धन जुटाने व दान देने की रस्म का भी विवरण हमें विवेच्ययुगीन साहित्य में उपलब्ध होता है।[44] विवाह के समय हाथों में कंगन बाँधने,[45] मुकुट धारण करने तथा वर द्वारा सिर पर मोरी बाँधे जाने का भी विवरण साहित्य में मिलता[46] है। समकालीन साहित्यिक कृतियों मे वधू-पक्ष द्वारा अपने घर आई वर-पक्ष की बारात की अगवानी एवं स्वागत करने की प्रथा के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।[47] इस अवसर पर मुख्य द्वार पर तोरण बाँधने, चौक पूरने, कलश-पूजन, रंगोली सजाने तथा वर की वन्दना करने की प्रथा का प्रचलन था, इसका उदाहरण हमें अवलोकित काल के साहित्य में प्राप्त होता है –

---

44. **परमाल रासो** , खण्ड-24 छन्द 87, खण्ड 13, छन्द 31-33, खण्ड-13 छन्द 38, 39 व 40; **पृथ्वीराज रासो** खम्ड 24 छन्द 87; **बीसलदेव रासो**, माता प्रसाद गुप्त, छन्द-19

45. **पृथ्वीराज रासो,** पृ.-556 छन्द 93; **बीसलदेव रासो** माता प्रसाद गुप्त पृ.-97-98 छन्द-15

46. **पृथ्वीराज रासो**, पृ.-572 छन्द 36; **बीसलदेव रासो** पृ.- 97, छन्द-15

47. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-299-300 इच्छिनी विवाह, छन्द-15 तथा पृ.-546 छन्द 22; **परमाल रासो** खण्ड 15 छन्द 237

तोरण कर वर वंदत्तह मुत्तिय अच्छित डारि।[48]

समकालीन साहित्यिक कृतियों के विवरण से ऐसा आभासित होता है कि उस काल में वर-पक्ष द्वारा कन्या के घर विवाह हेतु जाने वाली बारात संख्या में विशाल होती थी।[49] विवाह के अवसर पर कन्या के घर बारात के आगमन होने पर चौक पूर कर ज्योतिषियों द्वारा शुभ मुहूर्त पर विचार किया जाता था, तथा वधू-पक्ष द्वारा अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा व अपनी सामर्थ्य के अनुसार हाथी, घोड़े, धन, वस्त्र, मुद्रायें, अस्त्र-शस्त्र आदि मूल्यवान उपहार कन्या के पिता द्वारा वर-पक्ष को प्रदान किये जाते थे।[50] इस अवसर पर प्रसन्नता की अभिव्यक्ति करने के लिये स्त्रियों द्वारा मंगल-गान व परिहास गान किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।[51] गणेश-पूजन, कलश-पूजा, गाँठ जोड़ना, पाणिग्रहण अथवा हथलेवा जैसे – माँगलिक अनुष्ठान वैवाहिक अवसर पर मन्त्रोच्चारण सहित सम्पन्न किये जाते थे तथा पट्ट-ग्रन्थि बाँधी जाती थी –

---

48. **पृथ्वीराज रासो**, पृ.-547, छन्द-25 तथा पृ.-1087 छन्द 196, **पृथ्वीराज रासो** पृ.-302, इच्छिनी विवाह 18 साथ ही देखें **बीसलदेव रासो**, माता प्रसाद गुप्त, पृ.-99-100 छन्द्र-17

49. **पृथ्वीराज रासो** , पृ.-547 छन्द 25 तथा पृ.-1087 छन्द 196; **चंदायन**, पृ.-39 छन्द 41; **परमाल रासो** खण्ड-13 छन्द 105 तथा खण्ड 24 छन्द 89; **बीसलदेव रासो** पृ.- 95-96 छन्द 13

50. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-547, छन्द 24; **चंदायन** (माता प्रसाद गुप्त) पृ.-39 पद 41; **परमाल रासो**, खण्ड 15 छन्द 143

51. **बीसलदेव रासो**, पृ.-101 छन्द 19; **पृथ्वीराज रासो** पृ.-315, छन्द 57 इच्छिनी विवाह; **कीर्तिलता,** तृतीय पल्लव, पृ.- 21

पटॉ विट्ठि पर गॉठ गुहि, पूजे प्रथम गनेस

दुत कुलवारि विचारि करि, ब्याही बाम नरेस[52]

यह सही है कि हिन्दू समाज की विभिन्न जातियों और वर्गों की वैवाहिक विधियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं। प्राचीन काल से उसका प्रचलन धर्मशास्त्रीय आधार पर होता रहा है, जो समय के साथ-साथ विभिन्न रीति-रिवाजों को स्वयं में समाहित करके लोक-प्रतिष्ठित हुआ है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों ने विवाह संस्कार का विशद और लोकसमन्वित स्वरूप विवृत किया है। उपयुक्त वर और वधू एक दूसरे को मिलें, इसके लिये दोनों पक्षों की ओर से खोज की जाती थी और इसके पूर्ण होने पर विवाह का प्रस्ताव स्वीकार किया जाता था, जिसे 'वाग्दान' कहा जाता था। बारातियों के साथ वधू के घर जाने पर वर का जो आदर-सत्कार किया जाता था उसे 'मधुपर्क' कहा जाता था। इस आव-भगत के बाद वर और वधू को एक दूसरे के समक्ष लाकर दर्शन कराया जाता था, जिसे 'परस्पर समीक्षण' कहते थे। पिता आमंत्रित वर को अपनी कन्या दान में देता था और वर से यह आश्वासन प्राप्त करता था कि वह पत्नी का कभी परित्याग नहीं

---

52. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-315 (इच्छिनी विवाह) छन्द 52 साथ ही देखें पृ.-348 (पुंडीर-दामिनी विवाह) छन्द-5 पृ.-367, 368 (पद्मावती समय) छन्द – 38; बीसलदेव रासो पृ.-100, छन्द-18; **पृथ्वीराज रासो-** पृ.-555 छन्द-82 पृ.- 2080 छन्द 200 पृ.-1035 छन्द 683 तथा पृ.-365 छन्द 178 **पाराशर गृह्य सूत्र** – 1.8.1 जयशंकर मिश्र, **प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन** पृ.-300

करेगा। इस प्रक्रिया को 'कन्यादान' नाम दिया गया। विवाह की विधियों में कन्यादान का विशेष महत्व था। विवाह के सभी कृत्य अग्नि के सम्मुख सम्पन्न किये जाते थे, जो साक्षी के रूप में विवाह को अटूट और अविच्छेद्य रूप प्रदान करती थी। इसके अन्तर्गत होम किया जाता था तथा आहुति द्वारा अग्नि का आशीः प्राप्त किया जाता था। इसे 'अग्निस्थापन और होम' कहते थे। इसके बाद 'पाणिग्रहण' की प्रक्रिया प्रारम्भ होती थी, जिसमें वर और वधू एक दूसरे का हाथ पकड़ते थे।

दोनों की अभिन्नता स्थापित करने के पश्चात वर-वधू द्वारा चार बार 'अग्नि की प्रदक्षिणा' की जाती थी। वधू की अंजलि में जब उसका भाई धान की खीलें दो बार डालता था और वर मौन रूप से इसकी आहुति अग्नि को देता था तथा वधू की आबद्ध दो लटों को खोलता था तो वह क्रिया 'लाजाहोम' और 'केशमोचन' कही जाती थी। तत्पश्चात वर वधू को पूर्व की ओर सात पग ले जाते हुये गृहस्थधर्म के सात नियमों का स्मरम करता ता जो 'सप्तपदी' के नाम से अभिहित था। इसका पहला पग अन्न की कामना करता था, दूसरा शारीरिक-मानसिक बल की कामना, तीसरा धन की कामना, चौथा सुख की कामना, पाँचवा सन्तान की कामना, छटाँ प्राकृतिक सहायता की कामना और साँतवा पारस्परिक सहयोग की कामना। इसके पूर्ण होने पर वर और वधू के सिर पर आचार्य जल छिड़कता था, जिसे 'मूर्धाभिषेक' कहते थे। फिर सूर्य का दर्शन और हृदय का स्पर्श करके वर-वधू सौ वर्ष की आयु पाने की कामना करते थे। ये सब विधियाँ सम्पन्न होने के बाद 'वधू की विदाई' कराकर वर उसे अपने घर ले जाता था। आज भी ये सभी विधियाँ किंचित परिवर्तनों के साथ हिन्दू-विवाह के अन्तर्गत

अपनाई जाती है तथा धर्मशास्त्रों के आधार पर सम्पन्न की जाती हैं।[53] परिवारगत और समाजगत आचार-विचार, परम्परा-प्रथा और धर्म-कर्म की निरन्तरता को विवाह ही सतत् प्रवाहमान बनाता है और एक सभ्य समाज के निर्माण में योगदान करता है। अतः विवाह समस्त संस्कारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और गौरवशाली माना जाता है।

हिन्दुओं की विवाह-विधि का वर्णन करते हुये अल्बेरूनी लिखता है – ''प्रत्येक राष्ट्र (कौम) की एक विशेष विवाह पद्धति होती है और विशेषकर उन (राष्ट्रों) की जो इसका दावा करते हैं कि उनका धर्म और विधि विधानों की उत्पत्ति ईश्वरीय है। हिन्दू अल्पायु में विवाह करते हैं अतः उनके माता-पिता अपने पुत्रों के विवाह निश्चित करते हैं। इस (विवाह) के अवसर पर ब्राह्मण धार्मिक संस्कार सम्पन्न करते हैं तथा वे (ब्राह्मण) और अन्य लोग दक्षिणा ग्रहण करते हैं। विवाहोल्लास मनाया जाता हैं दोनों पक्षों के बीच कोई भी दहेज निश्चित नहीं होता। केवल पुरुष अपनी रूचि के अनुसार अपनी पत्नी को भेंट प्रदान करता है तथा उसे विवाहोपहार देता है जिस पर उस (पति) का कोई अधिकार नहीं होता। किन्तु यदि पत्नी की इच्छा हो तो वह (उपहार) अपने पति को वापस दे सकती है।[54] विवाह निर्णय करने का उत्तरदायित्व पूर्णतया दोनों पक्षों के माँ बाप पर ही निहित होता था। वे 'जोसी' (ज्योतिषियों) की सहायता से वर और कन्या की टिप्पणी का परिक्षण किया करते थे।

---

53. **पराशर गृह्य सूत्र** - 1.8.0; **प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन,** पृ० - 300

54. **अल्बेरूनीज इंडिया** - भाग 2 (सचाउ) पृ० 154.

वे ज्योतिषी विवाह के शंकायुक्त पत्रों का निर्णय करते थे।[55] ऐसा प्रतीत होता है कि माता-पिता का विवाह सम्बन्धी निर्णय पुत्र-पुत्रियों के अवश्य पालनीय था। प्राचीन स्वयंवर प्रथा,[56] का उल्लेख कतिपय साहित्यिक कृतियों में उपलब्ध है, किन्तु यह प्रथा सम्भवतः राजकीय परिवारों में ही अधिक प्रचलित थी।

अंत्येष्टि संस्कार

मनुष्य की मृत्यु हो जाने पर अन्त्येष्टि संस्कार था। इस संस्कार की सम्पन्नता में यह निहित था कि मृत प्राणी परलोक में शान्ति लाभ करेगा।[57] विवेच्ययुगीन साहित्यिक वर्णनों में विशेषतया हिन्दुओं में अन्त्येष्टि संस्कार को बहुत

---

55. लावण्यसमय का **विमलप्रबन्ध,** अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, सर्ग - 2, दोहा - 68, पृ० - 76 पर एक बालक और बालिका की टिप्पणियों की उनके विवाह के पूर्व, ज्यातिषी द्वारा जाँच का उल्लेख मिलता है।

56. **दि लॉज ऑफ मनु** अध्याय - 9 भाग - 92 पृ० - 343 ; स्वयंवर प्रथा हेतु समसामयिक कृतियों में उल्लेख प्राप्य है – **पृथ्वीराज रासो** भाग - 2, समय - 30, दोहा - 2, पृ० - 89, समय - 40 हंसावति विवाह, दोहा - 58, पृ० - 175, समय - 46, दोहा - 1 पृ० - 253, समय - 54, दोहा - 40 पृ० - 459, कवित्व - 6 पृ० - 264 – राजकुमारी संयोगिता का स्वयंवर।

57. **बौधायन गृह्य सूत्र** 1.43., **आपस्तम्ब गृह्य सूत्र** –4.1 **पाराशर गृह्य सूत्र** 3.19, 3.10, 16.23.

अधिक महत्व प्राप्त था क्योंकि वे इह लोक की अपेक्षा उह सोक के विषय में अधिक चिंतित रहते थे। हिन्दू धर्म में वैदिक नियमों के आधार पर दाह-संस्कार सम्पन्न किया जाता था।[58] अवलोकित काल की यह विशेषता थी कि सती नारी और शौर्यपूर्ण पुरुष के देहावसान पर मंगल कार्य करना अभीष्ट माना जाता था।[59] हिन्दू महिलाओं को मृत्यु के पश्चात चिता पर जलाने की प्रथा थी तथा उसका अन्त्येष्टि संस्कार अत्यन्त सम्मानपूर्वक सम्पन्न किया जाता था। दाह-क्रिया के पश्चात अस्थियाँ एक पात्र या मृगछाला में एकत्र कर ली जाती थी, और तत्पश्चात उन्हें नदी में प्रवाहित कर दिया जाता था।[60] पूर्वमध्यकाल के आगमन तक समाज में सती प्रथा अत्यन्त दृढ़ हो चुकी थी। इस युग के साहित्य में सती-प्रथा से सम्बन्धित सहगमन एवं अनुमरण दोनों प्रकार के विवरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।[61] तथापि यह सही है कि यह प्रथा उत्तर भारत में विशेषकर

---

58. डा० राजबली पाण्डेय, **हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास** पृ० - 443 ; **मृगावति** पृ० - 364 छन्द 421 ; **पाराशर गृह्य सूत्र** 3.10; 27-28.

59. **परमाल रासो** खण्ड - 2 छन्द - 69 ; **पृथ्वीराज रासो** भाग - 3 छन्द 88 ; **मृगावति** पृ० - 366.

60. क्रुक, विलियम - **रिलीजन एण्ड फ़ोक लोर ऑफ नार्दन इंडिया,** लंदन – 1926, पृ० - 236 - 7.

61. **वृहत्कथामंजरी** पृ० - 75 पद 83; पृ० - 77 पद - 108, पृ० - 202, पद 431; **कथासरित्सागर** 10.58; **राजतरंगिणी** 5.226 तथा 7.103; **पृथ्वीराज रासो** भाग - 3 पृ० - 1156-57 छन्द - 398-399 पृ० - 1157 छन्द 401; **नैसद्धीय चरित** – 4-21, 45, 46 ; 79 ; **परमाल रासो** खण्ड -9, छन्द - 42.

राजपरिवार और अभिजात वर्ग में ही अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित थी, दक्षिणापथ में सती प्रथा कम प्रचलित थी और सुदूर दक्षिण में तो अपवादस्वरूप।[62]

सती-प्रथा

पूर्वमध्यकालीन हिन्दू समाज में विधवा नारी के लिए सती (पति के शव के साथ सहमरण या अनुमरण करना) होकर अपना जीवन समाप्त कर देना अथवा जीवित रहकर कठोर सामाजिक नियमों का जीवन-पर्यन्त पालन करना, यही दो प्रारब्ध थे।[63] आलोच्यकालीन हिन्दू समाज में पति के साथ स्वयं को प्रज्ज्वलित अग्नि में भस्म कर लेने की प्रथा अत्यन्त प्रचलित हो चुकी थी।[64] पूर्वमध्यकालीन व्यवस्थाकारों ने सती-प्रथा की प्रशंसा की है, जिसके अनुसार पति के मरने पर सत् स्त्रियों की कोई गति नहीं, भर्त्त वियोग से उत्पन्न दाह का कोई दूसरा शमन नहीं, यदि पति देशान्तर में मरे तो साध्वी स्त्री उसकी पादुकायें अपने ह्रदय से लगाकर तथा पवित्र होकर अग्नि में प्रवेश करें।[65] सती प्रथा के अनुपालन से पतिव्रता स्त्री न केवल पति के प्रति अपने

---

62. अल्तेकर, **राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स,** पृ० - 344.
63. **सोशल लाइफ इन नार्दन इंडिया,** बी. एन. शर्मा. पृ० - 18-19; **एंटीक्वीटीज ऑफ इंडिया,** बर्नेट, पृ० - 147-148.
64. **अल्बेरूनी का भारत** - भाग - 3, अनुच्छेद - 69, पृ० - 199.
65. **ब्रह्म पुराण का उद्धरण, कृत्यकल्पतरू,** पृ० - 634 साथ ही देंखे, **मिताक्षरा,** याज्ञवल्क्य - 1.86; **अंगिरा का उद्धरण कृत्यकल्पतरू,** व्यवहार काण्ड पृ० - 623-34; **सोशल लाइन इन नार्दन इंडिया,** पृ० - 20.

प्रेम को प्रदर्शित करती थी, बल्कि यह उसके परिवार के लिए भी गर्व का विषय माना जाता था।[66] कुछ समृतिकारों ने इस धारणा का प्रचार कर दिया कि जो विधवा स्त्री अपने पति की चिता पर भस्म हो जाती है, वह स्वर्ग में अनन्त सुख प्राप्त करती है, साथ ही यह भी विश्वास दिलाये जाने लगा कि सती होने के पश्चात पत्नी का पति से पुनर्मिलन होता है।[67] अमीर खुसरों ने भी उन पतिव्रता सती नारियों की प्रशंसा की है जो प्रज्ज्वलित अग्नि में स्वयं को पति के साथ भस्म कर लेती हैं।[68] धार्मिक ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि पति की मृत्यु के साथ सती हो जाने वाली स्त्रियों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु इस प्रथा को माने के लिए कोई बन्धन नही है।[69] यद्यपि विधवा के लिए आत्मदाह ही उचित कर्तव्य है। [70] कुछ विद्वानों का विचार है कि यह प्रथा अधिकतर राजस्थान में और समाज के उच्च वर्ग में ही प्रचलित थी, निम्नवर्ग की स्त्रियाँ इस प्रथा का पालन नहीं करती थीं।[71]

---

66. **इब्न-बतूता,** अनुवाद, गिब पृ० - 191 ; **सोसायटी एण्ड कल्चर,** पृ० - 144; **लाइफ एण्ड कण्डीशन ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान,** पृ० - 188.

67. **दक्ष स्मृति** 4/18-19, **स्मृतिनामसमुच्चय** पृ० - 30; **सोसल लाइफ इन नार्दन इंडिया,** पृ० - 20; **धर्मशास्त्र का इतिहास,** भाग - 1 पृ० - 349 ; **इन्द्रा-दि स्टेट्स आफ वुमैन इन एनसियन्ट इंडिया,** पृ० - 118.

68. अमीर खुसरो, **नूह-सिपहिर,** भाग - 3 पृ० - 194-195, सम्पादकः मुहम्मद वाहिद मिर्जा, कलकत्ता - 1950.

69. **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान,** पृ० - 153

70. **पराशर माधव,** जिल्द - 3, पृ० - 45-49

71. **के. एम. अशरफ,** पृ० - 153

विवेच्ययुगीन समाज में जो विधवा स्त्रियाँ पति के साथ सती नहीं होती थीं, वे परिवार एवं समाज में तिरस्कृत मानी जाती थीं।[72] ऐसी विधवा स्त्रियों को जीवन पर्यन्त कठोर सामाजिक नियमों का पालन करते हुये अत्यन्त दुःखद जीवन व्यतीत करना पड़ता था।[73] अलबेरूनी के अनुसार विधवा के रूप में जब तक स्त्री जीवित है, उसके साथ बुरा व्यवहार किया जाता है।[74] अतः विधवा के रूप में अत्यन्त कठोर एवं नियन्त्रित जीवन जीने की अपेक्षा सती प्रथा जैसी जघन्य और क्रूर प्रथा प्रत्येक विधवा स्त्री के लिये इस युग में अनिवार्य बनती गई।[75] कालान्तर में एक नियम बनाया गया कि विधवा स्त्री को जलाने के लिये राज्य से अनुमति पत्र लेना अनिवार्य था।[76] डा. अशरफ के अनुसार इसका उद्‌देश्य यह था कि विधवायें कम संख्या में

---

72. **अशरफ**, पृ. 189; **सोसायटी एण्ड कल्चर**, पृ. 144

73. **धर्मशास्त्र का इतिहास**, भाग – 1, पृ. 333; **अलबेरूनी का भारत** भाग – 3, अनुच्छेद – 69, पृ. 199; **इब्नबतूता**, अनुवाद – महंदी पृ. 22; **अशरफ** पृ. 189; **राशिद**, पृ. 144

74. **अलबेरूनी का भारत**, भाग – 3, अनुच्छेद – 69, पृ. 199

75. बर्नेट, **एन्टीक्विटीज ऑफ इंडिया**, पृ. 147-148, **सोशल लाइफ इन नार्दन इंडिया**, पृ. 18-19; बाशम, **वन्डर दैज वाज इंडिया**, पृ. 187; **इब्नबतूता**, अनुवाद - गिब, पृ. 19.

76. विलियम क्रुक, **रिलीजन एण्ड फोकलोर ऑफ नार्दन इंडिया**,, लन्दन – 1926, पृ. 205; **किताबुररहेला**, अंग्रेजी अनुवाद, गेब जिल्द – 2, पृ. 13

जलाये जायें और कुछ परिस्थितियों में अनुमति नहीं भी दी जाती।[77] किन्तु समाज में इस प्रथा का अस्तित्व निरन्तर बना रहा, इसके कई कारण थे – प्रथम जो विधवा स्त्री आत्मदाह करती थी उसकी प्रशंसा की जाती थी[78] द्वितीय जो आत्मदाह से इन्कार करती थी उसे समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और उसे अपने पति के प्रति निष्ठावान नहीं समझा जाता था।[79] तृतीय समाज में विधवा की स्थिति इतनी खराब थी कि आग में जल कर मर जाना अपमानित जीवन जीने से कहीं अच्छा समझा जाता था अतः प्रायः सामाजिक उपेक्षा के कारण विधवा स्त्री सती होकर अपना शरीर त्याग देती थी।[80]

सती प्रथा से सम्बन्धित धार्मिक कृत्य या तो पति के शव के साथ अथवा उसके बिना ही किये जाते थे। पति के शव के साथ ही पत्नी के जल जाने को सहमरण या सहगमन कहा गया तथा पति की किसी अन्य स्थान पर मृत्यु हो जाने पर उसकी चिता-भस्म, पादुका अथवा पति से सम्बन्धित अन्य कोई वस्तु चिन्ह लेकर

---

77. **के. एम. अशरफ**, पृ. 157

78. खलिक अहमद निजामी, **सम आस्पेक्ट्स ऑफ रिलीजन एण्ड पॉलिटिक्स इन इंडिया ड्यूरिंग द थर्टीन्थ सेन्चुरी,** अलीगढ़, 1961, पृ. 93

79. **सोसायटी एण्ड कल्चर**, पृ. 144; **के. एम. अशरफ**, पृ. 189; **धर्मशास्त्र का इतिहास**, भाग – 1 पृ. 333

80. **रिलीजन एण्ड फोकलोर ऑफ नार्दन इंडिया**, पृ. 206; **धर्मशास्त्र का इतिहास,** भाग – 1, पृ. 333

पत्नी के अग्नि-प्रवेश को अनुमरण या अनुगमन कहा गया। [81] विवेच्य युग में संभवतः सहमरण की प्रथा अधिक लोकप्रिय थी, इससे सम्बन्धित साहित्य में अनेकानेक उल्लेख प्राप्य हैं।[82] यदि किसी व्यक्ति की कई पत्नियाँ होती थीं तो कभी-कभी प्रिय पत्नी को सहगमन का सौभाग्य प्राप्त होता था, तथा शेष पत्नियाँ अलग-अलग चिता पर अग्नि में प्रवेश करती थीं, कभी-कभी सभी पत्नियाँ आपसी कटुता एवं वैमनस्य को भुलाकर एक ही चिता पर भी स्वयं को भस्म करती थीं।[83] यदि पति की मृत्यु निवास स्थान अथवा पत्नी से दूर, उदाहरण के लिए किसी युद्ध क्षेत्र में हो तो सहमरण सम्भव नहीं था, ऐसी स्थिति में पत्नी पति के अस्तित्व से जुड़ी किसी भी वस्तु जैसे कि पति की

---

81. **धर्मशास्त्र का इतिहास**, भाग – 1, पृ. 349; **इब्नबतूता**, अनुवाद महदीं, पृ. 21; **अशरफ** पृ. 189

82. सहमरण के उल्लेख – **पृथ्वीराज रासो**, भाग – 4, समय – 61, दोहा – 397 398, पृ. 1155-1157; उसी पुस्तक का दोहा – 399, पृ. 1157; दोहा – 400 पृ. 1157 के अनुसार पृथ्वीराज के वीर धनिक योद्धाओं की पत्नियों ने पतियों के साथ सहगमन किया। साथ ही सती प्रथा के लिये देखें – **कबीर साखी सार**, आगरा – 1956 साखी – 34 - 36; **कथासरित्सागर**, लंबक – 10, तरंग – 2, पृ. 301

83. **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,** पृ. 134, डॉ. पी. एन. ओझा **नौर्थ इण्डिया सोशल ड्यूरिंग मुगल एज,** दिल्ली – 1975, पाद टिप्पणी सं. - 139, पृ. - 146

पगड़ी अथवा जूते लेकर सती होती थीं।[84] समकालीन साहित्य में सहमरण व अनुमरण दोनों प्रकार से सती-प्रथा के अनुपालन के उदाहरण प्राप्त होते हैं।[85] अर्थात्, उस काल में सती होना स्त्री के लिए आवश्यक व गरिमामय माना जाता था, प्रक्रिया का चुनाव तो परिस्थितियाँ करवाती थीं। सती प्रथा से सम्बन्धित विदेशी विवरण भी प्राप्य हैं, अरब यात्री सौदागर सुलेमान ने लिखा है कि राजा की मृत्यु के पश्चात् रानियाँ स्वयं को चिता पर जला देती थीं।[86] साहित्यिक विवरण के साथ ही इस युग में सती-प्रथा से सम्बन्धित अनेक अभिलेखीय प्रमाण भी हमें मिलते हैं।[87]

---

84. **हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र** भाग – 1 पृ. - 349; **अल्तेकर-पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** पृ. 134, अशरफ – पृ. 186, **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान।**

85. **वृहत्कथा मंजरी**, पृ. 75, पद – 83, पृ. 75, पद – 83, पृ. – 77, पद – 108, पृ. 202, पद – 431; **कथासरित्सागर** 10.58; **पृथ्वीराज रासो** भाग – 3, पृ. 491; छन्द – 191, भाग – 4, पृ. 1157 छन्द – 398-399 पृ. 1157 छन्द – 401; **नैसद्वीय चरित** – 4.21, 45, 46, 79; **राजतरंगिणी** – 5-226-227, 7-481, 724, 858, 1488-90, 8-448, 1140, 1447; **परमाल रासो**, खण्ड – 9, छन्द – 42, **पृथ्वीराज विजय** 9-39-44

86. **हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स** भाग – 1, पृ. 6

87. **इपि. ई.** 20 पृ. 58, जोधपुर अभिलेख, इ. ए. - 9, पृ. 164, 344, 350; **प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, वेस्टर्न सर्किल,** 1906-7, पृ. – 35, **इस्क्रिपशंस ऑफ नार्थ इंडिया** संख्या – 423 **उन्सत्राभिलेख इपि.** xi/11 पृ. – 163

हिन्दू स्त्रियों द्वारा सती-प्रथा के अनुपालन से मुस्लिम स्त्रियाँ अत्यन्त प्रभावित थीं, साथ ही, निकट अतीत में हिन्दू धर्म से मुस्लिम धर्म में परिवर्तित कुछ स्त्रियों के लिए शायद अपने पूर्व संस्कारों को त्यागना सरल न रहा होगा नवीन धर्म में प्रवर्तित होने के बावजूद भी, वे सती प्रथा की गौरवशाली समझी जाने वाली मान्यता से बच न सकीं और सम्भवतः इसी कारण मुस्लिम स्त्रियों में भी आंशिक रूप से सती-प्रथा के उल्लेख मिलते हैं।[88] चित्रलेखा नामक स्त्री मीर-हुसैन के साथ ही कब्र में दफन हो जाती है।[89] पति के साथ ही अपने जीवन का उत्सर्ग करना इस युग में प्रत्येक विधवा स्त्री के लिए अत्यन्त सम्मानजनक माना जाता था, अतः सती होने से पूर्व स्त्री के सम्मान में विधिक प्रकार के प्रयोजन किये जाते थे जिससे वह इस लोक को प्रसन्नतापूर्वक त्यागकर उस लोग में पुनः अपने पति से मिल सकें और उसे पुनः किसी जन्म में पति-वियोग को न सहना पड़े।[90] विधवा स्त्री सुन्दर वस्त्रों एवं बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत होकर नववधू की भाँति अपना श्रृंगार कर चिता पर आरोहण हेतु तैयार होती थी।[91] विभिन्न प्रकार के वाद्यों से वातावरण को गुंजायित कर एक जुलूस के रूप में विधवा स्त्री

---

88. डा. सत्यकेतुविद्यालंकार, **भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास**– 434,

89. **पृथ्वीराज रासो** भाग – 1, पृ. – 269, छन्द – 71

90. **पदम पुराण** सम्पा. बी. एन. माडलिक. 4 भाग पूना – 1893, पातालकाण्ड 102, 67; **सोसायटी एण्ड कल्चर**, पृ. – 145, **अल्तेकर** पृ. – 133

91. **पद्मपुराण**, 102,67; **पृथ्वीराज रासो**, का. प्र. प्र. – 171 छन्द 1623; **परमाल रासो** खण्ड 37, छन्द 69; **कुतबन की मृगावती** पृ. – 366, प्रयाग, शक – 1885

को चिता स्थल तक ले जाया जाता था।[92] चिता प्रायः किसी तालाब अथवा नदी के तट पर निर्मित की जाती थी, जहाँ पहुँचकर स्त्री स्नान करती थी और अपने कीमती वस्त्र आभूषण दान कर साधारण वस्त्र धारण कर लेती थीं।[93] तत्पश्चात हाथ जोड़कर इस जगत् को नमस्कार कर विधवा स्त्री चिता की प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट हो जाती थी।[94] ठीक इसी समय नगाड़े और रणभेरी बजाये जाते जिससे लोगों का ध्यान इस हृदय-विदारक दृश्य से हट जाये, इसके बाद दर्शक चिता में लकड़ी के लट्ठे फेंकते थे जिससे विधवा स्त्री घबराकर भाग न जाये।[95] तत्युगीन साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि न केवल पत्नी, अपितु अन्य सपत्नियाँ, दास-दासियाँ, परिचारक व समीप के अन्य रिश्तेदार चितारोहण करते थे।[96] कथासरित्सागर में कुमुदिका नामक वैश्या राजा विक्रमसिंह की मृत्यु के पश्चात् सती हो गई थी।[97]

---

92. **राजतरंगिणी** – 1/, 1380; **इब्नबतूता** अनुवाद गिब, पृ. 191-192; **अशरफ** पृ. 187; **अल्तेकर** पृ. – 133
93. **इब्नबतूता**, अनुवाद गिब पृ. 192; **अल्तेकर** पृ. 133
94. **इब्नबतूता**, अनुवाद, महदीं, पृ. 23; **अशरफ**, पृ. 188; **हिस्ट्री ऑफ मेवाड़**, रामवल्लभ सोमनी, पृ – 118, 119
95. **वही**
96. **राजतरंगिणी** – viii, vi, 1380, viii 448, vii, 1486, vii, 481vii, 490
97. **कथासरित्सागर,** द्वितीय खण्ड, 10/2/31

एक ओर जहाँ कुछ शास्त्रकारों ने सती-प्रथा का समर्थन किया है, वहीं कुछ ने इसका घोर विरोध किया है। पूर्वमध्यकालीन टीकाकार मेधातिथि ने इस प्रथा का प्रबल विरोध किया, उनके अनुसार यद्यपि अंगिरा ने सती प्रथा के अनुसरण की अनुमति प्रदान की है, तथापि सही अर्थों में यह आत्महत्या है, जो स्त्रियों के लिए पूर्णतः निषिद्ध है। जो स्त्री शीघ्रता से अपने तथा अपने पति के लिए स्वर्ग पाने को उत्सुक है, वह अंगिरा के वचन का पालन तो करती है, परन्तु उसका आचरण अशास्त्रीय है। अपने पूर्ण विहित जीवन में कर्त्व्य कर्म का पालन करने के पूर्व इस संसार का (बलात्) त्याग नहीं करना चाहिए।[98]

तत्युगीन कुछ अन्य साहित्यिक कृतियों में भी सती प्रथा का विरोध किया गया है तथा इस प्रथा को जघन्य बताते हुए यह विचार व्यक्त किया गया है कि सती होना विधवा के ब्रह्मचारिणी रहने की अपेक्षा अधिक जघन्य है।[99] किन्तु जब सती प्रथा ने समाज में अपनी जड़ें दृढ़ कर लीं तो मिताक्षरा जैसे टीकाकारों ने सती प्रथा को ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक की स्त्रियों के लिए समान रूप से श्रेयस्कर बता दिया।[100] कुछ व्यवस्थाकारों द्वारा सती प्रथा के विरोध के बावजूद समाज में इनका प्रभाव बना रहा। बल्कि मध्यकाल आते-आते हिन्दू

---

98. **मेधातिथि**, मनुस्मृति, 8.156-7

99. **पद्मपुराण स्मृतिचन्द्रिका**, व्यवहारकाण्ड, पृ. – 598; 49.72-3;
    मृच्छकटिक, अंक– 10.

100. **मिताक्षरा**, याज्ञवल्क्य – 1/86

समाज में अभिजात वर्ग में इसका प्रभाव स्थायी होता गया।[101] पूर्वमध्ययुगीन अरब लेखकों ने सती प्रथा के सम्बन्ध में विवरण दिया है तथा उनके अनुसार राजपूत और योद्धा वर्ग ने सती-प्रथा का विशेष अनुपालन किया।[102] धर्मशास्त्रकारों ने भी इस प्रथा का अनुसरण करने के लिए क्षत्रिय वर्ग को ही अधिक उपयुक्त बताया है।[103] ब्राह्मण स्त्री के लिए सती प्रथा का अनुसरण करना ब्रह्महत्या के समान कहा गया है तथा पैठनसि, अंगिरा, व्याघ्रपद आदि शास्त्रकारों के कथनों के आलोक में अपरार्क ने भी यह कहा कि ब्राह्मणों के लिए सती-प्रथा का अनुपालन करना युक्तियुक्त नहीं।[104] कुछ स्मृतिकारों का यह कथन कि बहुधा सम्पत्ति में से स्त्री को हिस्सा न देने के उद्देश्य से लोभवश सती होने के लिए उसे विवश कर दिया जाता था,[105] कुछ अर्थों में सही प्रतीत होता है। जहाँ तक अभिजात्य वर्ग एवं राजाओं की पत्नियों का संबंध है। अल्बेरूनी के अनुसार वे वे चाहें या न चाहें, जल कर मर ही जाना पड़ता है और इस प्रकार यह प्रबन्ध किया जाता है कि वे कुछ ऐसा न कर बैठें जो उनके स्वर्गीय महान पति की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल

---

101. **अल्तेकर** पृ. – 131

102. **हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स,** पृ. 209; **ग्यारहवीं सदी का भारत,** पृ. 164-65

103. **बृहद्देवता** – 5. 15

104. **पद्मपुराण** – 49.72-72-3; उद्धत- **प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन,** पृ. 412;

105. **दायभाग** – पृ. – 46, 56, जीमूतवाहन कृत, बिबलियोथिका इंडिका।

हों। इस संबंध में उन्हीं विधवाओं को छोड़ा जाता है जिनकी उम्र बहुत अधिक हो गई होती है, और उन्हें जिनको कि बच्चे होते हैं, क्योंकि पुत्र अपनी माँ का उत्तरदायी संरक्षक समझा जाता है।[106] गर्भवती विधवा स्त्रियों का सती होना अनुचित माना जाता था अल्पवयस्क पुत्र की मातायें सती नहीं होती थीं। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें विधवा रानियों ने अल्पवयस्क पूत्रों के अभिभावक के रूप में पालन किया तथा सती होने का विचार त्याग दिया था। काश्मीर शासक शंकर वर्मा की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी सुगंधा देवी ने अपने पुत्र गोपाल वर्मा की देखरेख के लिए यावज्ञीवन विधवा रहने का निश्चय किया था तथा सती नहीं हुई थी। काश्मीर की अन्य रानी दिद्दा का भी उदाहरण है जो पति की मृत्यु के बाद सती होने की बजाय शासन-संचालन कर रही थी।[107] रणपाल के बसंतगढ़ अभिलेख में विग्रहराज की विधवा रानी का उल्लेख है। कल्चुरि शासक गयः कर्ण की पत्नी अल्हणादेवी भी वैधव्य धर्म का पालन कर रही थी तथा शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था।[108]

ऐसा प्रतीत होता है कि विधवाओं के जल मरने की प्रथा प्राचीन

---

106. **अलबेरूनी इंडिया**, भाग–2 (सचाऊ) पृ. – 155

107. **राजतरंगिणी** – 5/226-7, 6/197

108. **एप्रिग्राफिया इंडिका** – 2, पृ. 11-15, पद्य – 27-28, भेड़ाघाट अभिलेख

काल में भी प्रचलित थी।[109] ऋग्वेद में भी सती प्रथा की ओर संकेत मिलता है, जहाँ कहा गया है - ओम्! इन महिलाओं को विधवा न रहने देने के लिए अच्छी, पत्नियों की भाँति नेत्र में काजल संजोये हुये, स्वच्छ किया गया है, मक्खन हाथों में लिये हुये, अपने को अग्नि को समर्पित करने दो, उन! अमर महिलाओं को जिन्हें न बच्चे हैं और न पति, रत्नों से सजे हुये अग्नि की गोद में चले जाने दो, उनको जिनके शरीर का मूल तत्व जल ही है।[110]

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में सती होना विधवा की अपनी इच्छा पर निर्भर करता था जैसा कि धर्म सिद्धान्तों के प्रणेता मनु ने स्त्री की चिरन्तन निर्भरता की चर्चा करते हुए कहा है – "उस पुरुष की, जिसे कि उसका पिता अथवा भाई उसे (स्त्री को) अर्पित कर देता है, आज्ञा का वह (स्त्री) जीवन भर पालन करेगी और जब वह मर जायेगा तो वह (उसकी स्मृति का) अपमान न करेगी ...... यदि वह इच्छा रखती है तो उसे विशुद्ध फल-फूलों और जड़ों के आहार पर अपना

---

109. **वैदिक साहित्य** डा. एस. सी. सरकार के, **सम आस्पेक्ट्स ऑफ दि अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री ऑफ इंडिया,** हम्फरी मिलफोर्ड, ओ. यू. पी. लन्दन, पृ. 82-83; एच. एच. विल्सन का **ऐजेज एण्ड लेक्चर्स** (मुख्यतः हिन्दू धर्म पर) खण्ड – 2, लन्दन – 1862 पृ. – 270; एडवर्ड थाम्सन का **सती** लन्दन 1926 पृ. 19 और 28; डा. पी. एन. ओझा का **नार्थ इंडियन सोशल लाइफ ड्यूरिंग मुगल एज,** पाद टिप्पणी, संख्या 139, पृ. – 146

110. एफ. मैक्समूलर का **सेलेक्टेड एजेज ऑन लैंग्वेज,** माइथोलॉजी एण्ड रिलीजन खण्ड – 1 लन्दन – 1881, पृ. 335

जीवन बिताते हुये अपने शरीर को कृश कर देना चाहिये, एक पवित्र स्त्री, जो अपने पति की मृत्यु के उपरान्त भी निरन्तर पवित्र रहती है, अन्य धार्मिक एवं पवित्र व्यक्तियों की भाँति स्वर्ग जाती है, भले ही उसे पुत्र न हों।[111] ऐसा प्रतीत होता है कि मनु ने विधवा के लिये यह विकल्प दिया है कि यदि वह चाहे तो सादगी और तपस्या का जीवन व्यतीत कर सकती है, वह यह नहीं कहते कि विधवा स्त्री मृत पति की चिता पर अनिवार्य रूप से जल मरे। समीक्षाधीन अवधि में सती-प्रथा प्रायः बाध्यकारी हो गई और बलपूर्वक लागू की जाने लगी और सती प्रथा में यह जो बाध्यता का तत्व आ गया उससे वास्तव में सती प्रथा और कष्टदायक और भयानक बन गई। यद्यपि इस युग के साहित्य में भी कुछ ऐसे दृष्टान्त उपलब्ध हैं कि स्त्रियों ने आत्मदाह अपने पति के प्रति निष्ठावान होने के प्रमाण में स्वेच्छा से किये।[112] अबुल फजल ने सती होने वाली स्त्रियों का वर्गीकरण किया है[113] वे जो आत्मदाह के लिये विवश की जाती थीं, वे जो स्वेच्छा से आत्मदाह करती थीं और अपने पति के प्रति विश्वसनीय होने का परिचय देती थीं,

---

111. **दि लॉज ऑफ मनु**, अध्याय – 5 भाग 151, 157 और 160, जैसा कि सेक्रेट बुक ऑफ दि ईस्ट सम्पादक, एफ. मैक्समूलर, खण्ड – 25, आक्सफोर्ड, 1889, क्रमशः पृ. 195, 196 और 197

112. हमीर देव के परिवार की स्त्रियों ने आत्मदाह अपनी स्वेच्छा से किया, **विद्यापति ठाकुर**, पुरुष परीक्षा, अनुवाद, नेरूकर, पृ. 13

113. अबुल फजल कृत **'आइने अकबरी'** अंग्रेजी अनुवाद, एच. ब्लाकमैन, जिल्द - 1, कलकत्ता - 1867-69; एच. एच. जैरेट, जिल्द 2 एवं 3, 1868-94, जिल्द - 2, पृ० - 192-193

वे जो परिवार की रीति और परम्पराओं के अनुसार कार्य करती थीं, और वे जो संबंधियों द्वारा उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती खींच कर आग में डाल दी जाती थीं।

जौहर

सती-प्रथा की ही भाँति अत्यन्त क्रूर एक अन्य प्रथा भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थी जिसे जौहर कहा जाता है।[114] यह प्रथा, मुख्यतः वीर राजपूतों के घरानों तक ही सीमित थी, यद्यपि अन्य घरानों में भी यह प्रथा के प्रचलन के संकेत मिलते हैं।[115] जब कोई राजपूत सरदार और उसके योद्धा युद्ध में लड़ते-लड़ते

---

114. टॉड, **एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान** – 1, पृ. 310-311, 'जौहर' शब्द जातु गृह से आया है। जातु गृह शब्द महाभारत (1, अध्याय 141-151) के सन्दर्भ में लाह तथा अन्य ज्वलनशील पदार्थों से निर्मित घर के अर्थ में आया है।

115. **टॉड, पृष्ठ.** 363 और 381 में राजपूतों के मध्य जौहर का विवरण, वही पुस्तक – 2 (1920) पृ. 744-46 भी देखें। सृजानराय कृत **खुलासान-उत्त-तवारीख,** सम्पा जफर हसन, दिल्ली, 1918, पृ. 25, जिन हिन्दू हत्यारों ने सैय्यद सुल्तान, मुबारकशाह को मार डाला, उनके जौहर विवरण के लिए देखें, – **टी. एम. एस. बिबलियाथिक इण्डिका,** कलकत्ता, 1931, पृ. – 462; साथ ही देखें **तारीख-ए-शेरशाही,** के. पी जायसवाल, रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना में फारसी पाण्डुलिपि, पृ., – 174

निराश हो जाते थे तो वे, पराजय को सम्मुख आया देख, सामान्यतः अपनी महिलाओं और बच्चों को मार डालते थे या उन्हें किसी भूमिस्थ घेरे के अन्दर ताले में बन्द कर, उसमें आग लगा देते थे और तत्पश्चात् हाथ में तलवार लिये हुए, वीरतापूर्ण मृत्यु को गले लगाने के लिए आगे बढ़ते थे। [116] तत्युगीन साहित्य में हमें जौहर प्रथा के अनुपालन के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। रणथम्भौर के चौहान योद्धा ने जब स्वयं को अपनी सेना में कहीं विशाल, सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की क्रुद्ध सेना के समक्ष विवश पाया तो काफी लम्बे समय तक युद्ध करने के पश्चात् उसने अपने जौहर प्रथा को कार्य-रूप प्रदान किया। [117] कम्पिला के राजा ने भी अपने यहाँ जौहर रचाया जबकि उसके किले को सुल्तान मुहम्मद तुगलक की सेना ने इसलिए घेर लिया था कि उसने बहाउद्दीन गुस्ताश्प नामक एक राज्य विद्रोही को अपने यहाँ शरण दी थी।

इब्नबतूता ने इस जौहर का उल्लेख अत्यन्त विस्तृत रूप में किया है – "जब बहाउद्दीन भागकर राय (राजा के यहाँ आया तो सुल्तान की फौजों ने उसका पीछा किया और राज के राज्य को चारों ओर से घेर लिया। राय पर इस कारण बहुत बड़ा दबाव पड़ा और उसके यहाँ खाने-पीने की सभी रसद समाप्त हो गई। इस बात के भय से कि कहीं वह शत्रु के हाथ न पड़ जाये उसने बहाउद्दीन से कहा "तुम देख रहे हो कि घटनाओं ने कैसा रुख लिया है इन परिस्थितियों में मैंने अपने परिवार और अनुयायियों के साथ विनष्ट हो जाने का निर्णय किया है।

---

116. **लाइफ एण्ड कंडीशन्स ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान**, पृ.– 159

117. अमीर खुसरो का **खजायन-उल-फतह**, सम्पादक; मौलाना सैयद मोइनुल हक, अलीगढ़ – 1927, पृ. – 57

बेहतर है कि तुम अमुक-अमुक सुल्तान के यहॉ चले जाओ।" और उसने बहा-उद्दीन को एक हिन्दू राजा का नाम दिया और कहा 'वह तुम्हारी रक्षा करेगा।' तब उसने किसी आदमी के साथ बहा-उद्दीन को उस राजा के पास भेज दिया।[118] इब्नबतूता आगे लिखता है "इसके बाद कम्पिला के राय ने एक बड़ी आग जलाये जाने की आज्ञा दी। जब आग से लपलपाती लहरें उठने लगीं तो उसने उसमें अपनी सभी सम्पत्ति स्वाहा कर डाली और अपनी पत्नियों और पुत्रियों से कहा - इस अग्नि में मैं भी नष्ट हो जाना चाहता हूँ, तुम लोगों में से जो भी चाहें आग में मेरे पीछे आ सकती है।" इस पर उसके यहॉ की महिलायें एक-एक करके स्नान करने लगी और अपने शरीर पर मुकसरी चंदन रगड़ने लगीं, इनमें से प्रत्येक राय के सामने औंधी पड़ गई और फिर स्वयं को अग्नि को सौंप दिया ऐसा तब तक चलता रहा जब तक सब नष्ट न हो गई। ऐसा ही वहाँ के सभी धनिकों, मन्त्रियों और राजकीय पदाधिकारियों की पत्नियों और संबंधित महिलाओं ने किया और अन्य स्त्रियों में से कुछ ने स्वेच्छा से स्वयं को अग्नि में समर्पित कर दिया ...... उसके बाद राय ने स्नान किया, अपने शरीर में चंदन रगड़ा और अपने हथियार उठा लिये पर ढाल न ली उसके उन प्रजाजनों ने भी, जिन्होंने उसके साथ मरना चाहा, वैसा ही किया। वे शाही फौजों से युद्ध करने चल पड़े और तब तक लड़ते रहे जब तक सब के सब खेत न रहे।[119] शेरशाह ने रायसेन के राजपूत शासक पूरनमल के साथ निर्मम व्यवहार किया। पूरनमल को पहले शेरशाह ने सुरक्षापूर्वक

---

118. **दी रेहला आफ इब्नबतूता**, पृ. – 95

119. **दी रेहला ऑफ इब्नबतूता**, पृ. 96; **वायजेज डी. इब्नबतूता,** इब्नबतूता – 1914, भाग – 3, पृ. – 318-319

किले से बाहर जाने के लिये आश्वासन दिया था, परन्तु जैसे ही राजपूत किले से बाहर आने लगे शेरशाह ने उन पर आक्रमण कर दिया। ऐसी परिस्थिति में राजपूतों ने अपनी स्त्रियों और बच्चों को जान से मार डाला।[120]

स्वाभिमानी राजपूत शत्रु के हाथों अपमानित होने, और अमानुषिक व्यवहार से बचने के लिए ऐसा करते थे। इसके अतिरिक्त उस युग में ऐसा कोई समझौता नहीं था कि बन्दियों के साथ शिष्ट व्यवहार करना अनिवार्य हो। अबुल फजल ने चित्तौड़ पर मुगलों के अधिकार के बाद वहाँ के जौहर के विषय में लिखा है – यह एक प्राचीन प्रथा थी चंदन आदि सुगन्धित लकड़ियों का एक ढेर बनाया जाता था और उसमें तेल डाल दिया जाता था। उसके बाद राजपूत लोग कड़े दिल वाले व्यक्तियों की देख-रेख में अपनी स्त्रियों को रख देते थे। जैसे ही युद्ध में राजपूतों और उनकी मृत्यु का समाचार मिलता था, ये लोग उन असहाय स्त्रियों को जलाकर भस्म कर देते थे।[121] कुछ अन्य समसामयिक कृतियों में राजपूतों के बीच व्यापक रूप से प्रचलित इस प्रथा का उल्लेख मिलता है।[122] जौहर की इस प्रथा ने मुस्लिम समाज को भी प्रभावित किया। तैमूर के आक्रमण के समय मटनेर के गवर्नर कमालुद्दीन ने अपनी

---

120. टाड, **इनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज** ऑफ राजस्थान, भाग- दो, पृ. – 744

121. अबुल फजल कृत '**अकबरनामा**, कलकत्ता, 1877 अनुवाद बेवरिज, पृ. 472

122. कवि पद्मनाथ का **कन्हड़दे-प्रबंध**, सम्पा - प्रो. कान्तिलाल बलदेव राय व्यास, प्रकाशक, एन. एम. त्रिपाठी, बम्बई – 1959, भाग – 2, दोहा 152-153, पृ. 42-43, यहाँ पर वीर कनहड़े की रानियाँ उमा दे जयपाल देवी और भवल देवी जौहर में अपनी प्राणाहुति करती बताई गई हैं।

स्त्रियों तथा सम्पत्ति को जलाकर आक्रमणकारी का सामना किया।[123] शेरशाह रायसेन के किले पर इस भय से आक्रमण नहीं करना चाहता था कि मुस्लिम स्त्रियाँ भी राजपूतों के साथ जौहर कर लेंगी।[124] हिन्दू समाज के प्रभाव का यह स्पष्ट प्रमाण है। कतिपय विद्वानों का ऐसा विचार है कि इस्लाम के प्रवेश के पहले भारतीय समाज में सती-प्रथा का कुछ प्रचलन तो था, परन्तु जौहर प्रथा नगण्य रही है।[125] जब तुर्क शासकों का आक्रमण राजपूत राज्यों पर होने लगा तो राजपूत रानियाँ तथा अन्य स्त्रियाँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिये जौहर द्वारा प्राण त्याग देती थीं। इसमें संदेह नहीं है कि विवेच्य युग में जौहर एक पर्याप्त प्रचलित प्रथा के रूप में समाज में अपनी जड़ें जमा चुका था, और यह राजपूत नारीत्व की प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता था।

---

123. **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान**, पृ. 198

124. इकाम एस. एम., **मुस्लिम सिविलाइजेशन इन इंडिया**, लन्दन – 1964 पृ. 123

125. **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान** पृ. 188, 192

पाँचवा अध्याय

पूर्वमध्यकाल में स्त्रियों का आर्थिक योगदान

प्राचीन काल से ही नारी का प्रमुख कार्य क्षेत्र परिवार ही था और परिवार के अभ्युदय के लिये वे स्वार्थों का उत्सर्ग करने में वे अपना जीवन सार्थक मानती थीं। पूर्वमध्ययुगीन साहित्य में नारी के प्रमुख कर्त्तव्यों की विवेचना करते हुए लिखा गया है कि उनके मुख्य कर्त्तव्य थे – परिवार के जनों की सेवा करना, आत्मसंयम और कुशलतापूर्वक घर के सभी कार्यों का प्रबन्ध करना, भोजन बनाना एवं बच्चों का पालन-पोषण करना।[1] इन गृहस्थ कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी ऐसे कार्य थे, जिनके द्वारा महिलायें धनार्जन करती थीं एवं अपने परिवार को आर्थिक सहायता प्रदान करने में सहायक होती थीं। जैसे कृषि कार्य में पति की सहायता करना, वस्त्र बुनना, टोकरी बुनना, सिलाई करना, कढ़ाई करना आदि स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले प्रमुख कार्य थे।[2] तत्युगीन प्रसिद्ध साहित्यकार अमीर ख़ुसरो के अनुसार प्रत्येक स्त्री में कम से कम इतनी योग्यता अवश्य होनी चाहिये कि वह स्वयं के लिये अपना दुपट्टा बुन सके।[3]

---

1. अमीर खुसरो कृत **हश्त-बहिश्त** पृ.-28; पी.एन. ओझा, **नौर्थ इंडियन सोशल लाइफ**, दिल्ली 1975, पृ.-119; **अल्बेरुनीज इंडिया** (सचाऊ) भाग-1, पृ.-181.

2. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** पृ.-179-183; अमीर खुसरो कृत- **मतलाउल-अनवार** पृ.-253; इन्द्रा, **स्टैट्स ऑफ वुमैन इन एन्शियेन्ट इंडिया**, पृ.-151.

3. अमीर खुसरो कृत **मतलाउल-अनवार** पृ.-253.

आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिये विवेच्य युग में स्त्रियां विभिन्न जीविका अपनाती थीं और समाज द्वारा इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। जीविका के धनार्जन करने वाली स्त्रियों का पूर्वमध्ययुगीन समाज में एक पृथक वर्ग था। इनके अन्तर्गत गणिकायें, देवदासियाँ, वारांगनायें सेवावृत्ति में रहने वाली दासियाँ, ग्वालिन, नाउन तथा वार-बनिताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

साधारणतया सौन्दर्य, यौवन व कला-कौशल द्वारा धनार्जन करने वाली स्त्रियाँ गणिका कहलाती थीं। समीक्षाधीन अवधि में इनकी संख्या बहुत अधिक थी। समय-समय पर जैसे कि सार्वजनिक भोजों, त्योहारों, शादी-विवाह आदि में मनोरंजन के लिए वेश्याओं व नर्तकियों को आमंत्रित किया जाता था।[4] इनके निवास हेतु नगरों में अलग से मुहल्ले बने हुये थे। सामान्यतः इन्हें रंगी,[5] गणिका,[6] पातुर,[7] नर्तकी[8] या

---

4. **पृथ्वीराज रासो**, प्रथम भाग, पृ.-1564, छन्द-1-2 तथा पृ.-567, छन्द-61; क्षेमेन्द्र कृत **वृहत्कथामंजरी** पृ.-550 पद-117, अमीर खुसरो कृत **नूह-सिफिर** 1/11 पृ.-379; कल्हण कृत **राजतरंगिणी** 8/958.

5. दामोदर गुप्त कृत, **कुट्टनीमतम्**, कलकत्ता, 1944, पृ.-723-725 सिद्धर्षि कृत **उपमिति-भव-प्रपंचकथा** , कलकत्ता-1899, पृ.-374.

6. **वृहत्कथामंजरी** पृ.-548 पद-88, मेरुतुंग कृत **प्रबन्ध-चिन्तामणि,** सम्पा. जिनविजयमुनि, पृ.-168.

7. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-2375 छन्द-1642, **कथासरित्सागर** 2/7/3/160.

8. **सन्दश रासक** पृ.-153 पद-46; **उपमिति-भव-प्रपंच कथा**, पृ.-618; **नूहसिफिर** पृ.-379.

वेश्या[9] आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। ये रमणियाँ सर्वांग सुन्दरी तथा बत्तीस लक्षणों से युक्त रहती थीं।[10] विधवा-विवाह तथा नियोग-प्रथा का समाज से विलोप हो जाने के कारण वेश्यावृत्ति में वृद्धि हुई तथा समाज में लोगों का झुकाव भी वेश्यावृत्ति की ओर अधिक होने के कारण, पूर्वमध्यकाल में इनकी संस्थाओं में और अधिक वृद्धि हो गई, जब विधवायें त्यागमय एवं कठोर तपस्यामय जीवन व्यतीत करने में असमर्थ होतीं तो उन पर दुराचारी होने का आरोप लगाकर घर से निकाल दिया जाता था, परिवार के इस निष्ठुर व्यवहार से पीड़ित विधवा स्त्री जीवन-यापन हेतु कभी-कभी वेश्यावृत्ति अपनाने को बाध्य हो जाती थीं।[11] गणिका का जीवन संगीत और ललितकला का सम्मिश्रित स्वरूप था, जो उसका प्रधान व्यवसाय भी था। आज की तुलना में तत्युगीन समाज में गणिका आदर और प्रशंसा की पात्र थीं। जन-जीवन के सांस्कृतिक कार्य-कलाप और विलासमय जीवन की वह महत्वपूर्ण अंग बन चुकी थी। गणिकायें समाज के केवल आकर्षण का केन्द्र अथवा मनोरंजन का साधन ही नहीं थीं वरन् शासकों के राज्य कोष की आमदनी का साधन भी थीं। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि व्यवसाय करने वाली गणिकायें राजकोष में व्यवसायिक कर प्रदान किया करती

---

9. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-869 छन्द-9; **सन्देश रासक** पृ.- 153, पद-46; **कीर्तिलता** द्वितीय पल्लव छन्द-16 दोहा-113-118, पृ.-78-79; **कथासरित्सागर**-पृ.-37, पद-93 एवं 96.

10. **पृथ्वीराज रासो** पृ.-960, छन्द-5; ज्योतिरीश्वर कृत **वर्णरत्नाकर** चतुर्थ **कल्लोल** (अथ वेश्यावर्णनम्) पृ.-26-27, चौपाई-553.

11. दण्डि कृत **दशकुमार चरित** उत्तर पीठिका, द्वितीय उच्छवास।

थीं।[12] उस काल की यह एक दिलचस्प अवधारणा थी, कि 'लोग वेश्यावृत्ति को हेय दृष्टि से नहीं देखते थे। अल्बेरुनी के अनुसार उन्हें उसके लिये सामाजिक अनुमति मिली हुई थी। वेश्या की दण्ड देने के विषय में हिन्दू क्रूर नहीं थे। इस संबंध में राजा को दोषी माना जाता था न कि राष्ट्र को। यदि ऐसा न होता तो ब्राह्मण या पुरोहित नाच-गान और क्रीड़ा करने वाली स्त्रियों को अपने मूर्ति-मन्दिरों में घुसने न देते। यही नहीं, राजाओं ने उन्हें आर्थिक कारणों से नगर-आकर्षण के रूप में भी रखा था, ताकि प्रजाजन आनन्द ले सकें। इस आदि कालीन व्यवसाय का आर्थिक कारण है, इससे करों और दण्ड के रूप में जो आय होती है उससे सेना पर होने वाले व्यय की प्रतिपूर्ति की जाती है।[13] स्पष्ट है कि गणिका के सम्बन्ध में समाज में दो परस्पर विरोधी धारणायें थीं, उन्हें सदैव हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था, उच्च पदाधिकारी तथा अभिजात वर्ग इनकी ओर केवल आकृष्ट ही नहीं था बल्कि इनकी कला का यथोचित सम्मान भी करता था।[14] चंदबरदाई ने पृथ्वीराज रासो में सुल्तान शहाब-उ-उद्दीन गोरी द्वारा संरक्षित चित्रलेखा नामक गणिका का उल्लेख मिलता है जिसका सौन्दर्य कामदेव की पत्नी रति की याद दिलाता था और वह संगीत एवं नृत्य में पूर्णतः पारंगत थी।[15]

---

12. **आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया** एनुअल रिपोर्ट, 1908-9, पृ.-119.

13. **अल्बेरुनीज इण्डिया**-भाग-2 (सचाऊ) पृ.-157.

14. दामोदरगुप्त कृत **कुट्टनीमतम्** 743-755; **प्रबन्धचिन्तामणि**-108, क्षेमन्द्र कृत **वृहत्कथामंजरी**, पृ.-550 पद-117; **हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र** भाग-3, पृ.-637.

15. **पृथ्वीराज रासो**-भाग-1, समय-11, कवित्त-3, पृष्ट-243 इक्क पात्र सहाब, चित्ररेखा सु नाम तस रूप रंग रति अंग, गण परिणाम विचक्खन

उदार चरित और सदाचार गणिकाओं की महारानियों तथा अन्य कुलीन स्त्रियों से भी यदा-कदा तुलना की गई है।[16] गणिकाओं में श्रेष्ठ गुणों की अपेक्षा की जाती थी, विशेष गुणों तथा व्यवहार से परिपूर्ण वे समाज में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने की अधिकारिणी होती थी।[17] सौन्दर्य से पूर्ण गणिकाओं को चौसठ कलाओं में निष्णात होना आवश्यक था और वे उसमें पारंगत होती थीं।[18] पूर्वमध्यकालीन साहित्य में गणिकाओं की श्रृंगार विधियों का भी उल्लेख मिलता है। यथा – वे पत्रावली एवं तिलक का विधान पूरा करती थीं, तथा अपने कपोल व शरीर के अन्य अंगों में विशेष रेखाकृति बनाती थीं, जो चन्दन, गोरोचन और कस्तूरी की होती थीं।[19] समीक्षाधीन अवधि के प्रसिद्ध साहित्यकार अमीर खुसरो ने गणिकाओं के विषय में विस्तृत उल्लेख किया है – तद्नुसार ये गणिकायें प्रायः सुन्दर होती थीं, उनके केश अत्यन्त लम्बे होते थे, आँखें बड़ी होती थीं तथा

---

16. सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** 2/7/3/160; हेमचन्द्र कृत **त्रिशष्टिशलाका-पुरुष-चरित** वोल्यूम 11 पृ.-6.
17. सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** 2/7/3/160; **पृथ्वीराज रासो** (करनाटी पात्र) पृ.-869, छन्द-9, **दशकुमार चरित**, उत्तर पीठिका, 2/41.
18. कल्हण कृत **राजतरंगिणी** 7/619 तथा 6/235; सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** 10/57/61; **पृथ्वीराज रासो** समय-11 (हुसैन कथा) कवित्त-3 पृ.-243; **नूह-सिफिर** 1/11, पृ.- 379.
19. विद्यापति की **कीर्तिलता** द्वितीय पल्लव, छन्द-24, दोहा-136, पृ.-84.

उनकी सुमधुर आवाज उनके सौन्दर्य में और अधिक वृद्धि करती थीं, ये स्त्रियां प्रायः बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण धारण करती थीं तथा विभिन्न प्रकार के प्रसाधनों के प्रयोग के द्वारा स्वयं को और अधिक आकर्षक बनाने का प्रयास करती थीं।[20]

इस युग के साहित्य में रुपजीवा गणिका के विस्तृत वर्णन हैं, जो सभी कालों में राजदरबारियों को प्रभावित करती रही हैं। इन गणिकाओं की उपस्थिति से राजदरबार की शोभा में वृद्धि होती थी, विवेच्ययुगीन राजदरबार गणिकाओं से पूर्ण हुआ करते थे।[21] तथापि कतिपय विवरणों से यह भी आभासित होता है कि समाज में उनके प्रति हेय दृष्टिकोण था।[22] तद्नुसार वे रुपवती युवतियाँ अवैध रूप से अपनी जीविका चलाती थीं, ये लुभावनी स्त्रियां बाजार में एकत्र होती थीं और अन्य युवतियों को अपने पेशे में लाने के लिये प्रलोभन देती थीं। उनकी लज्जा अस्वाभाविक थी और रूप, रंग कृत्रिम। उन्हें केवल धन से प्रेम था और दूसरों को लुभाने के लिये ही वे विनम्रता का प्रदर्शन करती थीं, साथ ही वे अपना धन बढ़ाने के लिये अत्यधिक लुब्ध

---

20. अमीर खुसरो कृत **नूह-सिफिर**, 1/11, पृ.- 379, 380 एवं 383.

21. क्षेमेन्द्र कृत **वृहत्कथामंजरी**, पृ.-548, पद-88, पृ.-548, पद-95; **कथासरित्सागर** पृ.-37, पद-93; **पृथ्वीराज रासो** भाग-1, पृ.-291, छन्द-13, पृ.-1564, छन्द-1-2, 567 छन्द-61.

22. कल्हण कृत **राजतरंगिणी** 8/958; **कथासरित्सागर** 10/57-176 तथा 1-3/2/128-129 **विद्यापति कीर्तिलता**, द्वितीय पल्लव, छन्द-25, दोहा-132-133.

थीं। पति से वंचित होते हुये भी वे अपनी माँग में सिन्दूर भरती थीं।[23]

यह कहा जा सकता है कि विवेच्युग में इस प्रथा को शासक एवं अभिजात वर्ग ने प्रश्रय प्रदान किया था तथापि गणिकाओं के संगीत एवं नृत्यकला को यथोचित सम्मान दिया जाता था। राजदरबारों में गणिकाओं का महत्व इतना अधिक बढ़ गया था, कि सामंत शासक अपने अधिपति को प्रसन्न करने के लिये गणिकाओं को भेंट स्वरूप प्रदान करते थे।[24] गणिकाओं का कुछ विशिष्ट गणिका धर्म होता था। प्रत्येक गणिका इसका पालन स्वयं भी अनिवार्य रूप से करती थी और प्रायः अपनी पुत्री को भी गणिका धर्म का पालन करने को विवश करती थी।[25] पूर्वमध्यकालीन कतिपय ग्रन्थों में गणिका धर्म का विस्तृत वर्णन है। गणिकाओं के लिये कुछ प्रमुख निर्देश इस प्रकार थे – पाँचवा वर्ष, समाप्त होते ही कन्या की माता को पुत्री को अपने संरक्षण में ले लेना चाहिये। जन्म के दिन

---

23. विद्यापति रचित **कीर्तिलता,** द्वितीय पल्लव छन्द - 16, दोहा - 113 - 118, पृ. - 78 - 79, द्वितीय पल्लव, छन्द - 24, दोहा - 138, पृ.- 85, द्वितीय पल्लव छन्द - 25, दोहा - 132 - 33 पृ. - 82 - 83 जहाँ उल्लिखित है – लज्ञा कित्तिम कपट तारुण, धननितित्ते धाए प्रेम, लोये बिना सौभागे कामन, बिनु स्वामी सिंदूर परा परिचय अपमान, साथ ही देखें - डॉ. जयकांत मिश्र का **'ए हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर** खण्ड-1, इलाहाबाद 1949 पृ.-149.

24. दशरथ शर्मा, **अर्ली चौहान डायनेस्टीज**, पृ.-26

25. **कथासरित्सागर**, उत्तर पीठिका-215.

तथा संक्रान्त आदि दिनों में उत्सव के साथ मंगल कार्य करना चाहिये। सभी अंगों सहित अनंगविद्या पढ़ाये, नृत्य, गीत वाद्य, नाट्य, चित्रकला, भोज्य पदार्थ, गन्ध-पुष्प आदि कलाओं तथा पढ़ने-लिखने व वार्त्तलाप में पूर्ण निपुण करे। व्याकरण, तर्क और सिद्धान्त वार्त्ता, सजीव द्यूत कला और पाँसा आदि का मर्म समझा दे। यात्रा और उत्सव आदि के अवसर पर आदर के साथ कन्या का श्रृंगार करके उसे लोगों के समक्ष ले जाये। कन्या को चाहने वाले नायक के प्रिय मित्र, और विदूषक आदि के द्वारा नागरिकों के समवाय में कन्या के रूप, शील, कौशल, सौन्दर्य और माधुर्य का बखान करावे। युवकों के मनोरथ की लक्ष्य-भूमि बनाकर कन्या का अधिक से अधिक मूल्य निर्धारित करे। यदि स्वतः रागान्ध, अथवा कन्या के हाव-भाव से उन्मत्त, जाति, रूप, वय, धन, शक्ति, शुचिता, त्यागदक्षता, शिल्प, माधुर्य से युक्त एवं स्वतन्त्र प्रेमी मिले तो कन्या को उसके हवाले कर दे। जिससे अधिक धन मिल सके और किसी प्रकार की विघ्न बाधा न हो ऐसी अनिन्ध बातें सोचकर धनिकों के साथ कन्या का मेल करावे। किन्तु उसमें इस बात का ध्यान रखे कि सम्बन्ध सदा ऐसे लोगों के साथ ही करें जहाँ से धन मिलने में कोई संशय न हो।[26]

इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि गणिका का सर्वप्रथम धर्म धनार्जन करना था। समाज का एक ऐसा वर्ग था जो इनके सानिध्य में जाकर इनके व्यवसाय को प्रोत्साहित करता था। इसका प्रधान कारण संगीत व नृत्य के प्रति आकर्षण व लोगों की सौन्दर्य पिपासा थी।

---

26. **दशकुमार चरित**, उत्तर पीठिका – 216

देवदासी-प्रथा

भारत में जब देवमन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, तो उनके वैभव और ऐश्वर्य को प्रभायुक्त करने के लिये अनेक नियोजनायें की गयी। आराध्य देव के सम्मुख नृत्य, और सुमधुर स्वर में देवस्तुति हेतु जो सुन्दरियाँ नियुक्त की जाती थीं, उन्हें देवदासी कहा जाता था। इनका मुख्य कार्य था देवमन्दिर में नृत्य, गान तथा संगीत का चित्ताकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत करना। जिससे देवमन्दिर गुंजायमान रहे।[27] पूर्वमध्ययुगीन समाज में यह प्रभा भली-भाँति स्थापित हो चुकी थी। तत्युगीन साहित्यिक ग्रन्थों में देवदासी प्रथा का विशद वर्णन उपलब्ध होता है।[28] कभी-कभी निःसन्तान व्यक्ति अपनी प्रथम सन्तान मन्दिर को दान दे देते थे, जिससे यह प्रथा और अधिक विकसित हुई।[29] देवदासियों का पद धर्म से सम्बन्धित होने के कारण समाज में सम्मानीय था। जब इस प्रथा का प्रचलन बहुत अधिक बढ़ गया तो अभिलेखों में भी इनका

---

27. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** अध्याय-vi पृ-182; **प्राचीन भारत में सामाजिक जीवन**, पृ-402।

28. **वृहत्कथामंजरी**-पृ-551, पद-129, पृ 551 पद 137 **विक्रमांकदेव चरित** 31/7/21; **राउलवेल** पृ- 101 पद-37 **कुट्टनीमतम** 743-755; **प्रबन्धचिन्तामणि** पृ-108; राजतरंगिणी 7.858; **अलबेरुनीज इंडिया,** भाग-1 पृ-116; **अर्ली चौहान डायनेस्टीज** पृ-260।

29. उद्धृत, अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,** पृ-183।

वर्णन किया जाने लगा।[30] देवदासी प्रथा को वस्तुतः शासक एवं अभिजात वर्ग ने प्रश्रय प्रदान किया था।[31] पूर्वमध्ययुगीन प्रायः सभी विशाल मन्दिर देवदासियों से पूर्ण होते थे, इनकी संख्या कभी-कभी सौ से भी अधिक हो जाया करती थी। मुल्तान के सूर्य-मन्दिर में देवदासियों की एक विशाल संख्या नृत्य एवं संगीत के मनोहारी कार्यक्रम प्रस्तुत करती थी।[32] राजा विक्रमांक देव के मन्दिर के आँगन में नृत्य करने वाली नर्तकियों का विवरण साहित्य में उपलब्ध है, ये नर्तकियाँ अद्वितीय रूपवती थीं।[33] सौराष्ट्र के सोमनाथ मन्दिर में पाँच सौ देवदासियाँ थीं, जो अपने नृत्य द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने के लिये सदैव तत्पर रहती थीं।[34] गुजरात के चार हजार मन्दिरों में लगभग बीस हजार देवदासियों का उल्लेख मिलता है।[35] इनके निवास की सम्पूर्ण व्यवस्था राजाओं के द्वारा होती थी। नृत्य का सम्बन्ध धर्म से जुड़ा था तथा उसे देवताओं को प्रसन्न करने का साधन माना जाता था, इसीलिये विवेच्ययुग में मन्दिरों में

---

30. **एपिग्राफिया इंडिया XI** पृ-28; **एपिग्राफिया इंडिया** 9 पृ- 291; **जरनल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल,** 9 पृ-766।

31. सचाऊ, **अलबेरूनीज इंडिया** भाग-2 पृ-157; **ग्यारहवीं सदी का भारत** पृ-159-62।

32. वाटर्स ती., **हुयेनसांग ट्रैवेल्स इन इंडिया,** लन्दन 1907 भाग-2 पृ- 254।

33. विल्हण कृत **विक्रमांक देव चरित** 31/7/21;।

34. **अल्बेरुनीज इंडिया** (सचाऊ) भाग-1 पृ-116।

35. रेनाडॉट ई., **एनिशियेन्ट एकाउन्ट ऑफ इंडिया एण्ड चाइना बाइ टू मोहम्डन ट्रैवलर्स** पृ-213।

देवदासियों को रखने की प्रथा पर्याप्त प्रचलित थी। धर्म में इनका महत्व इतना अधिक बढ़ गया कि मन्दिरों की वाह्य दीवारों पर इनकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण कर दी गई। खजुराहों, भुवनेश्वर, कोणार्क, राजस्थान में ओसिया, सोहानिया आदि मन्दिरों की दीवारों पर देवदासियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। [36] धर्म के नाम पर प्रारम्भ की गई देवदासी प्रथा में कालान्तर में विकृति आ गई तथा शासक वर्ग देवदासियों का शोषण करने लगा।[37]

समीक्षाधीन अवधि के साहित्यिक उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वमध्ययुगीन समाज के सभी वर्गों ने देवदासी प्रथा को मान्यता नहीं प्रदान की थी। ब्राह्मण, जैन एवं सन्यासी वर्ग मन्दिरों में नर्तकियों के रूप में देवदासियों को नियुक्त किये जाने का कट्टर विरोधी था।[38] तत्युगीन प्रमुख सुधारक जिनदेव सूरी, जिनवल्लभ आदि ने देवदासी प्रथा के विरोध में प्रचार किया, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई क्योंकि ये प्रथा न केवल मनोरंजन प्रदान करती थी अपितु इससे राज्य को कर के रूप में प्रचुर आय भी होती थी। विरोधों के बावजूद शासक एवं अभिजात वर्ग के प्रश्रय के फलस्वरूप पूर्वमध्ययुग में देवदासी प्रथा अत्यन्त प्रचलित हुई। अल्बेरुनी के अनुसार इस सम्बन्ध में दोष राजाओं का है न कि समस्त राष्ट्र का। अगर ऐसा न होता तो कोई भी ब्राह्मण या पुरोहित नाच-गान और क्रीड़ा करने वाली स्त्रियों को मन्दिरों में मूर्ति-पूजा करने न घुसने देते, राजाओं ने उन्हें नगर आकर्षण के रूप में रखा है ताकि प्रजाजन उनसे आनन्द ले सकें, इसका आर्थिक कारण है इस चिर पुरातन

---

36. **मेम्वायर्स ऑफ आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया**-70, पृ-33।

37. कल्हण कृत **राजतरंगिणी,** स्टाइन का अनुवाद, लाहौर 1892, 8/708, 4/36, 7/858।

38. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,** पृ-184।

व्यवसाय से करों और दण्ड के रूप में जो आय होती है उससे सेना पर होने वाले व्यय की प्रतिपूर्ति की जाती है।[39] ये मन्दिर धीरे-धीरे एक धार्मिक केन्द्र के अतिरिक्त सामाजिक एवं आर्थिक केन्द्र का भी रूप धारण कर रहे थे। कुछ लोग मन्दिर अपनी धार्मिक आस्था के कारण नहीं अपितु मनोरंजन एवं देवदासियों के नृत्य-गान देखने के लिये जाते थे, इस प्रकार ये मन्दिर सौन्दर्य पिपासा एवं कामोद्दीपन के केन्द्र बनने लगे। दक्षिण भारत के अनेक अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि उस प्रदेश के अनेक राजाओं ने मंदिरों में देवदासियों की सेवायें अर्पित की थीं।[40]

दासी वर्ग

पूर्वमध्ययुगीन समाज में स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग था जो आत्मनिर्भर होकर जीवन यापन करता था, इनका प्रमुख कार्य था उच्चवर्गों की परिचर्या करना। यह दासी वर्ग था। राजपरिवारों और धनिकों के वैभव वर्णन में सहस्त्रों दासियों का उल्लेख समकालीन साहित्य में उपलब्ध होता है।[41] दासी को अनेक नामों से सम्बोधित

---

39. **अल्बेरूनीज इंडिया** (सचाऊ) भाग-2 पृ-157।

40. **मेघातिथि** टीका मनुस्मृति-9, 135; **एपिग्राफिया इंडिका** 22, 122 आदि; इलियट एण्ड डाउसन, **हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स** - 11, 17, 8।

41. अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक** पृ-153 पद-46 **बीसलदेव रासो** पृ-228 पद-40; हेमचन्द्र कृत **अभिधानचिन्तामणि** श्लोक संख्या-360 एवं 534; **पृथ्वीराज रासो,** प–964 छन्द-24, पृ-939 छन्द 3/ पृ-857 छन्द 670।

किया जाता था, जैसे - धात्री, परिचारिका, प्रेष्या, भुजिष्या दूती आदि।[42] प्रायः ये कार्यानुसार नाम भेद थे किन्तु यह विभाजन स्पष्ट नहीं है। राजकन्यायें एवं रानियाँ सदैव ही अनेक दासियों से घिरी रहती थीं, मूर्तिकला एवं चित्रकला में भी इस वर्ग की नारियों का अंकन बहुतायत से मिलता है। राजपरिवारों में निवास करने वाली दासियाँ सुन्दर, कलाकुशल एवं वस्त्राभूषणों से अलंकृत होती थी।[43] कन्या के विवाह में दहेज में उसके साथ दासियों को भी प्रदान करने की प्रथा पूर्वमध्ययुगीन अभिजात वर्गों में विद्यमान थी।[44] युद्ध में पराजित शत्रुओं की हस्तगत की गई सम्पत्ति में दासियाँ भी सम्मिलित होती थीं। दासियों का सम्पत्ति के रूप में लेना-देना भी चलता था।[45] क्रय की हुई दासी को अपने स्वामी के परिवार में सभी प्रकार के कार्य करने पड़ते थे।

---

42. **लेखपद्धति**-(सम्पा. दलाल एवं गोण्डेकर, बड़ोदा-1985) पृ-41-47; **नवसाहसांक चरित** 4/45; हेमचन्द्र कृत **अभिधानचिन्तामणि**-534; **हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र** II पृ-184।

43. **लेखपद्धति** पृ- 41-47; **पृथ्वीराज रासो** (पुंडीर-दामिनी विवाह) पृ- 352 छन्द-12; हेमचन्द्र कृत **त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित** 3.248; **नवसाहसांक चरित** 445।

44. **पृथ्वीराज रासो** (प्रथा विवाह पृ-395 छन्द 56, पुंडीर दामिनी विवाह-पृ-352 छन्द-12; इन्द्रावती विवाह, पृ939 छन्द-31, **कांगुरा युद्ध**, पृ- 964 छन्द 24, कनवज्ज पृ-857 छन्द 670; सोमदेव कृत **कथासरित्सागर**-1 पृ-92।

45. दण्डि कृत **दशकुमार चरित** उत्तर पीठिका 6/39; **लेखपद्धति**-44-47; राशिद, **सोसायटी एण्ड कल्चर** पृ-33।

राजकुलों में पुरुषों तथा स्त्रियों की परिचर्या के लिये परिचारिकाओं की नियुक्ति होती थी। स्नान, वस्त्र-प्रसाधन, शय्या, आसन आदि की पूर्ण जानकारी इनहें होती थी, केश-विन्यास, माल्यग्रन्थन, चन्दन विलेपन आदि अंगराज बनाना इन सभी कलाओं में परिचारिकायें निपुण होती थी।[46]

अन्तःपुर में निवास करने वाली वृद्ध दासियाँ अपने देश तथा कुल के आचार-विचारों से परिचित होती थीं। राजकन्याओं की वे राजदार होती थीं तथा उनका हृदयगत जानकर उनकी व्यथा निवारण करने के उपायों में कुशल होती थी। राजकुमारियों के अभिप्राय समझकर उनके अनुरूप कार्य करना इनका विशेष गुण होता था।[47] रानियों तथा राजकन्याओं की सखी के रूप में कुछ दासियाँ विशेष सम्मान प्राप्त करती थी, हास-परिहास, क्रीड़ा विहार, मंगल-कार्य, पर्यटन, मनोरंजन आदि में ये दासियाँ राजकन्याओं एवं रानियों का साथ देती थी।[48] ये निपुण दासियाँ राजकुमारियों के व्यक्तिगत कार्यों का ध्यान रखती थी तथा सभी प्रकार की राजनीतिक एवं प्रायः व्यवहारिक नीतियों की ज्ञाता होती थीं[49] चँवर

---

46. अब्दुल रहमान कृत **सन्देश-रासक** पृ-186 पद-187 **कथासरित्सागर** - 1 पृ-261, 307;।

47. **कादम्बरी,** प्रत्युत्तरा वर्णना, 83; **नवसाहसांक चरित** 1/4/59; धनपाल कृत **तिलकमंजरी,** पृ- 36।

48. **नवसाहसांक चरित** 1/4/59; **कथासरित्सागर** पृ-261, 307; **लेखपद्धति** - 41-47; **कादम्बरी** प्रत्युक्तरावर्णन 83; **तिलकमंजरी** पृ-36।

49. **अभिधान चिन्तामणि,** श्लोक संख्या 534; **नवग्राहसांक चरित** 1/4/59 **तिलकमंजरी** पृ-361।

हाथ में लिये दासियाँ, जिन्हें चँवर-धारिणी कहा जाता था, राजा तथा रानियों के पीछे प्रत्येक स्थान पर उपस्थित रहती थीं। विशेष रूप से सुन्दर दासियों को यह कार्य सौंपा जाता था।[50] मूर्तिकला में इनका अंकन बहुत अधिक किया गया है।[51] समकालीन साहित्य में धाय अथवा धात्री का वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है।[52] ये मातृत्व समझी जाती थीं, दासियों में सर्वाधिक सम्मानीय एवं विश्वासपात्र स्थान इन्हें प्राप्त था। इनका मुख्य कार्य उच्चवर्गीय परिवारों के शिशुओं का पालन-पोषण व उनकी देखभाल करना था।[53] पूर्वमध्ययुगीन ग्रन्थ हेमचन्द्र कृत त्रिशिष्ट-शलाका-पुरुष-चरित में दासियों का कार्य कूटना, पीसना घर में झाड़ू लगाना, गोबर से घर लीपना आदि था।[54] एक अन्य ग्रन्थ लेखपद्धति[55] के चार दस्तावेजों में अत्यन्त विस्तार से दासियों के कार्य का वर्णन है। पहले दस्तावेज में पानी भरना, घर लीपना, खेत का कार्य, दूध दुहना, शौचालय साफ करना दाइ करती

---

50. **नवसाहसांक चरित** 4/45।

51. **एपिग्राफिक इंडिया,** 4 पृ-136; **सागर विश्वविद्यालय पुरातत्व संग्रहालय** सं. 194; **मेम्बायर्स आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया,** संख्या-70 पृ- 33।

52. **पृथ्वीराज रासो** भाग-3 पृ-540 छन्द 3 तथा पृ-77 छन्द 347;
प्रियदर्शिका 1/7।

53. **पृथ्वीराज रासो** भाग-3 पृ- 540 छन्द-3 तथापृ-77 छन्द 347; **प्रियदर्शिका** 1/7।

54. लल्लन जी गोपाल, **इकनामिक लाइफ इन नार्दन इण्डिया** वाराणसी, 1965, पृ- 73।

55. **उपरोक्त**।

थी। दूसरे दस्तावेज में अन्य कार्यों के साथ-साथ खाना बनाना, फर्श साफ करना आदि भी करती थी। तीसरे दस्तावेज में खेत जोतना, मालिश करना, हाथ-पाँव धोना, नाली साफ करना, जलाशय साफ करना, गाय-भैंस आदि की देखभाल करना आदि था। ऐश्वर्य के लिये रखी जाने वाली दासियों का उल्लेख मेघातिथि में है, जिन्हें विज्ञानेश्वर ने अवरुद्ध एवं भुजिष्या कहा है।[56]

यथार्थ में दासी परिवार का एक अभिन्न अंग मानी जाती थी तथा परिवार के प्रत्येक सदस्य से उसके प्रति सद्व्यवहार की अपेक्षा की जाती थी। कन्याओं की सखी के रूप में जो दासियाँ होती थी उनके साथ कन्या का व्यवहार सौहार्दपूर्ण होता था तथा हास-परिहास चलता रहता था। उन्हें परिवार की अन्य स्त्रियों के साथ आमोद-प्रमोद के भी पर्याप्त अवसर मिलते थे।

स्त्री का सम्पत्ति विषयक अधिकार

स्त्रियों की आर्थिक स्थिति पर विचार करते हुये हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने उसके सम्पत्ति विषयक अधिकार को स्वीकार किया है तथा उन विशेष परिस्थितियों का विस्तृत विश्लेषण किया है जिनके कारण सम्पत्ति में वे अपना भाग प्राप्त करती थीं। पूर्वमध्यकालीन शास्त्रकारों ने स्त्री के आर्थिक जीवन को सुगम बनाने के लिये सम्पत्ति में उसके अधिकार को स्वीकार किया और तत्सम्बन्धित प्रबल तर्क भी प्रस्तुत किये।

---

56. बोस अतेन्द्र नाथ, **सोशल एण्ड रुरल इकोनामी 'ऑफ नार्दन इंडिया'**, भाग-2 पृ- 191।

कन्या के साम्पत्तिक अधिकार

हिन्दू समाज में कन्या का सम्पत्ति विषयक अधिकार विवादग्रस्त रहा है। वैदिक कालीन कुछ ऐसे विवरण हैं जो स्त्री के सम्पत्ति विषयक उत्तराधिकार पर आक्षेप करते हैं।[57] किन्तु यह उल्लेखनीय है कि वैदिक काल में भ्राता के न रहने पर कन्या को पारिवारिक सम्पत्ति में उत्तराधिकारी स्वीकार किया जाता था।[58] विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा तथा जीमूतवाहन कृत दायभाग विवेच्य युग के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिनमें नारी के साम्पत्तिक अधिकारों की विस्तृत विवेचना मिलती है। पूर्वमध्ययुगीन व्यवस्थाकारों ने दृढ़तापूर्वक पुत्री के हित में अपने विचार प्रकट किये तथा कन्या के सम्पत्ति अधिकारों को स्वीकार किया।[59] विज्ञानेश्वर ने कन्या के अधिकारों को बहुत स्पष्ट किया तथा अपरार्क,[60] देवण्णभट्ट तथा चण्डेश्वर, जीमूतवाहन[61] आदि ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया। विश्वरूप (याज्ञवल्क्य का टीकाकार)[62] ने भी कन्या को सम्पत्ति का अधिकारी माना है। पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकारिणी होने के नियम की पुष्टि अल्बेरुनी

---

57. **ऋग्वेद** 3/31/2; **तैत्तिरीय संहिता** 6.5.8.2; **शतपथ ब्राह्मण** 4.4.2.13

58. **ऋग्वेद** 1.124.7 तथा 7.4.8

59. जीमूतवाहन, **दायभाग** 11.24; विज्ञानेश्वर, **मिताक्षरा** 20/135-36

60. **याज्ञवल्क्य** 2/135-136 पर टीका

61. **दायभाग** 11/2/1-3

62. **विश्वरूप,** याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज-1962

ने भी की है।[63] पिता के दिवंगत हो जाने पर अपनी बहन का विवाह सम्पन्न करना भाई का परम कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व था तथा उसके द्वारा अपने हिस्से का एक चौथाई भाग उक्त विवाह में व्यय कर सकने का भी प्रावधान था।[64] परन्तु उसके साथ ही यह भी निर्दिष्ट था कि यदि परिवार की सम्पत्ति अधिक है तथा विवाह में कम व्यय हुआ है, तो शेष सम्पत्ति कन्या अपने साथ नहीं ले जा सकती है।[65]

सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार, पत्नी के रूप में

वैदिक काल से ही पति और पत्नी दोनों को परिवार की संपत्ति का संयुक्त स्वामी समझा जाता था।[66] यदि पति अनुचित रूप से आज्ञाकारिणी, कुशल, वीर पुत्रों को जन्म देने वाली और मधुर भाषिणी पत्नी से विवाह-विच्छेद कर ले तो उसे पति की संपत्ति का तिहाई भाग मिलना चाहिये।[67] पूर्वमध्ययुगीन टीकाकारों के अनुसार यदि कोई पति अपनी गुणवती पत्नी को छोड़ दे, या जानबूझ कर उसकी संपत्ति का दुरुपयोग करे या उसे वापस न दे पत्नी न्यायालय

---

63. जयशंकर मिश्र, **ग्यारहवीं सदी का भारत,** वाराणसी 1968 पृ-155

64. **याज्ञवल्क्य**-2.124

65. **वीरमित्रोदय,** पृ-542, तस्मात्संस्कारोप युक्त द्रव्यस्यैव दानमांत्रं विवक्षितम्।

66. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** 2, 6, 14, 16-20

67. **याज्ञवल्क्य स्मृति** 2, 76

में जाकर अपने दुःखों को दूर करा सकती है।[68] किन्तु इनके अनुसार भी बिना पति के अनुमति के पत्नी को धन व्यय करने का अधिकार नहीं था।[69] पूर्वमध्ययुगीन व्यवस्थाकारों के मतानुसार पति के लिये स्पष्टतः निर्दिष्ट था वह पत्नी को वस्त्र, आभूषण और उत्तम भोजन देकर इसका आदर करें। विदेश जाने से पूर्व भी पत्नी के भरण-पोषण के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व पति पर था। इसी प्रकार परित्यक्ता पत्नी के पति के लिये भी स्पष्ट निर्देश थे कि वह पत्नी के निवास एवं भोजन का प्रबन्ध करे।[70] स्त्रियों के हितों को पूर्णतः सुरक्षित रखने हेतु यह स्थापित था कि यदि कोई पति अपनी पतिव्रता पत्नी को अकारण ही त्याग दे तो वह राज्य द्वारा दण्ड का भागी होगा।[71] इस प्रकार पूर्वमध्ययुग में स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा के लिये न्याय की समुचित व्यवस्था की गई। यदि पति की मृत्यु बिना पुत्र के ही हो जाये, तो पत्नी पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी हो सकती है।[72] इस प्रकार से पति की मृत्यु उपरान्त भी उसके साम्पत्तिक अधिकार को सुरक्षित रखने का प्रावधान विधिसम्मत था।

---

68. **विज्ञानेश्वर टीका याज्ञवल्क्य,** 2.32

69. **विज्ञानेश्वर**, टीका याज्ञवल्क्य 2, 52; **शुक्रनीतिसार** अनुवाद, बी.के. सरकार, 4,11-65

70. देवण्णभट्ट कृत **स्मृतिचन्द्रिका**, 568-70

71. **स्मृतिचन्द्रिका**, सम्पादक, श्रीनिवासचार्य, पृ-574-76

72. **विज्ञानेश्वर और अपरार्क टीका**, याज्ञवल्क्य स्मृति-2, 135-136; **स्मृतिचन्द्रिका** 3, 673-675, व्यवहारकांड, 748-49

स्त्री-धन

जहाँ तक स्त्री-धन का प्रश्न है इसके अन्तर्गत अधिकांश हिन्दू व्यवस्थाकारों ने नारी की विभिन्न सम्पत्ति जिस पर उसका पूर्ण स्वत्व होता है, का उल्लेख किया है।[73] पूर्वमध्ययुगीन भाष्यकारों ने स्त्री-धन को कम से कम छह प्रकार का बताया है।[74]

समीक्षाधीन अवधि के स्मृतिकारों ने स्त्री-धन में कुछ अन्यधन-राशियाँ भी सम्मिलित कर दीं, जैसे, निर्वाह के लिये प्राप्त धन और आकस्मिक रूप से मिली धन-राशियों की भी गणना स्त्रीधन में की जाने लगी।[75] इस युग में स्त्री धन की परिभाषा अत्यन्त व्यापक हो गई। विज्ञानेश्वर ने स्त्री धन में उस सभी संपत्ति को सम्मिलित माना है जो किसी स्त्री को उत्तराधिकार में मिली हो, उसने स्वयं खरीदी हो, बँटवारे में उसे मिली हो, सौभाग्यवश उसे मिली हो या (परिग्रहाधिकृत) दीर्घकाल तक उसके अधिकार में रहने के कारण उसे स्वतः प्राप्त

---

73. **मनु**- 9.194; **मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य** 2.143.44; **अपरार्क, पृ**-751;
याज्ञवल्क्य 2.145

74. **मिताक्षरा,** याज्ञवल्क्य - 2.143-44,

पितृमातृपतिभ्रातृ दत्तमध्यान्युपागतम्।
अधिवेदनिकाद्यञ्च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्।।

75. **देवल, दायभाग** पृ-75-76 पर उद्धृत

हो गई हो।[76] सौदायिक (स्नेहियों से प्राप्त धन) पर स्त्री का पूर्ण अधिकार था, इच्छानुसार स्थावर सम्पत्ति का वह विक्रय या दान भी कर सकती थी।[77] असौदायिक स्त्री धन में स्त्री की अन्य चल-सम्पत्ति की गणना की गई है। असौदायिक स्त्री धन की आय मात्र का उपयोग स्त्रियाँ कर सकती थीं। किन्तु उसे किसी को देने या बेचने का उन्हें अधिकार नहीं था।[78] सम्भवतः पारिवारिक सम्पत्ति को परिवार हेतु संरक्षित रखने का यह एक ठोस उपाय था। स्त्रीधन का बलपूर्वक दुरुपयोग करने वालों के लिये न केवल ब्याज सहित लौटाने का विधान था, अपितु दण्ड का भी विधान था।[79] अर्थात पति अथवा अन्य पुरुष सम्बन्धी द्वारा स्त्री-धन के अनाधिकृत उपयोग को प्रतिबन्धित कर दिया गया था। तत्युगीन शास्त्रकारों के अनुसार यह उचित ही था कि पुत्री को ही माता का स्त्री धन प्राप्त हो, अतः स्त्री धन की उत्तराधिकारिणी पुत्री को ही स्वीकार किया गया था।[80] समकालीन साहित्य के अनुसार अप्रदत्ता (अविवाहित) कन्याओं को ही स्त्रीधन मिलना चाहिये, पुत्र को नहीं यदि कन्यायें विवाहित हों तो उन्हें समान भाग मिलना चाहिये।[81]

---

76. **विज्ञानेश्वर टीका याज्ञवल्क्य स्मृति** 2.143

77. **दाय भाग,** पृ-75 सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातंत्र्य परिकीर्तितम्।
विक्रये चैव दाने च यथेच्छं स्थावररेष्वापि।।

78. कात्यायन स्मृति, **दाय भाग**

79. **दायभाग** पृ-78; **अपरार्क** 2/143; **याज्ञवल्क्य 2/46** पर अपरार्क की टीका।

80. **मिताक्षरा** याज्ञवल्क्य 2.117; **स्मृतिचन्द्रिका** पृ-285.

81. **मिताक्षरा** याज्ञवल्क्य 2.117; **विज्ञानेश्वर टीका,** याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.145

विधवा स्त्री का सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार

पूर्वमध्यकालीन हिन्दू समाज में विधवा स्त्री का सम्पत्ति विषयक अधिकार स्वीकार किया गया, यद्यपि वैदिक साक्ष्य इसके विरुद्ध है। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में पति की मृत्यु के पश्चात विधवा स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को स्वीकार नहीं किया गया है।[82] ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में विधवा पुनर्विवाह तथा नियोग प्रथाओं का लोप होने लगा अतः विधवा स्त्री को निर्वाह के लिये धन देने की आवश्यकता समझी गई। पूर्वमध्ययुगीन ग्रन्थ दायभाग और मिताक्षरा के अनुसार पुत्र के अभाव में मृत व्यक्ति के सम्पूर्ण धन को विधवा स्त्री प्राप्त करती रही है।[83] यद्यपि इस युग में भी कुछ शास्त्रकारों ने मृत पति की सम्पत्ति में विधवा के अधिकार को मान्यता नहीं दी तथा मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार स्वीकार करते हुये विधवा को केवल भरण-पोषण हेतु धन प्रदान करने का निर्देश दिया।[84] किन्तु सुधारवादी व्यवस्थाकारों ने एक कदम आगे बढ़ते हुये स्त्रियों को न्यायोचित एवं तार्किक अधिकार दिलाने के लिये यह व्यवस्था दी कि परिवार की सम्पत्ति के पति एवं पत्नी

---

82. **तैत्तिरीय संहिता** 6.5.4.2; **शतपथ ब्राह्मण** 4.4.2.13

83. **दायभाग खण्ड** 13; **मिताक्षरा,** याज्ञवल्क्य 2.136

    अपुत्रा शयनं भर्तृः पालयन्ती पतिव्रता।

    पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमशं हरेत् च।।

84. **नारद स्मृति**, सम्पादक-जौली कलकत्ता 1885, 13.52; कात्यायन उद्धृत विज्ञानेश्वर टीका, **याज्ञवल्क्य स्मृति** 2.136

दोनों संयुक्त स्वामी हैं अतः विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति अवश्य ही मिलनी चाहिये।[85] अतः इन प्रयासों के चलते इस युग में विधवाओं के साम्पत्तिक अधिकारों में वृद्धि हुई और निःसन्तान मृत और विभक्त परिवार के पुरुष के सम्पूर्ण धन को एक पतिव्रता विधवा स्त्री को प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया।[86] कतिपय विद्वानों के अनुसार विधवा स्त्री को उसके स्त्रीधन के अतिरिक्त दो हजार से तीन हजार पण तक की सम्पत्ति मिलनी चाहिये।[87] पूर्वमध्ययुगीन साहित्य के विस्तृत अनुशीलन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इस युग में विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति के उपभोग का पूर्ण अधिकार प्रदान किया गया, किन्तु पारिवारिक अपनी सम्पत्ति का इच्छा से विधवा स्त्री को अपने पति की सम्पत्ति को बेचने, गिरवी रखने या दान देने का अधिकार नहीं प्रदान किया गया।[88]

स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन की अपेक्षा पूर्वमध्ययुगीन शास्त्रकार इस सम्बन्ध में अधिक तर्कशील और उदार थे जिन्होंने नारी के सम्पत्ति विषयक अधिकारों को स्वीकार भी किया और तत्सम्बन्धी तर्क भी प्रस्तुत किये।

---

85. **बृहस्पति उद्‌धृत दायभाग** खण्ड XI; वृद्ध मनु उद्‌धृत **मिताक्षरा**, यात्रवल्क्य स्मृति 2.135-36; **प्रजापति उद्‌धृत पाराशरमाधव** जिल्द-3 पृ-536

86. **विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा** याज्ञवल्क्य 2/135-136 पर टीका

    तास्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विवक्तस्या संसृष्टिनो धनं।
    परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृहणातीति स्थितम्।।

87. **व्यास, अपरार्क** की टीका, याज्ञवल्क्य स्मृति, पृ-752

88. देवण्णभट्ट कृत **स्मृतिचन्द्रिका**, पृ-667

न्याय व्यवस्था और नारी

प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में व्यवहार विधि अर्थात् न्याय विधि का अन्तिम अथवा चौथा भेद (सोपान) 'सिद्ध' अथवा निर्णय का है।[89] ये निर्णय प्रायः न्यायालयों में सम्पन्न होते थे जिसका प्रधान राजा होता था अर्थात् प्रधान न्यायाधीश का पद राजा स्वयं धारण करता था। किसी भी मुकदमें की कार्यवाही में प्रमाण की उपस्थिति के उपरान्त राजा 'सम्यों' की सहायता से वादी की जय अथवा पराजय का निर्णय करता था।[90] राजा को क्योंकि सभी का स्वामी माना जाता था इसलिये जिन मुकदमों के विवाद में साक्षी (गवाह), भोग (अधिकार) लेख प्रमाण तथा दिव्य (शपथ) द्वारा निर्णय नहीं हो पाता था उसमें राजा की आज्ञा अन्तिम निर्णय माना जाता था।[91] इन न्यायालयों में स्त्री-पुरुष दोनों के मुकदमों के फैसले होते थे तथा अपराधों के अनुरूप दण्ड का विधान था। सामान्यतया सभी धर्मशास्त्रकार स्त्रियों को मृत्यु दण्ड देने के पक्ष में नहीं थे।[92] स्त्रियों के न्याय के लिये कात्यायन[93] ने कुछ विवेकपूर्ण नियमों की व्यवस्था दी है, जो स्त्रियाँ स्वतन्त्र

---

89. **याज्ञवल्क्य स्मृति** 2/8

90. देवण्णभट्ट कृत **स्मृतिचन्द्रिका** 2, पृ. 120

91. **स्मृतिचन्द्रिका** , पृ. 26

92. **शतपथ ब्राह्मण,** 11/4,3,2, स्त्रीवैषा यच्छीर्न वै स्त्रियं ध्नन्ति, **मनुस्मृति** 9/232, स्त्रीबालब्राह्मणधनांश्च हन्याद्द्विद्सेविनस्थता।

93. **कात्यायन** 488-489, किन्तु इस श्लोक को स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ. 120 ने नारद का माना है।

नहीं होती उन्हें व्यभिचार के मामले में बन्दी नहीं बनाया जाता, केवल पुरुषों को ही अपराधी सिद्ध किया जाता है, स्त्रियाँ अपने स्वामी द्वारा (जिस पर वे आश्रित होती हैं) दण्डित होनी चाहिये, किन्तु पति के लौटने पर उसे मुक्त कर देना चाहिये।''

यद्यपि सामान्यतया न्यायालयों में चलने वाले मुकदमों के पुनरावलोकन नहीं होते थे किन्तु नारद और याज्ञवल्क्य के अनुसार पागल, मद्यपि, गम्भीर रूप से बीमार, विपदाग्रस्त आदि लोगों के साथ स्त्रियों को यह विशेषाधिकार प्राप्त था, और उनके मुकदमों का पुनरावलोकन हो सकता था।[94] स्मृतिकारों ने पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर कम दण्ड की व्यवस्था की थी। कात्यायन[95] ने लिखा है कि एक ही प्रकार के अपराध में पुरुष की अपेक्षा स्त्री को आधा दण्ड दिया जाता है। अर्थशास्त्र[96] में कहा गया है कि उसे मृत्युदण्ड न देकर उसका कोई अंग काट लिया जाता है। यह संभवतः इसलिये था क्योंकि स्त्रियों की हत्या करना, घृणित कार्य माना जाता था। कौटिल्य [97] के अनुसार स्त्री बारह वर्ष तथा पुरुष सोलह वर्ष में वयस्क हो जाते हैं और यदि वे वयस्क होने पर लेन-देन के नियमों का उल्लंघन करते हैं तो स्त्री को बारह पण तथा पुरुष को उससे दूना दण्ड देना पड़ता है।

---

94. **नारद** 1/43; **याज्ञवल्क्य** 2/31-32

95. **कात्यायन**– 487

96. **अर्थशास्त्र** 4/12

97. **अर्थशास्त्र** 3/3

स्त्रियों को पुरुषों से अपेक्षाकृत कम दण्ड की व्यवस्था पूर्व मध्यकाल में भी विद्यमान थी। यह तथ्य आंगिरा[98] से कथन से सिद्ध हो जाता है कि अस्सी वर्षीय बूढ़े, सोलह वर्ष से कम अवस्था वाले बच्चे, स्त्रियों एवं रोगग्रस्त पुरुषों को सामान्य से आधा प्रायश्चित करना पड़ता था। लेन-देन सम्बन्धी विवाद सम्भवतः वेश्याओं में अधिक होते थे, इसलिए यह कहा गया था कि मुख्य वेश्याओं एवं उनकी अन्य सहयोगिनियों को लेन-देन सम्बन्धी विवादों को सरलता से सुलझाना चाहिये।[99] स्मृतिचन्द्रिका[100] ने कात्यायन के आधार पर यह कहा गया है कि यदि स्त्री व्यभिचार की दोषी है और वह आश्रित है तो उसे व्यभिचार के लिये प्रायश्चित करना चाहिये। यद्यपि वृद्ध हारीत[101] ने ऐसी स्त्री के लिए दो दण्ड विधान दिये थे, पहला व्यभिचारिणी स्त्री को पति द्वारा नाक-कान या अधर कटवाकर निकाल देने को कहा था और दूसरा उन्होंने यह कहा कि व्यभिचारिणी स्त्री को कटाग्नि (सरपत की अग्नि) में जला देना चाहिये।[102] किन्तु इस युग में भी सामान्य नियम यही था कि स्त्रियों को मारा नहीं जाता था। वे अवध्य थीं। पूर्वमध्ययुगीन स्मृतिकार स्त्रियों को मृत्युदण्ड देने के विरोध में थे, विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा[103] से यह सिद्ध होता है कि स्त्री को मृत्यु दण्ड देने के कारण राजा को प्रायश्चित करना पड़ता था। हारीत[104] के अनुसार, बच्चों गाय

98. **मिताक्षरा**, याज्ञवल्क्य, 4/243 पर टीका

99. देवण्णभट्ट कृत **स्मृतिचन्द्रिका** 2 पृ. 206

100. **स्मृतिचन्द्राका** – 2, पृ. 233

101. **वद्ध हारीत** – 7/192

102. **वृद्ध हारीत** – 7/220-221

103. **मिताक्षरा,** याज्ञवल्क्य पर टीका 2/286

104. **हारीत** – 7/203

और स्त्री को मारने पर मृत्युदण्ड दिया जाता था। जब कोई व्यक्ति परस्त्री से बलात्कार करता था जो उसके अंग काट लिये जाते थे।[105] बलात्कार से त्रस्त स्त्री के प्रति समयुगीन व्यवस्थाकारों का व्यवहार सहानुभुतिपूर्ण था, जो प्रशंसनीय है इसलिये नारी को दण्ड नहीं दिया जाता था अपितु शुद्ध होने के लिए उसे केवल 'कृच्छ' या 'पराक' नामक प्रायश्चित करना पड़ता था।[106] जब तक वह प्रायश्चित से पवित्र नहीं हो जाती थी उसे घर में सुरक्षित रखा जाता था उसे श्रंगार करने की अनुमति नहीं थी, उसे भूमि पर शयन करना पड़ता था उसे केवल जीवन-निर्वाह के लिए भोजन मिलता था। इस प्रकार प्रायश्चित के बाद शुद्ध मानी जाती थी तथा पूर्व स्थिति को प्राप्त कर लेती थी। स्मृति एवं पुराण [107] में यह सलाह दी गई है कि यदि दुर्भाग्य से कोई स्त्री अपराध के लिए बन्दी बना ली जाती थी या अपराधी सिद्ध की जाती थी तो उसे परिवार द्वारा पुनः स्वीकार करने की व्यवस्था थी तथा अपराधी को मृत्युदण्ड की सलाह दी गई थी। अरबों के आक्रमण के परिणामस्वरूप अनेक स्त्रियाँ अपमानित हुई परन्तु ये स्त्रियाँ उनके परिवारों द्वारा पुनः स्वीकार कर ली गई।[108]

स्त्रियों के प्रति किये गये अन्य अपराधों में भी अनेक दण्ड विधान थे जैसे यदि कोई व्यक्ति कष्ट में न होते हुए भी और सम्पन्न होते हुए भी अपनी

---

105. **वृद्ध हारीत** 7/201

106. **पराशर** 10/26-7 बन्दिग्राहेण या भुक्ता हत्वा बद्ध्वा बलाद्भयात
कृत्वा सन्तानपनं कृच्छं प्राजापत्येन शुध्यति

107. **मत्स्य पुराण** – 227, 126

बलात्संदूषयेद्यस्तु परभार्या नरः क्वचित्।
बधो दण्डो भवेत्तस्य नापराधो भवेत्सित्रयः।।

108. **इलियट एवं डाउसन** – भाग 1, पृ. 126

विश्वासपात्र रोती हुई दासी को बेच देना चाहता था तो उसे दो सौ पण का दण्ड देने का विधान था।[109] स्मृतिचन्द्रिका में वृहस्पति द्वारा उल्लिखित 'पारदाराभिमर्शन' शब्द मिलता है जिसका तात्पर्य उस कार्य से है जिसमें कोई व्यक्ति दूसरे की स्त्री को साहस से छीन लेता था और उसका यह कार्य चोर आदि की अपेक्षा अधिक बुरा समझा जाता था। पूर्वमध्ययुगीन प्रमुख विधि ग्रन्थ मिताक्षरा के मत से ऐसे लोगों को राजा द्वारा निश्चित ही दण्ड देने को कहा गया है।[110]

उच्च जाति की स्त्री से यदि कोई निम्न जाति का व्यक्ति व्यभिचार करता था तो स्मृतिकारों द्वारा व्यभिचारी को दी गई मृत्युदण्ड की व्यवस्था बाद तक प्रचलित रही।[111] व्यभिचार में यदि स्त्री की सहमति होती थी तो उनके नाक-कान काट लिये जाते थे। कुछ व्यवस्थाकार अधिक उदारवादी थे, अतः उन्होंने स्त्रियों के नाक कान काटने तथा विरोध किया जैसा कि यम का कहना था कि यदि नारी की सम्मति से व्यभिचार हुआ हो तो, मृत्युदण्ड, अंगविच्छेद (सौन्दर्य भंग) करना या कुरूप बनाना नहीं चाहिए बल्कि उसे घर से बाहर निकाल देना चाहिये। स्मृतिकारों का विचार था कि सभी प्रकार के अपराधों में स्त्रियों को पुरुषों से आधा दण्ड देना चाहिए और जहाँ पुरुषों को मृत्युदण्ड दिया जाता था वहाँ स्त्रियों को सिर्फ अंगविच्छेद का दण्ड ही पर्याप्त था।[112]

---

109. **अपर्राक** पृ. 789, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग – 2, पृ. 803

110. **मिताक्षरा** याज्ञवल्क्य – 2/230

111. **याज्ञवल्क्य** – 2/286

112. **स्मृतिचन्द्रिका** – 2, पृ. – 320 सर्वेषु चापराधेषु पुंसयोर्थदमः स्मृतः।
तदर्थं योषितो दधुर्वधे पुंसोङ्ग कर्तनम्।।

छँटा अध्याय

आमोद-प्रमोद

पूर्वमध्यकालीन समाज में परदा प्रथा दृढ़ होने के कारण स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर अनेक प्रतिबन्ध लग चुके थे। किन्तु तत्युगीन साहित्यिक उद्धरणों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि इस युग में स्त्रियों की सर्वांगीण उन्नति का पूर्ण ध्यान रखा जाता था तथा साथ ही उनके आमोद-प्रमोद की भी पर्याप्त व्यवस्था की जाती थी। प्राचीन परम्पराओं के अनुसार बसंत के अवसर पर कन्यायें युवतियाँ और स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार की उद्यान क्रीड़ा, सलिल-क्रीड़ा एवं कंदुक-क्रीड़ा इत्यादि में भाग लेती थीं। पूर्वमध्ययुग में शासक एवं उच्चवर्ग के लोग अपने मनोविनोद हेतु क्रीड़ा-विहार या आन्दोत्सव का आयोजन अपेक्षाकृत विस्तृत एवं भव्य रूप में करने लगे, जिनमें स्त्रियाँ भी सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। कलाकारों ने शिल्प के माध्यम से स्त्रियों के आमोद-प्रमोदमय जीवन की अभिव्यक्ति बड़ी सजीवता से की है। समीक्षाधीन अवधि में महिलाओं के मनोरंजन एवं मनोविनोद के कई स्रोत थे। यह उल्लेखनीय है कि इनमें से कुछ तो अभी भी लोकप्रिय हैं, भले ही समय में परिवर्तन के साथ-साथ इनके स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हो गया हो। विवेच्य-युगीन साहित्य में धार्मिक त्योहारों,[1] उत्सवों[2]

1. अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक** पृ-184 पद-116; **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ-679 छन्द 34 तथा भाग 4 पृ-869 छन्द-3 **अलबेरूनीज इंडिया** - 2 (सचाऊ) पृ-180।
2. **नवसाहसांक चरित** 1/42; **बीसलदेव रासो** पृ - 221, पद-14 **कुमारपाल चरित** 5/69-70; **सन्देश-रासक** पृ-185 पद 175 तथा 180; **पृथ्वीराज रासो** समय-14 छन्द 5।

उद्यान-क्रीड़ा[3], झूला[4] (जिसका उल्लेख विशेष रूप से तत्युगीन विदेशी यात्रियों ने भी किया है) नृत्य[5] संगीत[6] तथा सामाजिक एवं धार्मिक परिचर्चा [7] में स्त्रियों के भाग लेने के विवरण प्राप्त होते हैं।

सामाजिक उत्सवों में स्त्रियों की उपस्थिति वांछित थी। विवेच्ययुग में नाटक भी मनोरंजन का एक प्रमुख साधन था[8]; अतः स्त्रियाँ अपने माता-पिता अथवा

---

3. **दशकुमार चरित** 5/2; **नैषध महाकाव्य** टीका, श्री सुन्दर लाल शास्त्री, बनारस 1954, 6/29; **पृथ्वीराज रासो** भाग-3 समय-42 दोहा-25 पृ-224।

4. विल्हण कृत **विकमांक देव चरित** - 7/15; राजशेखर कृत **कर्पूरमंजरी,** प्रथम अंक पृ-36; **पृथ्वीराज रासो** दोहा-95 पृ-224; **अलबेरुनीज इंडिया** भाग-2 सचाऊ, पृ-178-184।

5. अब्दुल रहमान कृत **सन्देश रासक** पृ-185 पद 175; **पृथ्वीराज रासो** समय-33 छन्द-1, समय-28 छन्द-8 समय-58 छन्द 319; **बीसलदेव रासो** पृ-221 पद-14 **रास और रसान्वयी काव्य** नागरी प्रचारिणी सभा, पृ-15।

6. **सन्देश रासक,** पृ-182 पद-168, पृ-185 पद 175 तथा 180 पृ-194 पद-219; **नवसाहसांक चरित** 1/42; **पृथ्वीराज रासो** समय-14 छन्द 51 समय-31 छन्द-44; **बीसलदेव रासो,** पृ-221 पद-14।

7. राजशेखर कृत **काव्यमीमांसा** पृ-53; **हरिवंश पुराण** 21/129-139; ज्योतिरीश्वर कृत **वर्णरत्नाकर** -5 : 50 क; **प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद** - पृ-185।

8. यादव प्रकाश कृत **वैजयन्ती** पृ-145-47; हेमचन्द्र कृत **अभिधानचिन्तामणि,** 117।

पति के साथ इस समारोह में उपस्थित होती थीं। तत्युगीन प्रसिद्ध नाटक प्रियदर्शिका, रत्नावली, कर्पूरमंजरी,वेणी संहार, प्रबोध चन्द्रोदय, मालती माधव आदि के स्त्री पात्र इस तथ्य के प्रमाण हैं कि समाज ने न केवल उनके मनोरंजन की व्यवस्था की थी वरन् अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने तथा उसका विकास करने का भी पूर्ण अवसर प्रदान किया था।[9] पूर्व मध्ययुगीन इतिहासकारों ने क्रीड़ा, लीला, केलि, वर्कर (सुखोत्सव) आदि का उल्लेख किया है।[10]

विवाह, स्वयंवर, जन्मोत्सव व अन्य सुखद प्रसंगों पर प्रायः उत्सव का आयोजन किया जाता था। इन उत्सवों में स्त्रियाँ वस्त्र आभूषणों से सुसज्जित होकर सामूहिक रूप से सम्मिलित होती थी और संगीत-नृत्य आदि कार्यक्रम सम्पन्न होते थे।[11] समकालीन साहित्य में संगीत, नृत्य गान आदि के वर्णन के साथ सात प्रकार के स्वरों का उल्लेख मिलता है।[12] साथ ही तेईस प्रकार के वाद्ययन्त्रों का भी विवरण मिलता है – शंख, काहला, दुंदुभि पुष्कर, ढक्का, आनक, भम्भा, ताल, करता, त्रिविला डमरुक,

---

9. यादव प्रकाश कृत **वैजयन्ती,** 137.11-14; हेमचन्द्र कृत **अभिधानचिन्तामणि,** 404।

10. हेमचन्द्र कृत **अभिधानचिन्तामणि,** श्लोक 555-56

    कनिष्ठा श्यालिका हाली, यन्त्रणी केलिकुञ्चिकाः।

    केलिर्द्रवः परिहास; क्रीड़ा लीला च नर्म च।।

11. **सन्देश रासक** पृ-185 पद-180; **नवसाहसांक चरित** 1/42; **कुमारपाल चरित** 5/69-70; **पृथ्वीराज रासो** समय-14 छन्द-51, समय 31 छन्द 44 समय-33 छन्द-1; **अभिधानचिन्तामणि** - 117।

12. सोमदेव कृत **यशस्तिलक** पृ--39 सप्तस्वैरः; **अमरकोश** 1.3.1।

रुंजा, गंता, वेणु, वीणा, झल्लरी, वल्लकी पणव, मृदंग, भेरी, तूर, पटह और डिण्डम।[13] नाट्यशाला में रंगपूजा का भी आयोजन किया जाता था जिसमें सरस्वती-पूजन प्रधान था।[14] पूर्वमध्ययुगीन कतिपय साहित्यिक उल्लेखों में सामाजिक अवसरों पर स्त्रियों द्वारा मद्यपान किये जाने के भी विवरण प्राप्त होते हैं।[15] सामाजिक एवं धार्मिक विषयों पर परिचर्चा के लिये विद्वत् गोष्ठियों का आयोजन होता था इन गोष्ठियों में प्रायः विदुषी स्त्रियाँ भाग लेती थीं।[16]

हिन्दुओं के धार्मिक त्योहार संख्या में अनेक थे जो प्रायः सभी महत्वपूर्ण ऋतुओं में होते सम्पन्न होते थे, इन धार्मिक त्योहारों के अवसर पर स्त्रियाँ विशेष रुचि प्रदर्शित करती थीं। अल्बेरुनी ने हिन्दू त्योहारों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार हिन्दू त्योहार अधिकांश महिलाओं और बच्चों द्वारा मनाये

---

13. सोमदेव कृत **यशस्तिलक** 217।
14. **यशस्तिलक** पृ-322, इतिपूर्वरंगपूजा प्रक्रम प्रवृत्तं सरस्वती-स्तुतिवृत्तम्।
15. विद्यापति कृत **कीर्तिलता** 4:34:138; **नैषध महाकाव्य** 20/80; सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** 3/21।
16. जिनसेन सूरी कृत **हरिवंश पुराण,** सम्पा. पण्डित दरबारी लाल, बम्बई, 21/129-139; राजशेखर कृत **काव्यमीमांसा** पृ-53; वासुदेव शरण अग्रवाल, **हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन**-पृ-12।

जाते हैं।[17] होली[18] जैसा कि आज भी है हिन्दुओं का सबसे महत्वपूर्ण और लोकप्रिय त्योहार था। यह फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष के अन्तिम दिन मनाया जाता था। इस अवसर सभी वर्णों और वर्ग के लोग एक दूसरे को केसरिया और अन्य रंगीन जल से भिगो डालते थे। सन्ध्या को प्रायः सम्पूर्ण जन-समुदाय एक बृहदाकार उत्सवाग्नि के चारों ओर एकत्र होता था और अगली फसल अच्छी होने के लिये ईश्वर से प्रार्थना करता था। हिन्दुओं का एक प्रमुख त्योहार शिवरात्रि[19] है जिसका वर्णन पूर्वमध्ययुगीन साहित्य में भी उपलब्ध है। बसन्त पंचमी[20] का त्योहार बसन्त का पूर्व-सूचक है जो माघ मास में मनाया जाता है, इस अवसर पर गीत गाये जाते, लोक-नृत्य होते एवं अबीर, गुलाल आदि छिड़का जाता है। श्रावण मास की

---

17. **अल्बेरुनीज इंडिया,** भाग-2 (सचाऊ), पृ-178-184।

18. **पृथ्वीराज रासो** पृ-671 छन्द-3, पृष्ठ, 673 छन्द 21, पृ-673 छन्द 17 से छन्द 18 तक।

19. **अल्बेरुनीज इंडिया** भाग-2, पृ-184 में इस लोकप्रिय त्योहार की इस प्रकार चर्चा है–"अगली रात अर्थात फाल्गुन के 16वीं तिथि को, जिसे शिवरात्रि कहते हैं वे लोग पूरी रात महादेव की पूजा करते हैं, वे जागे रहते हैं और उन्हें धूप-दीप, सुगन्धि एवं फूल चढ़ाते हैं।"; **पृथ्वीराज रासो,** भाग-1 समय-6 (नाहरराय कथा) दोहा-2 पृ-139।

20. **ढोला मारू का दुहा,** नगिरापुचारिणी सभा, द्वितीय संस्करण, दोहा 145, पृ-82; **रास और रसान्वयी काव्य** नागरी प्रचरिणी सभा, द्वितीय संस्करण, पृष्ट-15 पर बसंत के अवसर पर नृत्य-गान जिसे 'चरचरी' कहा गया।

पूर्णमासी हिन्दुओं का एक प्रिय त्योहार था। इस विशेष अवसर पर रेशम और पन्नी से निर्मित कलात्मक राखी भाइयों की कलाइयों में बहने व अन्य बालिकायें पहनाती थीं जिसे प्रेम एवं स्नेह का प्रतीक समझा जाता था।[21] दीपावली[22] जिसे सामान्यतः दिवाली कहा जाता है, एक महत्वपूर्ण एवं हर्षोल्लास का पर्व है। इस त्योहार के विषय में अल्बेरुनी ने लिखा है – कार्तिक के प्रथम दिन जो नये चन्द्रमा का दिन होता है और जब सूर्य तुला में अग्रसर होता है, दिवाली पड़ती है। लोग स्नान करते, उत्सव के वस्त्रादि पहनते और एक दूसरे को पान-सुपाड़ी देते हैं। रात्रि के आगमन पर हर जगह बड़ी संख्या में दीप जलाये जाते हैं ताकि हवा पूर्णतः स्वच्छ हो सके। हिन्दुओं का विश्वास है कि यह भाग्य का त्योहार है। दशहरा एक अत्यन्त लोकप्रिय त्योहार था जो आश्विन के शुक्ल पक्ष के दसवें दिन पड़ता था, देवी दुर्गा की पूजा, विशेष रूप से बंगाल में बड़े उत्साह और उमंग से की जाती थी, इसका दूसरा महत्वपूर्ण पहलू था, हिन्दुओं के विभिन्न वर्गों द्वारा अपनाये गये व्यापार, धन्धे या पेशे के औजारों की पूजा।[23]

---

21. के.एम. अशरफ, **लाइफ एण्ड कन्डीशन्स ऑफ दि पीपुल्स ऑफ हिन्दुस्तान,** पृ-203-4।

22. **सन्देश रासक** सर्ग-3 छन्द 176, पृ-53 जहाँ 'दिवालिय' का उल्लेख है।; **अल्बेरुनीज इंडिया** भाग-2 पृ-182; विलियम क्रुक, **रेलिजन एण्ड फोकलोर ऑफ इण्डिया,** लन्दन, 1926 पृ-346।

23. के.एम. अशरफ, **लाइफ एण्ड कन्डीशन्स ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान,** पृ-203।

दोलाकेलि अथवा झूला-झूलना भी स्त्रियों के मनोविनोद का साधन था।[24] चैत्रमास अथवा बसन्त ऋतु के आगमन के साथ ही कामिनियों में झूला-झूलने का उमंग हिलारें मारने लगती थीं –

कंदर्पदेवस्य विमान सृष्टिः श्रमादमाला रसपार्थिवस्य

चैत्रस्य सर्वतुं विशेष चिन्ह दोलाविलास सुंदशारराज।[25]

सावन (श्रावण) के गीत, जिनके लिये अवसरो युक्त विशेष मधुर गीत शैलियों-'झूला', 'हिंडोला' और 'सावनी' की रचना की जाती थी, जो स्त्रियों में अत्यन्त लोकप्रिय थी और ये झूला झूलते हुये गाये जाते थे[26] गुड़ियों का खेल बालिकाओं में विशेष रूप से लोकप्रिय था।[27] गुड़िया काष्ठ अथवा मोम की बनाई जाती थी, जो कलात्मक होती थी। विशेष प्रकार की मायावी गुड़िया का वर्णन भी तत्युगीन साहित्य में मिलता है, जिनके सम्बन्ध में कहा गया है कि कोई यन्त्र दबा देने से पुतलियाँ

---

24. विल्हण कृत **विक्रमांक देव चरित** 7/15; **पृथ्वीराज रासो** भाग-3, समय 42 दोहा-25 पृ-224; **दशकुमार चरित** 5/2।

25. **विक्रमांक देव चरित** 7/15; राजेश्वर कृत **कर्पूरमंजरी,** पृ-36 धनपाल कृत **तिलकमंजरी,** पृ-11-12।

26. अमीर खुसरो (**कविता कौमुदी**), भाग-1 सम्पा. पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, नवनीत प्रकाशन, बम्बई, अष्टम संस्करण, 1954 पृ-137; **पृथ्वीराज रासो** भाग-3 दोहा-25 पृ-224; **कर्पूरमंजरी** प्रथम अंक।

27. हेमचन्द्र कृत **अभिधानचिन्तामणि,** 404; **पृथ्वीराज रासो** भाग-3 पृ-253 छन्द-51; **कथासरित्सागर** पृ-116 **कुट्टनीमतम्,** पृ-253।

आकाश में चली जाती हैं और आदेशानुसार फूल-माला आदि ले आतीं, फिर कोई नाचती, कोई गाती तो कोई बोलने लगती थी, इस प्रकार की मायावी गुड़ियाँ स्त्रियां अपनी योगविद्या से निर्मित करती थी।[28] परम्परा से चली आ रही कथा-कहानियों को कहना-सुनना स्त्रियों के ज्ञानार्जन तथा मनोविनोद का अत्यन्त प्रिय एवं सुलभ साधन था।[29] सम्भवतः लिखित ग्रन्थादि का प्रचार न होने के कारण ही कथा एवं कहानी सुनने की प्रथा अधिक थी तथा कथा सुनने वालों, सुभाषित व सूक्ति कहने वालों, वाचकों एवं कथकों का विशेष महत्व था। अन्तःपुर में स्त्रियों के बीच हास-परिहास सदैव चलता रहता था। राजमहलों में रानियों एवं राजकुमारियों के मन बहलाने के लिये खासतौर से परिब्राजकायें नियुक्त की जाती थीं जो कथा-कहानियों को सुनाने में निपुण होती थी।[30] ये परिव्राजकायें कथा, लौकिक वृतान्त का परस्पर आलाप करती थीं तथा प्राचीन कथाओं की व्याख्या एवं धर्मोपदेश भी देती थीं। अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों को पालने का शौक भी महिलाओं में बहुत अधिक प्रचलित था। शुक,

---

28. सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** 7/3/153, 116, 170, दसवीं शती के साहित्य में स्त्रियों के टोना-टोटका का प्रायः उल्लेख मिलता है, योग द्वारा वे बड़ी-बड़ी दीवारें तोड़ना, कड़ी-बेड़ियाँ काटना और देखते ही देखते आँखों के सामने से ओझल होने का कार्य करती थीं।

29. राजशेखर कृत **विद्धशालभंजिका,** पृ-23; रोड कृत **राउलवेल** पृ-103; सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** पृ-103।

30. **पृथ्वीराज रासो** भाग-4, पृ-693 छन्द 315; **नवसाहसांक चरित** 21/40; दाउद कृत **चंदायन**-389 सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** -103; धनपाल कृत **तिलकमंजरी** पृ-30।

सारिका, पारावत तथा मयूर आदि पक्षी मांगलिकता के सूचक तो माने ही जाते थे, साथ ही स्त्रियाँ इनको पालकर अपना मनोरंजन भी किया करती थीं।[31] स्त्रियाँ इन पक्षियों को पिंजड़े में पालकर अवकाश के समय उनसे बातें किया करती थीं एवं अपना मन बहलाया करती थीं।[32] मूर्तिकला में पक्षियों और पशुओं को रमणियों के साथ बहुत अधिक दर्शाया गया है पक्षियों के साथ स्त्रियों का व्यवहार अत्यन्त स्नेहिल होता था।[33]

मनोरंजन के उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त चित्रकला, नृत्य एवं संगीत इत्यादि विभिन्न कलात्मक साधन भी थे जिनसे पूर्व मध्ययुगीन स्त्रियाँ न केवल अपना मनोरंजन करती थीं अपितु इनके माध्यम से अपनी कलात्मक अभिरुचि व प्रतिभा का निदर्शन भी करती थीं। स्त्रियाँ इन विविध कलाओं में प्रशिक्षण भी प्राप्त करती थीं और पूर्वमध्ययुग में ये स्त्री शिक्षा के अनिवार्य अंग बन चुके थे। समकालीन साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व मध्ययुगीन युगीन स्त्रियाँ इन विविध

---

31. **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ-257 छन्द-9-10, भाग-1 पृ-162 छन्द 25; **पृथ्वीराज रासो,** पृ-1963 छन्द 14, पृ-1474 छन्द-60; दामोदरगुप्त कृत, **कुट्टनीमतम्** पद्य 356 'शुक-शावक'।

32. **कुट्टनीमतम,** पद्य 356; **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ- 357 छन्द 9-10 तथा पृ-162 छन्द-25, पृ-1963 छन्द-14।

33. **संग्रहालय, खजुराहो,** विश्वनाथ मन्दिर भीतरी प्रदक्षिणा जगदम्बी मन्दिर बहिरंग; **सागर विश्वविद्यालय पुरातत्व संग्राहलय,** सं.-192।

ललित कलाओं में पर्याप्त निपुण होती थीं।[34] चित्रकला अभिजात वर्ग की स्त्रियों के जीवन का अभिन्न अंग थी, और प्रायः सभी राजकुमारियाँ इस कला में निपुणता प्राप्त करती थी।[35] विवाह एवं अन्य मांगलिक कार्यों के अवसर पर मण्डप बनाने तथा चौक पूरने में भी चित्रकारी का उन्मेष रहता था।[36] इस कला के माध्यम से स्त्रियाँ अपनी चित्रात्मक हस्त-कौशल को प्रदर्शित करती थीं साथ ही यह तत्युगीन भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग भी था।

अनेक मनोरंजन स्रोतों का उल्लेख करते हुये संगीत का एक अत्यन्त लोकप्रिय मनोविनोद के रूप में उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय संगीत का इतिहास बड़ा प्राचीन है। अमीर खुसरो का कहना है "भारतीय संगीत एक ऐसी आग के समान है जो मन और आत्मा का बोझ हल्का करता है और उसका स्तर किसी भी देश के संगीत से उच्चतर है। कोई भी विदेशी, जो चाहे कितने अरसे से भारत में रहा हो, इसके (भारतीय संगीत) सिद्धान्तों को पूरी तरह से हृदयंगम नहीं कर सकता, यहाँ तक कि किसी एक राग को भी अच्छी तरह नहीं गा सकता। इस संगीत का आकर्षण न केवल मानव जाति के लिये है बल्कि

---

34. सोमदेव कृत **यशस्तिलक** - पृ-319; **नैषध महाकाव्य** 6/74; राजशेखर कृत **काव्यमीमांसा,** पृ-53; **पृथ्वीराज रासो** समय-14 छन्द-45, 46, 48 तथा समय-15 छन्द-1; **पृथ्वीराज रासउ** (माता प्रसाद गुप्त) 4:25:13; 4:23:17।

35. **पृथ्वीराज रासो** समय-14 छन्द-45, 46, 48 तथा समय-17 छन्द-21; **सन्देश रासक** पृ-184 पद-175; **काव्यमीमांसा,** पृ-53।

36. **पृथ्वीराज रासऊ** (माता प्रसाद गुप्त 4:23:15; **सन्देश रासक** पृ-184 पद 175।

अबोध समझे जाने वाले मूक जानवरों में थीं।"[37] यह उल्लेखनीय है कि अमीर खुसरों अपने पीछे हिन्दुस्तानी संगीत को एक स्थायी योगदान की विरासत छोड़ गये हैं। उन्होंने ही इस देश में 'कव्वाली' की पहली बार शुरुआत की, उन्हें इस बात का भी श्रेय है कि उन्होंने हमारे यहाँ अनेक आधुनिक राग, जैसे कि खिलाफ, साजगीरी, सर्वद और अन्य का आरंभ कराया।[38] उन्होने संगीतज्ञों द्वारा प्रयुक्त वाद्ययन्त्र, उदाहरण के लिये चंग, रबाब, डफ, तंबूरा, शहनाई, बाबलिक, बतीरा, ढोल, उद आदि का भी अत्यन्त रोचक विवरण प्रस्तुत किया है।[39] पेशेवर गायक और नर्तक, नर्तकी विशेष रूप से शादी-ब्याह के अवसरों पर समय-समय पर जनता का मनोरंजन करते थे।[40] विभिन्न प्रकार के समारोहों, उत्सवों, त्योहारों व मांगलिक कार्यों में

---

37. अमीर खुसरो कृत **नूह-सिपहिर,** पृ-170-171; इस्लामिक कल्चर 15, संख्या 3, जुलाई 1941 पृ-323 में एस.ए. हैदर रिजवी का **'म्यूजिक इन मुस्लिम इण्डिया'** शीर्षक लेख।

38. पण्डित विष्णुनारायण मातखण्डे का **'ए शार्ट हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ दि म्यूजिक ऑफ अपर इण्डिया'**, बम्बई 1934, पृ-10; **इस्लामिक कल्चर** 15, सं.3, जुलाई, 1941 पृ-336।

39. अमीर खुसरो कृत, **कुल्लियात-ए-खुशरवी,** भाग-1 अलीगढ़ 1918 पृ-106; **देवल रानी खिज्र खाँ,** पृ-156-157; ढोलकी एवं सितार के उल्लेख के लिये **कविता-कौमुदी** भाग-1 पृ-139।

40. **पृथ्वीराज रासो,** भाग-4, समय 60 दोहा 127 पृ-995 में नट्टी (नर्तकी) और नट (पुरुष नर्तक) का उल्लेख 1; **रास और रसान्वयी काव्य** छन्द-37 पृ-8।

महिलाओं की उपस्थिति अनिवार्य थी, वस्तुतः इस प्रकार के अवसर स्त्रियों के लिये अपनी प्रतिभा व रुचि अभिव्यक्त करने के माध्यम थे अतः वे इन समारोहों में विशेष रुचि प्रदर्शित करती थीं तथा मंगल गीत गाया करती थीं –

मंगल गावति झुमंकनि, कोकिल कंठी नारि

सुघट पुरुष जीवन छके, सुनहि सहाई गारि।[41]

मंदिरों में वीणा, बाँसुरी, तुरही आदि का सन्निवेश था, जो पूजा-अर्चना के समय बजा करते थे, इन पूजन समारोहों में महिलाओं की उपस्थिति अनिवार्य थी।[42]

लोक संगीत जो कि प्रायः प्रत्येक संस्कृति का एक अभिन्न अंग होता है, पूर्वमध्य युग में शास्त्रीय संगीत के साथ ही पर्याप्त प्रचलित था। शुभ अवसरों पर तथा खेतों की रखवाली करती हुई कृषक वधूयें प्रायः पारम्परिक लोक गीत गाया

---

41. **पृथ्वीराज रासो** समय-14 छन्द 51, समय 31 छन्द 35 समय 31 छन्द 44; **सन्देश रासक** पृ-185 पद-180, पृ-94 पद-219; **नवसाहसांकचरित** 1/42; हेमचन्द्र कृत, **कुमारपाल चरित** -5/69-70।

42. **समराङ्गणसूत्रधार** 23-24; **वैजयन्ती** 145-47; मित्रा, **ऐंटिक्वीटीज ऑफ ओरोसा**-1, प्लेट 30 न. 167-74।

करती थी।[43] समीक्षाधीन अवधि में नृत्य कला ने प्रगति की दिशा में चरण बढ़ाये और कृष्ण लीला के अवसर के नृत्यों से इसे विशेष प्रोत्साहन और बल मिला।[44] भारत में जब देव मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो मन्दिरों के वैभव एवं ऐश्वर्य की वृद्धि हेतु आराध्य देव के सम्मुख नृत्य और गान प्रस्तुत करने वाली सुन्दरियों की नियुक्ति की गई। पूजन और स्तवन के समय सुमधुर वाणी में देवस्तुति का आयोजन होता था, जिससे देवमन्दिर गुंजायमान रहे। नृत्य का सम्बन्ध धर्म से जुड़ा था तथा नृत्य-कला को देवताओं को प्रसन्न करने का एक साधन माना जाता था, इसलिये मन्दिरों में देवदासियों को रखने की प्रथा प्रारम्भ हुई। पूर्वमध्ययुगीन भारत में देवदासी प्रथा भली-भाँति स्थापित हो चुकी थी, तत्युगीन प्रायः सभी विशाल मन्दिर देवदासियों से पूर्ण हुआ करते थे।[45] समकालीन साहित्यिक ग्रन्थों में देवदासी प्रथा का विशद वर्णन उपलब्ध

---

43. हेमचन्द्र कृत **कुमारपाल चरित** 5/69-70; **परमाल रासो** का प्रथम भाग-खण्ड-15 छन्द 165; **पृथ्वीराज रासो** पृ-315 छन्द-51; **सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान** पृ-138।

44. **पृथ्वीराज रासो** भाग-3, छन्द-35 पृ-282, में नृत्य के विभिन्न तत्वों का उल्लेख मिलता है, जैसे कि मृदंग, दण्डिका, ताली स्तुति, कहाली, गीत, राग, प्रबन्ध और धुरधुरी।

45. विल्हण कृत **विक्रमांकदेव चरित** 31/7/21; **राजतरंगिणी** 8/708; **अल्बेरुनीज इंडिया** (सचाऊ) भाग-1 पृ-116 **अर्ली चौहान डायनेस्टीज,** पृ- 260।

होता है।[46] तत्कालीन भारत में नृत्यकला राजदरबारों में मनोरंजनार्थ अनिवार्य बन गई थी, उत्सवों पर विशेषकर जन्मोत्सव, विवाह, बसन्तोत्सव एवं युद्ध में विजय प्राप्त करने पर राजदरबार में नत्य समारोहों का आयोजन किया जाता था।[47] पूर्व मध्ययुगीन राजदरबार नृत्यांगनाओं से पूर्ण हुआ करते थे, संगीत एवं नृत्य-कला को यथोचित सम्मान प्रदान किया जाता था। इन नृत्यांगनाओं की उपस्थिति से तत्युगीन राजदरबारों की शोभा में वृद्धि होती थी।[48] रासो-साहित्य की उद्‌भूति भी नृत्य-गीत परक मानी गई है।[49] आलोच्ययुग के साहित्य में मनोरंजन के लिये रमणीवारुणी शब्द का प्रयोग हुआ है। ये रमणियों संर्वांग सुन्दरी होती थीं तथा बत्तीस लक्षणों से युक्त रहती थीं, सौन्दर्य से पूर्ण नृत्यांगनाओं को चौंसठ कलाओं में निष्णात होना आवश्यक था और वे उसमें

---

46. **अल्बेरुनीज इंडिया** (सचाऊ) भाग-2 पृ-157; दामोदरगुप्त कृत **कुट्टनीमतम्** 743-755; **प्रबन्ध-चिन्तामणि,** पृ-108; **राजतरंगिणी** -7.858।

47. **पृथ्वीराज रासो** समय-33 छन्द-1, समय 28 छन्द-8, समय 58 छन्द-319, समय 58 छन्द-320; **बीसलदेव रासो** पृ-224 छन्द-25; **तिलकमंजरी** पृ-75, 163, 263, 302।

48. क्षेमेन्द्र कृत **वृहत्कथामंजरी,** पृ-548 पद 88, पृ-548 पद-95; सोमदेव कृत **कथासरित्सागर** पृ-37, पद- 93 **पृथ्वीराज रासो** भाग-1 पृ-291 छन्द 13, पृ-1564 छन्द-1-2, पृ-567 छन्द 61; **इब्नबतूता** अनुवाद, महदीं, पृ-113।

49. डा. सुमन राजे, **हिन्दी रासो काव्य परम्परा,** ग्रन्थम प्रकाशन, पृ-9; माता प्रसाद गुप्त, **रासो साहित्य विमर्श**, साहित्य भवन, इलाहाबाद, पृ-7।

पारंगत होती थीं।[50] ये नृत्यांगनायें जन-जीवन के सांस्कृतिक कार्य-कलाप एवं विलासमय जीवन का एक अंग बन चुकी थीं। पूर्वमध्ययुगीन साहित्य में विशाल एवं भव्य नृत्य गृहों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[51] समकालीन साहित्यकार व संगीतज्ञ अमीर खुसरों ने अपनी रचनाओं में नृत्यांगनाओं के महत्व के महत्व की ओर संकेत करते हुये इनका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है, तदनुसार ये नृत्यांगनायें सर्वांग सुन्दरी होती थीं, बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण धारण करती थीं तथा अपने सौन्दर्य में वृद्धि हेतु विभिन्न प्रकार के प्रसाधनों का प्रयोग करती थीं।[52] अपनी सुमधुर वाणी में गायन के अतिरिक्त वे वीणा, सितार एवं सारंगी आदि वाद्यों को बजाने में प्रशिक्षण प्राप्त कर इन विविध कलाओं में प्रवीण हो जाती थीं।[53] पूर्वमध्ययुगीन भारत में राजदरबारों में सुन्दर एवं प्रशिक्षित नृत्यागनाओं को पर्याप्त सम्मान प्रदान किया जाता था इनका महत्व धीरे-धीरे इतना अधिक बढ़ गया कि शासकों को प्रसन्न करने हेतु नृत्यांगनाओं को उपहार स्वरूप भी प्रदान किया जाने लगा।[54]

---

50. **पृथ्वीराज रासो** पृ-960 छन्द-5; ज्योतिरीश्वर कृत **वर्णरत्नाकर** चतुर्थ कल्लोल (अथ वेश्यावर्णनम्) पृ-26-27 चौपाई 553।

51. **पृथ्वीराज रासो** प्रथम भाग पृ-1700 छन्द 833, पृ-1704 छन्द 860; राशिद, **सोसायटी एण्ड कल्चर,** पृ-89।

52. अमीर खुसरो कृत **नूह-सिपहिर** vii, पृ-383।

53. अमीर खुसरो कृत **हश्त-बहिश्त,** पृ-34 राशिद, **सोसायटी एण्ड कल्चर इन मेडीवल** इंडिया- पृ-112-114; **पृथ्वीराज रासो,** पृ-960 छन्द-5, पृ-966 छन्द 56।

54. दशरथ शर्मा, **अर्ली चौहान डायनेस्टीज,** पृ-26।

नारी शिक्षा

जीवन के समस्त पहलुओं के सर्वांगीम विकास का माध्यम शिक्षा है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की ओर दृष्टिपात करने पर शिक्षा के क्षेत्र में नारी की स्थिति अत्यन्त सन्तोषजनक प्रतीत होती है। वैदिक युग में स्त्री की शिक्षा अपनी उच्चतम सीमा पर थी। वह पुरुषों के समक्ष बिना भेद-भाव के शिक्षा प्राप्त करती थी। वह बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी थी। इस युग में पुत्र की भांति पुत्री का भी उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था तथा वह भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थी। उसे यज्ञ सम्पादन और वेदाध्ययन करने का पूर्ण अधिकार था।[55] दर्शन और तर्कशास्त्र में भी स्त्रियाँ निपुण थीं। सभा-गोष्ठियों में ऋग्वेद की ऋचाओं का गान करती थीं। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि कतिपय विदुषी स्त्रियों ने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं के प्रणयन में योग प्रदान किया था। योगदान करने वाली ऐसी बीस कवियित्रियाँ थीं। रोमशा, अपाला, उर्वशी विश्ववारा, सिकता,

---

55. **ऋग्वेद**-8.31; **अथर्ववेद**-11.5.8, 2.36.1, 11.1.17.27 योषितो यज्ञिया इमा;; **शतपथ ब्राह्मण**- 5.16.10; **तैत्तिरीय ब्राह्मण** 22.2.6; **गोभिल गृह्य सूत्र**- 3, 7, 13, 2, 7

निबावरी, घोषा,लोपामुद्रा आदि पंडिता स्त्रियाँ इनमें अधिक प्रसिद्ध है।[56] उस युग की स्त्रियाँ मन्त्रवित् और पंडिता होती थीं तथा ब्रह्मचर्य का अनुगमन करती हुई उपनयन संस्कार भी कराती थीं। वे दर्शन, तर्क मीमांसा, साहित्य आदि विभिन्न विषयों की पंडिता होती थीं। किन्तु कालान्तर में जैसे ही नारी के धार्मिक अधिकारों का ह्रास होने लगा, उसके परिणामस्वरूप नारी शिक्षा का भी ह्रास होने लगा। नारी शिक्षा पर अनेक प्रतिबन्ध लगने लगे। दूसरी सदी ई.पू. तक स्त्री का उपनयन संस्कार व्यवहारतः समाप्त हो चुका था। विवाह के अवसर पर ही स्त्री का उपनयन संस्कार सम्पन्न कर दिया जाता था। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन संस्कार, पति की सेवा ही उसका आश्रम निवास और गृहस्थी के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान थे।[57] स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था दी कि बालिकाओं के उपनयन में वैदिक मन्त्र नहीं पढ़ना चाहिये।[58]

---

56. **ऋग्वेद**1.17, 5.28, 8.91, 1.39; **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** भाग-10 पृष्ट 553, 38 प्रकाशित, श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्वारा लिखित **'स्त्री शिक्षा'** शीर्षक लेख, छात्रायें दो श्रेणियों में विभक्त थीं, ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवधू। प्रथम श्रेणी की छात्रायें धर्मशास्त्र एवं दर्शन का अध्ययन आजीवन किया करती थीं, द्वितीय श्रेणी की छात्रायें अपना अध्ययन विवाह तक अर्थात पन्द्रह या सोलह वर्ष पर्यन्त जारी रखती थीं। स्तोत्रों का उचित उपयोग वे दैनिक सामयिक प्रार्थनाओं में तथा उन अनुष्ठानों में किया करती थीं जिनमें इनको विवाहोपरान्त सक्रिय भाग लेना पड़ता था।; अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** पृ-10-11

57. **मनु**-2.67

58. **मनु**, 2.56, 9.18; **यम का उद्धरण**, 1.13

कालान्तर में शूद्रों की ही तरह वेदों के पठन-पाठन और यज्ञों में सम्मिलित होने के अधिकार से भी स्त्रियों को वंचित कर दिया गया[59] वस्तुतः शिक्षण संस्थाओं और गुरुकुलों में जाकर ज्ञान प्राप्त करना स्त्रियों के लिये अतीत की बात हो गई थी। वह केवल माता-पिता, भाई-बन्धु आदि से अपने घर पर ही शिक्षा प्राप्त कर सकती थी।[60] पूर्वमध्ययुगीन भाष्यकारों मेघातिथि, विश्वरूप और याज्ञवल्क्य की भी यही व्यवस्था है।[61] निःसंदेह निरूपित काल में परदा प्रथा के प्रभाव के कारण मुस्लिम तथा हिन्दू, दोनों जातियॉ, नारियों की शिक्षा की ओर उचित अभिरुचि लेने से वंचित रही।[62] पूर्वमध्ययुग तक आकर नारी शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध हो चुका था। इस युग में विवाह की अवस्था न्यून होने के कारण स्त्री शिक्षा में और अधिक ह्रास परिलक्षित होता है।[63] तथापि विवेच्ययुग में भी कुलीन तथा समृद्ध वर्ग की नारियाँ अपने अभिभावकों द्वारा नियुक्त निजी शिक्षकों

---

59. **वुमैन पोजीशन इन हिन्दू सिविलाइजेशन**, पृ-204

60. यम का उद्धरण, **संस्कार प्रकाश** पृ-402-3,

    पिता पितृत्यो भ्राता वा नैमध्यापयेत्परः

    स्वग्रहे चैव कन्यायाः भैक्षचर्या विधीयते

    पुराणतन्त्र, मिताक्षरा द्वारा उद्धृत, पृ-40

    'वदनति केचिन्मुनयः स्त्रीणां शूद्रसमानता'

61. **उपरोक्त**।

62. की, **इण्डियन एजुकेशन इन एन्शियेन्ट एण्ड लेटर टाइम्स**, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, लन्दन-1938 पृ-77

63. अल्तेकर, **पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन** पृ- 16

द्वारा शिक्षा प्राप्त करती थीं।[64] अभिजात वर्ग की स्त्रियाँ प्राकृत और संस्कृत में दक्ष होती थीं, काव्य, संगीत, नृत्य, वाद्य और चित्रकला में भी वे प्रवीण होती थीं।[65] गाथासप्तशती नामक ग्रन्थ में अनेक विदुषी स्त्रियों एवं कवियित्रियों का उल्लेख मिलता है, रेवा[66], रोहा[67], माधवी[68] अनुलक्ष्मी [69] पाही[70], वद्धवही[71] और राशि प्रभा[72] जैसी कवियित्रियाँ अपनी प्रतिभा और कल्पना शक्ति के लिये विख्यात थीं। तत्युगीन साहित्य में संस्कृत भाषा की कुछ अन्य उच्च कोटि की कवियित्रियों का भी वर्णन मिलता है। शिलोभट्टारिका नामक कवियित्री अपनी सरल भाषा एवं ओजपूर्ण शैली में रचना

---

64. **इण्डियन एजुकेशन इन एन्शियेन्ट एण्ड लेटर टाइम्स** पृ-77; अल्तेकर, **एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इंडिया वाराणसी**-1975 पृ-220
65. राजशेखर कृत **काव्यमीमांसा** पृ-53; क्षूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्र दुहितरो गणिकाः कौटुंबिक भार्याश्च शास्त्रप्रहिबुद्धयः कवयश्च; जयानक कृत-**पृथ्वीराज विजय** 5/38
66. हाला कृत **गाथासप्तशती**, बम्बई-1911, 1, 87 एवं 90
67. **गाथासप्तशती** 1I, 63
68. **वही** I. 91
69. **वही** III, 28, 63, 74, 76,
70. **वही** I, 70
71. **वही** I. 86.
72. **वही** IV, 4

हेतु अत्यन्त प्रसिद्ध थीं।[73] देवी गुजरात प्रदेश की एक अन्य प्रसिद्ध लेखिका थी, जो अपनी मृत्यु के उपरान्त भी अपनी रचनाओं के माध्यम से लोगों के हृदय को उद्वेलित करती थी।[74] विजयानक नामक कवियित्री की तुलना कालिदास से करते हुये यह कहा गया है कि विदर्भ क्षेत्र में कालिदास के उपरान्त सर्वश्रेष्ठ रचनाकार विजयानक है जिसकी प्रसिद्धि चतुर्दिक है।[75]

तत्युगीन सभी कवियों एवं कवियित्रियों में विजयानक निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ थीं, राजशेखर ने संस्कृत भाषा की इस लेखिका की तुलना साक्षात् सरस्वती से स्थापित की है।[76] इस युग में अनेक ऐसी प्रज्ञा सम्पन्न नारियाँ हुई, जिन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचना शैली और काव्य-कला से साहित्यिक योगदान प्रदान किया। कविवर राजेश्वर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी उत्कृष्ट कवयित्री और उच्चकोटि की टीकाकार

---

73. शब्दार्थयोः समो गुंफः पांचालीरीतिरुच्यते।
    शीलभट्टारिकावाचि........................।।

    सूक्तिमुक्तावली में उद्धृत, राजशेखर द्वारा

74. सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानां च विलासभूः।
    प्रभुर्देवी कवी लाटी गतापि हृदि तिष्ठति।। **सूक्तिमुक्तावली**

75. सरस्वतीव कर्णाती विजयांका जयत्यसौ।
    या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनंतरम्।। **सूक्तिमुक्तावली**

76. नीलोत्पलदलश्यामां, विजयांकामजानता।
    वृथैव दण्डिनाप्युक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती।। **सूक्तिमुक्तावली**

थी।[77] सुभद्रा, सीता, मरूला, इन्दुलेखा, भावादेवी तथा विक्तानितम्बा आदि अन्य प्रसिद्ध कवियित्रियाँ थीं जिनका उल्लेख समकालीन साहित्य में मिलता है।[78] मोरिखा एवं विज्ञा भी महान कवियित्रियाँ थीं, विज्ञा ने मानव, प्रेम एवं प्रकृति पर मुख्य रचनायें की हैं। कौमुदीमहोत्सव नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना भी उन्होंने की है। विल्हण ने काश्मीर की स्त्रियों की प्रशंसा में लिखा है कि वे संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषायें बड़े अच्छे ढंग से धारा प्रवाह बोलती थीं।[79] मंडन मिश्र और शंकर के मध्य हुये विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ की निर्णायिका मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी भारती थीं, जो तर्क मीमांसा, वेदान्त और साहित्य इत्यादि विषयों में पूर्ण पारंगत थी और अपनी बौद्धिक विलक्षणता के कारण तत्युगीन विद्वत् समाज में अत्यन्त प्रसिद्ध थीं।[80] अभिजात वर्ग की स्त्रियों को व्यवहारिक, अध्यात्मिक, धार्मिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। चौहान शासक गूवक द्वितीय की बहन कलावती

---

77. राजशेखर कृत **कर्पूरमंजरी** 1.11

78. पार्थस्य मनीस स्थानं लेभे खलु सभद्रया।
    कवीनां च वचोवृत्तिचातुर्येण सुभद्रया।। **काव्यमीमांसा;**
    साथ ही देखें, एम. कृष्णामचारी कृत, **क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर** पृ-30/-3

79. विल्हण कृत **विक्रमांक देव चरित** 18/6
    तस्य तस्य किं ब्रूमः यत्र अपरं किं स्त्रीणामपि वचः
    जन्म भाषावत् एवं संस्कृतं प्राकृतं च प्रत्यावासं बिलसति

80. **शंकर दिग्विजय**, पूना-1891, 8.51 विधाय भार्यां विदुषीं सदस्यां
    विधीयतां वादकथा सुधीन्द्र

के विषय में कहा गया कि वह चौंसठ कलाओं में पारंगत थी।[81] चन्द्रबरदाई की प्रसिद्ध रचना पृथ्वीराज रासो में राजकुमारी संयोगिता की शिक्षा-दीक्षा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। तदनुसार मदना ब्राह्मणी द्वारा संचालित विद्यालय में कन्नौज नरेश जयचन्द की सुपुत्री अन्यान्य कुमारियों के साथ अध्ययन करती थीं।[82] राजकुमारी संयोगिता के साथ एक सौ दस छात्रायें अध्ययन करती थीं, जिनमें एक सौ पाँच विविध देशों की राजकन्यायें सम्मिलित थी।[83] राजा जयचन्द ने रुपवती संयोगिता की शिक्षा के लिये उत्तम चरित्र से युक्त वृद्ध शिक्षिका को नियुक्त किया था।[84]

आरम्भ में उसे धर्मशास्त्र और गृह विज्ञान की विस्तृत शिक्षा प्रदान की गई।[85] यौवनावस्था के प्रारम्भ में जब संयोगिता बारह वर्ष नौ मास और पाँच दिन की हो गई तो शिक्षिका मदना उसके हृदय में सुघड़ता और पटुता की शिक्षा उतारने लगी।[86] तदुपरान्त संयोगिता शिक्षिका के संयोग से नियम और विनयपाठ पढ़ने लगी।[87] पारिवारिक सुख-शान्ति के लिये उच्चवर्गीय हिन्दू बालिकाओं

---

81. जयानक कृत **पृथ्वीराज विजय** 5/38

82. **पृथ्वीराज रासो**, तृतीय भाग, दोहा-1 पृ-244

83. **उपरोक्त**, दोहा-16 पृ 221

84. **वही** दोहा-13 पृ-219 तथा पृ-245

85. **पृथ्वीराज रासो**, तृतीय भाग दोहा-17, पृ-221

86. **वही**, दोहा-4 पृ-216

87. **वही**, विनय-मंगल, 19 पृ-222

को विश्वश्रेष्ठ विनय पाठ की विशेष शिक्षा दी जाती थी।[88] निरुपित काल की साक्षर हिन्दू महिलाओं में विश्वास देवी, लीखमा देवी[89] तथा कवि विद्यापति की पुत्रवधू चन्द्रकला देवी[90] की भी गणना की जाती है। इसके अतिरिक्त विविध स्थानों में तत्कालीन शिक्षित नारियों में सूर्यमती[91] लीलावती, राणक देवी, ललेश्वरी (लल्लेयोगेश्वरी)[92] तारा[93] और आनन्दी[94] के नाम आते हैं। पूर्वमध्ययुगीन साहित्यिक उद्धरणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस युग में राजपूत कन्याओं को अन्य

---

88. **पृथ्वीराज रासो**, दोहा-28, कवित्त-30 पृ-226-27

89. विद्यापति कृत **'कीर्त्तिलता'** चिरगांव (झाँसी) 1962, पृ-10

90. आर.आर. दिवाकर, **बिहार थ्रू दि एजेज**, ओरिएण्ट लौंगमैन, 1959, पृ-414

91. ए.बी. कीथ, **ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर**, लन्दन प्रथम संस्करण-1920 पृ-281

92. लल्लेश्वरी को संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन था। वह कश्मीर के प्रारम्भिक समाज तथा शिक्षा सुधारकों में एक थी। उसने संस्कृत के स्थान पर सुलभ कश्मीरी भाषा को अपने सिद्धान्तों के प्रचार का माध्यम बनाया। आर.के. परम कृत **'ए हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम रूल इन कश्मीर'**, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-1969, पृ-109

93. मनु शर्मा, **राणा सांगा** , हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण, पृ-42

94. **उपरोक्त**

प्रकार के नारी-कर्त्तव्यों के साथ-साथ, अश्वारोहण, अस्त्र, शस्त्र संचालन विधि तथा राजनीति व राज्य से सम्बन्धित प्रत्येक पक्ष के ज्ञान हेतु विशेष प्रकार की शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाती थी।[95] संगीत एवं विविध ललित कलाओं के प्रति स्त्रियों ने सदैव ही विशेष रुचि प्रदर्शित की है, पूर्वमध्ययुग में अभिजात वर्ग की कन्याओं को संगीत, नृत्य-कला, चित्रकला, गृहसज्जा इत्यादि से सम्बन्धित शिक्षा प्रदान की जाती थी,[96] और ये तत्युगीन स्त्री शिक्षा के अनिवार्य अंग बन चुके थे। अमीर खुसरो ने भी इस तथ्य पर बल प्रदान किया कि राजकुल से सम्बन्धित कन्याओं को अन्य प्रकार की शिक्षा के साथ सैनिक-शिक्षा अवश्य प्रदान की जानी चाहिये।[97]

इस प्रकार अवलोकित काल में नारी-शिक्षा राजघरानों तथा समृद्ध परिवारों तक सीमित थी। उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण परदा-प्रथा और अल्पवय में विवाह की प्रथा की प्रचलन से हुआ, जिससे शिक्षा की क्रमशः अवनति होती गई। समाज के निम्न वर्ग तथा निर्धन परिवार की स्त्रियों को शिक्षा का उचित अवसर प्राप्त होना अपेक्षाकृत कठिन होता जा रहा था।

---

95. **नैषधीय चरित** बम्बई-1907 II, 41; पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ-22; ए.एल. श्रीवास्तव, **मेडीवल इंडियन कल्चर** आगरा, पृ-108; अल्तेकर, **एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इन्डिया**, पृ- 225
96. धनपाल कवि द्वारा रचित, **महापुरुष** (दसवीं श. ई.) I पद-18;
97. अमीर खुसरो कृत **मतलाउल-अनवार** , पृ-153

नारी तथा राजनीतिक जीवन

भारतीय साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि राजनीतिक का क्षेत्र यद्यपि स्त्रियों से अछूता नहीं था, किन्तु सामान्य वर्ग की स्त्रियों को राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने का कोई अवसर उपलब्ध नहीं था, केवल राजपरिवार की ही स्त्रियाँ तत्युगीन राजनीति में भाग लेती थीं। [98] राजकुल की स्त्रियाँ ज्ञान-विज्ञान और ललित कलाओं में प्रवीण होने के साथ ही राजनीति और युद्ध कला की भी शिक्षा प्राप्त करती थी।[99] तभी वे उचित अवसर आने पर शासन-कार्य सम्हालने में समर्थता प्राप्त करती थीं। शासन संचालन में स्त्रियों ने राजनीतिक बुद्धिमता एवं साहस का परिचय दिया था। काश्मीर की रानी सूर्यमती ने देश में सुचारू व्यवस्था संचालन में अद्वितीय श्रेय प्राप्त किया था, वह स्वयं राज्यकार्य में संलग्न रहती थी।[100] उत्तर भारत के दो स्त्री राज्यों का उल्लेख विदेशी यात्रियों ने भी किया है। इनमें से एक पूर्व की ओर तथा दूसरा पश्चिम की ओर था, जिन्हें पूर्वी स्त्री राज्य[101] तथा पश्चिम स्त्रियों का देश कहा

---

98. **मत्स्य पुराण** 154/157; जयानक कृत **पृथ्वीराज विजय** 5/38; अल्तेकर, **एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इंडिया**, पृ-224

99. अल्तेकर, **एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इंडिया**, पृ-225; पद्मगुप्त कृत **नवसाहसांक चरित** 4/59, पृ-63

100. कल्हण कृत **राजतरंगिणी** 7/200 भर्तुंनारी-विधेयत्वं तस्या भर्तृजयस्थता
निष्कलंकेन शीलेन नान्योन्यं गहर्यतामगात्

101. वाटर्स, **यूवान च्वांग ट्रैवल्स इन इंडिया**, 2 भाग लन्दन 1904-5, भाग-1 पृ-230

जाता था। इन राज्यों में प्रत्येक की अपनी सरकार थी।[102] ऐसी भी स्त्रियॉ हुई हैं, जो शासन व्यवस्था और राज्य के प्रबन्ध में दक्ष होती थीं तथा शासक अथवा अभिभावक के अभाव में स्वयं प्रशासन का संचालन करती थीं। दसवीं शती में काश्मीर की सुगंधा और दिद्दा नामक स्त्रियाँ अपने प्रशासन और राज्य-कार्य के लिये विख्यात थीं।[103] काश्मीर शासक 'क्षेमगुप्त' (950 ई. से 958 ई.) ने शाही प्रधान की पुत्री दिद्दा से विवाह किया था। क्षेमगुप्त दिद्दा-क्षेम[104] कहा जाता था। इसकी पुष्टि क्षेमगुप्त के उन सिक्कों से होती है जिन पर दि-क्षेम[105] उत्कीर्ण है। कालान्तर में पति की मृत्यु के उपरान्त दिद्दा ने अपने विरुद्ध चल रहे षडयन्त्र से अपने राज्य की सुरक्षा की एवं शासन कार्यभार संभाला। कभी-कभी प्रजा भी रानियों को शासक नियुक्त करती थी। कश्मीर की प्रजा ने सुगंधा को शासक बनाया था, सुगंधा रानी ने अपने नाम से सुगंधा नगर बसाया था।[106] दिद्दा और सुगंधा दोनों ने अपने नाम के सिक्के भी प्रचलित किये थे। सुगंधा के सिक्कों के अग्रभाग में लक्ष्मीजी की आकृति बनी है तथा रानी का नाम "सुग" (धा) उत्कीर्ण है, तथा पृष्ट भाग में राजा की आकृति के साथ "देव्य" शब्द उत्कीर्ण है।[107] दिद्दा के सिक्कों पर लक्ष्मी की आकृति बनी है तथा "दिद्दा" उत्कीर्ण

---

102. **वाटर्स** भाग-2 पृ-257

103. कल्हण कृत **राजतरंगिणी** 7.905-9, 931, 8.1137-9

104. **राजतरंगिणी**, अनुवाद स्टेन, भाग-1, पृ-249

105. कनिंधम, **क्वांयस ऑफ एन्शियन्ट इंडिया**, पृ-45 संख्या 21

106. **राजतरंगिणी**, 5/244

107. वी. स्मिथ, **केटलाग ऑफ दि क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम**, कलकत्ता, जिल्द-1, पृ-270

है।[108] रानी दिद्दा ने तो राजकीय परम्परा के अनुरूप अभिलेख भी उत्कीर्ण करवाये थे। दिद्दा रानी का एक अभिलेख श्रीनगर से प्राप्त हुआ है।[109] काश्मीर शासिका दिद्दा के शासन काल के लगभग एक शती पश्चात राजस्थान के सांभर के चाहमान मुखिया अजयराज की पत्नी सोमल देवी ने शासन कार्यभार दक्षतापूर्वक संभाला तथा अपने नाम के सिक्के भी प्रचलित किये।[110] अक्का देवी और भैला देवी जैसी गुजरात की चालुक्य वंशीय रानियों ने अपने राज्य का प्रशासन निष्ठापूर्वक किया था।[111]

रानियाँ राज्य संचालन ही नहीं करती थी वरन् युद्ध में भी वीरता का प्रदर्शन करती थीं। युद्ध क्षेत्र में रानियाँ पति के साथ जाया करती थीं।[112] पूर्वमध्यकालीन अभिलेख भी स्त्रियों की युद्ध-कला सम्बन्धी जानकारी प्रदान करते हैं। मिहिरभोज की 'ग्वालियर प्रशस्ति' में स्त्रियों के सैन्य समुदाय का वर्णन है जो सैनिक व्यवसाय में प्रसिद्ध था।[113] दाहिर की बहिन रानी बाई ने अरब आक्रमण के सेनानायक

---

108. **वही**, जिल्द-1, पृ-271, पट्टिका 27-13

109. **एपिग्राफिया इंडिका**, जिल्द-27, पृ-154

110. **काइंस ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया**, पट्टिका-6/10-12

111. **इण्डियन ऐंटिक्वेरी**, भाग-9, पृ-274; भाग-18, पृ-37

112. कल्हण कृत **राजतरंगिणी** आश्रिलष्य पृष्ठं तिष्ठन्त्या जायया सहितो ब्रजन्
स चकार तुरंगस्थः संग्राममीतमानुषम्

113. **एपिग्राफिया इंडिका** जिल्द-18, पृ-109
यः शशासासुगन् घोरान् स्त्रैणेनास्त्रेकतृत्तिना।
यस्याशा-पटले राज्ञः प्रभुत्वाद् विश्वसंपदः।
लिलेख मुखमालोक्य प्रतिलेख्य-करोविधिः।

मोहम्मद बिन कासिम से युद्ध किया था और पति की युद्ध क्षेत्र में वीरगति प्राप्त करने के पश्चात, पराजित होने की आशंका से अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया था। समकालीन साहित्य के अनुसार काश्मीर की अनेक रानियों ने युद्ध भूमि में युद्ध कर अपनी वीरता का परिचय दिया था।[114] राजपूतों के इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब विधवा रानी ने अल्पवयस्क पुत्र का संरक्षण करते हुये स्वयं प्रशासन का भार संभाला था। 1193 ईसवी में जब समरासी नामक नरेश की मृत्यु युद्ध क्षेत्र में हो गई तो उसकी पत्नी कुमार देवी ने न केवल मेवाड़ का राज्य-भार ग्रहण किया अपितु कुतुबुद्दीन के विरुद्ध अपनी सेना का संचालन भी किया।[115] जब गुजरात के शासक सुल्तान बहादुर शाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया, तब राणा साँगा की एक विधवा रानी कर्णावती ने चितौड़ की रक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।[116] रानी कर्णावती ने अपनी प्रेरणादायक वाणी में चित्तौड़गढ़ दुर्ग की रक्षा हेतु सैनिकों एवं नागरिकों को सम्बोधित किया, जिसने सैनिकों में अद्भुत चेतना का संचार किया। राणा सांगा की एक दूसरी रानी जवाहिर बाई ने सेना को नेतृत्व प्रदान किया एवं दुर्ग की रक्षा करते हुये अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया।[117]

इस प्रकार पूर्वमध्ययुगीन राजपूतों के इतिहास में अनेक ऐसी वीर एवं कर्मठ रानियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिन्होंने मातृ-भूमि की रक्षा हेतु युद्ध किया एवं विषम राजनीतिक परिस्थितियों में अपनी अनुपम बुद्धिमत्ता और कुशलता से राज्य का प्रशासन भी किया।

---

114. कल्हण कृत **राजतरंगिणी** VII. 905, 909, 931. VIII, 1137-9

115. टॉड कृत, **एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान** भाग-एक, पृ-303-4

116. **एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान**, भाग-1, पृ-261

117. **एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान**, भाग-1, पृ-262

धार्मिक क्षेत्र में नारी

वैदिक युग से ही भारतीय स्त्रियों का धार्मिक क्षेत्र में महत्व रहा है तथा वे धार्मिक अधिकारों से भी लाभान्वित थी। धार्मिक अनुष्ठानों में स्त्रियाँ पति के साथ समान रूप से सम्मिलित होती थीं, क्योंकि पत्नी की अनुपस्थिति में धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पन्न होना असम्भव माना जाता था।[118] धार्मिक जीवन में यज्ञ का विशिष्ट स्थान था तथा इसके सम्पन्न करने में पत्नी पति के साथ सहयोग प्रदान करती थी। वायु पुराण एवं ब्रह्माण्ड पुराण में निरूपित, वराह की पृथ्वी उदार की क्रिया को यज्ञ का रूप कहा गया है जिसके सम्पन्न होने के समय उनकी पत्नी छाया (ब्रह्माण्ड पुराण में माया) भी उनके साथ थीं।[119] ब्रह्माण्ड पुराण में ही उल्लेख है कि नृप सगर ने सपत्नीक यज्ञीय स्नान सम्पन्न किया था।[120] किन्तु शैनेः शैनेः स्त्रियों के धार्मिक अधिकारों पर कुठाराधात होने लगा। बालिकाओं के उपनयन संस्कार बन्द होने के पश्चात् नवनिर्मित सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों को शूद्रों की कोटि में रखकर धार्मिक अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया।[121]

स्वाभाविक प्रकृति के अनुरूप स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा धर्म के प्रति अधिक आकृष्ट थीं तथा ईश्वर में उन्हें अपार श्रद्धा थी। अमीर खुसरो के

---

118. **ऐतेरेय ब्राह्मण** I, 2.5; **शतपथ ब्राह्मण** V, 1.6.10 **ऋग्वेद** V, 53.15

119. **वायु पुराण** 6/22-23; **ब्रह्माण्ड** 1/5/19

120. **ब्रह्माण्ड पुराण** 1/1/6

121. 'वदन्ति कोंचन्मुनः स्त्रीणां शूद्रसमानताम्, पुराणतन्त्र, **वीरमित्रोदय** में मित्र मिश्र द्वारा उद्धृत, पृ. - 40

अनुसार धार्मिक क्रिया-विधानों में स्त्रियों की विशेष रुचि होनी चाहिये।[122] उनके अनुसार स्त्रियों को सदैव जागरूक होन्ना चाहिये कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है और प्रत्येक क्षण वह हमें देख रहा है और इसीलिये सदैव पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहिये।[123] ईश्वर के समक्ष नतमस्तक होते रहने के कारण स्त्रियों के मस्तक पर स्वतः तिलक का चिन्ह अंकित हो जाना चाहिए, जिससे उसे माथे पर श्रंगारिक तिलक लगाने की आवश्यकता ही न रहे।[124] कण्ठ में माला अथवा अन्य कण्ठाभरण धारण करने से अधिक आवश्यक यह है कि उसके हाथ में माला हो और वह सदैव ईश्वर का ध्यान करती रहे।[125] हिन्दू महिलाओं में मूर्ति-पूजा विशेष लोकप्रिय थी।[126] हिन्दू महिलायें विभिन्न धार्मिक-स्थलों की यात्राओं में भी विशेष रूचि प्रदर्शित करती थी।[127]

हिन्दू धर्म में शक्ति (देवी) की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। शक्ति को नारी रूप में अभिव्यक्त किया गया है, जिसके दिव्य स्वरूप को सार्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। सृष्टि की प्रक्रिया में नारी का योगदान

---

122. अमीर खुसरो कृत **हश्त बहिश्त** पृ. - 31

123. **वही**

124. **वही**

125. **हश्त-बहिश्त**, पृ. - 31

126. **वही**

127. के. एम. अशरफ, **लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान,** पृ. - 238

स्पष्टतः अभूतपूर्व है। शक्ति का प्रारम्भिक रूप शिव की पत्नी उमा अथवा पार्वती हैं, जो जगज्जननी कही जाती हैं। वस्तुतः उनका तान्त्रिक और दार्शनिक विकास शक्ति के रूप में हुआ है।[128]

पूर्वमध्यकाल में नारी को मोक्ष का मार्ग मानकर तान्त्रिक साधनों में प्रवृत्ति द्वारा सिद्धि तथा मुक्ति को कामोपभोग द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया गया, इसीलिये सभी धार्मिक सम्प्रदायों का इस ओर आकर्षण स्वाभाविक था। प्रभुदयाल मित्तल के अनुसार – 'यह एक ऐसा आकर्षण सिद्धान्त था कि उसकी ओर उस युग के सभी प्रमुख धर्म सम्प्रदाय ललक कर दौड़ पड़े। साधारणतया सभी धर्मों में भोग प्रवृत्ति और कामचेष्टा को उदान्त कर्म नहीं माना गया। इसीलिये भोग प्रवृत्ति के शमन के लिये साधकों को कायाकष्टात्मक कठोर आचारों का पालन करने का विधान बनाया गया। किन्तु जब काया कष्ट की अपेक्षा कामोपभोग द्वारा ही कल्याण तथा निर्वाण प्राप्ति की सम्भावना व्यक्त की गई, तब उनकी ओर साधकों का आकर्षण होना स्वाभाविक ही था, फलतः उस युग के सभी धर्म सम्प्रदायों में तान्त्रिक साधना का व्यापक प्रचार हुआ।[129] पूर्वमध्ययुगीन अन्य साक्ष्यों से भी शक्ति-पूजा का पता चलता है। भेड़ाघाट (जबलपुर) के निकट चौसंठ योगिनी का मन्दिर है, जिसमें 900-1109 ई. के बीच देवी की प्रतिमाएँ निर्मित की गई। उसमें शक्ति की चौआलिस प्रतिमाएँ हैं, जो प्रधानतः

---

128. जयशंकर मिश्र, **प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास** पृ. - 714

129. प्रभुदयाल मित्तल, **वज्र के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास** प. - 143-44

दुर्गा और सप्तमात्रिकाओं[130] की हैं। उनमें कुछ पर अभिलेख भी उत्तीर्ण हैं। इसी तरह के मन्दिर खजुराहों और उड़ीसा में भी है। राजस्थान और मध्य प्रदेश जैसे कुछ अन्य स्थानों से सप्तमात्रिकाओं के अतिरिक्त दुर्गा की भी मूर्तियाँ मिलती हैं। प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल के अभिलेख में दुर्गा को विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। मूर्ति को यक्षिणी देवी कहा गया तथा स्तुति के प्रारम्भ में दुर्गा को 'महिषासुर मर्दिनी' के रूप में स्मरण किया गया है। [131] एक दूसरे अभिलेख में उन्हें कांचन देवी, सर्वमंगला देवी या अम्बा की संज्ञा दी गई है।[132] उनकी स्तुति में अपार गुणगान किया जाता था।[133] देश में शक्ति की प्रतिमाएँ महिषासुर-मर्दिनी अथवा दुर्गा के रूप में ही अधिकता से मिली हैं। चामुण्डा, चण्डी, काली आदि के रूप में दुर्गा की उग्र मूर्तियाँ बंगाल से मिली हैं। राजपूताना में सप्त मातृकाओं के स्थान पर अष्ट मातृकाओं की पूजा प्रचलित थी। जोधपुर के निकट गणपति के सात अष्ट-मातृकाओं की मूर्ति मिली है, यह मूर्ति

---

130. मातृकाओं का स्वभाव सौम्य तथा मंगलकारी था तथा समृद्धि और सुख की प्राप्ति के लिये इनकी उपासना की जाती थी। मातृकाओं को संसार का पोषक मानकर उनकी मूर्तियों का निर्माण किया गया है। इन सप्त मातृकाओं के नाम हैं – ब्राह्मणी, माहेश्वरी, कौमारी, इन्द्राणी वैष्णवी, वारही, चामुण्डा।

131. **इपिग्राफिया इंडिका**, 14, पृ. – 177-84

132. **वही**, 9 पृ. - 325

133. **एपिग्राफिया इंडिका** – 1, पृ. – 334

दुर्गा ज्याख्ये प्रबल सुरौघर्विध्वंसनीस्तोत्र परम्पराभिः
दुर्गोस्तुवन्नेष सदैव भक्त्या कृताञ्डलिः पुण्यतमामुपास्ते

प्रतिहारकालीन है।[134] आसाम स्थित कामख्या देवी का मन्दिर आज भी प्रसिद्ध है, जो देवी के काम-रूप को अभिव्यक्त करता है। जम्मू के निकट काश्मीर स्थिति शारदा देवी का मन्दिर शक्ति के सौम्य रूप का प्रतीक है जो आज वैष्णों देवी के रूप में प्रख्यात है। इस मन्दिर के विषय में ग्यारहवीं शदी के लेखक अल्बेरूनी ने लिखा है – 'काश्मीर के भारत राजधानी से लगभग दो या तीन दिनों की यात्रा के बाद बोलोर पर्वत की दिशा में लकड़ी की शारदा नामक मूर्ति है जो यात्रियों द्वारा अत्याधिक आदृत और सम्मानित है।[135] कल्हण ने राजतंरगिणी में लिखा है कि गौड़ नरेश के अनुयायियों ने शारदा देवी के दर्शन के बहाने काश्मीर में प्रेवश किया था।[136] जोनराज ने अपने 'द्वितीय राजतंरगिणी' में शारदा देवी के मन्दिर और ख्याति का उल्लेख किया है।[137] अबुल फजल ने 'आइने अकबरी में शारदा देवी के प्रस्तर मन्दिर का वर्णन किया है

---

134. **आर्किलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया**, एनुएल रिपोर्ट 1909-10 पृष्ठ - 93

    पट्टिका–40

135. जयशंकर मिश्र, **ग्यारहवीं सदी का भारत**, पृ. - 193

136. कल्हण कृत **राजतंरगिमी** – 4.325

    शारदादर्शन मिशान्कश्मीरान्संप्रविष्यते।

    मध्यस्थदेवावसथं सहताः समवेष्टयन्।।

137. जोनराज कृत **द्वितीय राजतंरगिणी** 1056, 1061

    कलौपतिकिनां पुसां स्पर्शदर्शन विकृला।

    अवश्य शारदा देवी तदान्त धीनमात्रयत्।।

    नदीं मधुमतीं स्नानपानाडयां फलयन्नयम्।

    शारदा क्षेत्रमासीदत्सीदत्परिषदाकुलम्।।

जिसके अनुसार 'हाचामून से दो दिन की यात्रा की पूरी पर पद्मती नामक नदी है जो दर्दु (दर्द) देश से होकर बहती है। सोना भी इस नदी में पाया जाता है। इसके किनारे पर पत्थर का बना शारदा मन्दिर है, जिसे दुर्गा भी कहते हैं।[138] मध्यकाल तक आकर शक्ति की उपासना बहुत अधिक बढ़ गई तथा उन्हें सृष्टि, पालन और संहार कत्री का रूप प्रदान कर उनकी आराधना की जाने लगी।

भारतीय धर्मोपासना के इतिहास में यह काल तांत्रिक साधना के उदय तथा प्रसार का काल रहा है। प्राचीन काल की भाँति विवेचित युग में भी यक्षिणी की सत्ता पर लोगों का विश्वास था और इसीलिये यक्षणियों को देवियों की भाँति कृपादात्री माना गया। यक्षिणी उन सुन्दर युवती स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो साधक को इच्छित सभी सांसारिक वस्तुयें प्रदान करती हैं। इनके ऊपर अटूट श्रद्धा के परिणामस्वरूप पूर्वमध्ययुग में उनके मन्दिरों का निर्माण किया गया। प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल द्वितीय के समय के प्रतापगढ़ अभिलेख में 'वरयक्षिणी देवी' के मन्दिर का उल्लेख है।[139]

---

138. अबुल फजल कृत **आइने अकबरी**, श्री एच. ब्लाखमैन तथा डी. सी. फिलॉट द्वारा अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ता - 1873, भाग - 2 पृ. – 365

139. **एपिग्राफिया इंडिका,** जिल्द - 14, पृ० - 117

सॉतवा अध्याय

सन्दर्भ स्रोतों का अध्ययन

दसवीं शताब्दी ईसवी से तेरहवीं शताब्दी ईसवी तक के पूर्वमध्यकालीन भारत का सामाजिक अध्ययन सामन्तयुग[1] से मध्ययुगीन भारत के तुर्क विजय के मध्य का संक्रमण काल होने के कारण अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। अतः इस काल के सामाजिक प्रवाहों का अध्ययन महत्वपूर्ण है, जिनसे इस संक्रमण काल के विकास और परिवर्तन तथा पृष्टभूमि को समझना सुलभ हो जाता है साथ ही सामाजिक शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष अथवा द्वन्द तथा अन्तर्सम्बन्ध को भी समझना इस काल के सामाजिक इतिहास के अध्ययन को सुगम बनाने के लिये आवश्यक है।[2] इस काल के सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन हेतु प्राथमिक स्रोतों की सामग्री विभिन्न प्रारम्भिक हिन्दी अथवा प्राकृत तथा अपभ्रंश कृतियों में बिखरी पड़ी है। किन्तु इन तमाम सामग्रियों को परिपूर्णता में समझने के लिये इनसे सम्बन्धित प्राचीनतम ग्रन्थों की भी सहायता लेने के लिये हम बाध्य होते हैं।

दसवीं से तेरहवीं शताब्दी का राजनीतिक तथा सामाजिक इतिहास यह इंगित करता है कि हिन्दी साहित्य के इस काल में उत्तर-भारत की जीवन-पद्धति बहुत अधिक दृढ़ नहीं रह गई थी। उस समय भारतीय मानव बहिर्मुखी परम्पराओं

---

1. बी.एन.एस. यादव, **सम आस्पेक्ट्स ऑफ सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इंडिया इन ट्वेल्थ सेंचुरी**, इलाहाबाद - 1973, पृ - IX

2. **वही**

से बद्ध हो गया था। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त उसके प्रत्येक कार्य के लिये मन्त्र और विधि-विधान बन गये थे। छुआछूत जैसे बाह्याडम्बर और जातिभेद धर्म के आवश्यक अंग समझे जाने लगे। समाज अनेक वर्णों, जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गया था। समाज अनेक खण्डों में बँट जाने के कारण अपना अस्तित्व भले ही सुरक्षित रख सकने में समर्थ हो सका हो, किन्तु इससे विघटनकारी शक्तियों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और समाज की भीतरी शक्ति खोखली हो गई।[3] ग्यारहवीं शताब्दी में जब अल्बेरुनी ने उत्तर-भारत का भ्रमण किया तो उसने हिन्दुओं को विभिन्न सम्प्रदायगत, जन्मगत और वंशगत जातियों और उपजातियों में विभक्त पाया। जीवन का जो स्वाभाविक और समन्वयवादी स्वरूप था उसका ह्रास हो गया। बौद्धों और जैनियों की त्यागमार्गी परम्पराओं के प्रभाव से भी जनमानस अछूता न रह सका था। इस काल में हिन्दी प्रदेश और उसकी सीमाओं के आसपास जैन धर्म, बौद्ध धर्म के वज्रयानी रूप, तान्त्रिक मत वामाचार सिद्ध और नाथ पंथ, शैव मत, वैष्णव मत, शाक्त मत आदि विभिन्न मत प्रचलित थे। दुर्भाग्यवश ये विभिन्न धर्म मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति के साधन बनने के स्थान पर विच्छेद भाव उत्पन्न करने के साधन बने।[4] राजनीतिक दुरावस्था के साथ-साथ धार्मिक और सामाजिक दुर्बलताओं के कारण भारत को विदेशी आक्रमणकारियों के समक्ष नतमस्तक होना पड़ा।

---

3. डा. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, **हिन्दी साहित्य का इतिहास** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974, पृ - 69

4. **हिन्दी साहित्य का इतिहास** पृ - 65

मुस्लिम आगमन, मुस्लिम आक्रमण के प्रतिरोध एवं सामन्तवादी विशेषताओं के फलस्वरूप पूर्वमध्ययुगीन भारत युद्धों नैरन्तर्य के लिये अधिक प्रसिद्ध रहा। यद्यपि प्राचीन क्षत्रिय दर्प और वीरता ज्यों की त्यों वर्तमान थी, पर अपने दुर्बल संगठन और कुलाभिमान के कारण राजा और सामन्त आपस में सदा जूझते रहे[5] जिनके अद्‌भुत शौर्य, उत्सर्ग और पारस्परिक संघर्ष का वर्णन तत्युगीन हिन्दी साहित्य में हुआ है। ये संघर्ष आठवी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर वृद्धि पाते रहे इसलिये हिन्दी साहित्य के इस युग में अनेक महत्वपूर्ण वीरगाथायें मिलती हैं उनमें रणभेरी का निनाद सुनाई पड़ता है, विविध रासो ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं। मुसलमान विजेता ज्यों-ज्यों आगे बढ़े, वीरगाथात्मक रचनायें भी संख्या में बढ़ने लगी। क्योंकि चारण लोग अपने-अपने आश्रयदाताओं को प्रोत्साहन देना अथवा उनका यश-गान करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। अतः यह उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों की अपरिहार्यता भी बन गई थी।

प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक समय समय पर ऐसे अनेकानेक साहित्य का निर्माण हुआ जिनसे भारतीय समाज और संस्कृति पर विपुल प्रकाश पड़ता है। जैन और बौद्ध धर्म प्रधान साहित्य के अतिरिक्त अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों की भी पूर्वमध्ययुग में रचना की गई जिससे तत्कालीन समाज की सर्वंगीण गतिविधियों का पता चलता है। इतिहास और साहित्य दोनों की विद्याओं से संयुक्त

---

5. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य की भूमिका** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - 1979, पृ - 23

अनेक रचनायें हुई जिनसे समाज का सांस्कृतिक जीवन अधिक मुखर होता है।[6] विवेच्य युग के विदेशी लेखकों और यात्रियों के यात्रा-विवरण भी जानकारी के अत्यन्त महत्वपूर्ण स्रोत हैं, क्योंकि इन विवरणों में भारत के जन-जीवन में व्याप्त रीति रिवाजों को स्पष्ट झलकियाँ प्राप्त होती हैं। अपने विवरण में इन विदेशी यात्रियों ने उन्हीं तथ्यों को लीपिबद्ध किया है जो कुछ उन्होंने स्वयं देखा या अनुभव किया हो। परन्तु मिथकों और परम्पराओं के बीच से सामाजिक इतिहास और वह भी समकालीन समाज में स्त्रियों की दशा निरूपित करना एक दुष्कर कार्य है, जिसके कारण साहित्यिक कृतियों के अनुशीलन में सचेत होने के साथ-साथ आलोचनात्मक दृष्टि की भी आवश्यकता पड़ती है।[7]

विवेच्य युग में भारत के सामाजिक इतिहास निरुपण में जैन साहित्य का अभूतपूर्व योगदान है। जैनाचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थ केवल जैन आचार और धर्म पर ही प्रकाश नहीं डालते, बल्कि, तत्तत समाज के चित्र भी अंकित करते हैं। जैन साहित्य अपभ्रंश से निकली प्राचीन हिन्दी में मिलता है, इस साहित्य का समय ईसा की दसवीं शताब्दी से माना जाता है।[8] इनके रचयिताओं में हेमचन्द्र, सोमप्रभ सूरि, मेरूतुङ्ग और शार्ङ्गधर अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्र गुजरात के सोलंकी

---

6. डा. जयशंकर मिश्र, **प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास**, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी - 1974, पृ - 1
7. बी. एन. एस. यादव **सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इंडिया, इन ट्वेल्थ सेंचुरी,** पृ - 10
8. **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, पृ - 73

राजा सिद्धराज जयसिंह (1105-1143) और तत्पश्चात सिद्धराज के भतीजे कुमारपाल (1143-1173) के आश्रय में रहते थे। बारहवीं शताब्दी के लगभग मध्य में उन्होंने जैन धर्म स्वीकार किया था तथा विविध प्रकार की कथाओं के द्वारा जैन धर्म का प्रचार किया। उन्होंने एक विशाल व्याकरण ग्रन्थ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन'[9] की रचना सिद्धराज के समय में की, जिसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश किया। अपने व्याकरण के उदाहरणों के लिये हेमचन्द्र ने 'द्रव्याश्रय काव्य' की भी रचना की है जिसके अन्तर्गत 'कुमारपाल चरित'[10] नामक एक प्राकृत काव्य भी है। सम्पूर्ण कृति में अट्ठाइस सर्ग हैं, जिनमें से प्रथम बीस सर्ग संस्कृत में हैं। अंतिम आठ सर्ग प्राकृत तथा अपभ्रंश में है। सम्पूर्ण कृति की रचना दो उद्देश्यों की सिद्धि के लिये हुई है - कुमारपाल के चरित वर्णन तथा संस्कृत और प्राकृत के सिद्ध रूपों के प्रयोग के लिये। प्राकृत से सम्बन्धित हेमचन्द्र की दो कृतियाँ और हैं - 'देशीनाममाला और छन्दोनुशासन'[11]। प्रथम में देशी शब्दों का संग्रह है और दूसरे में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों का विवेचन है।

---

9. **सिद्ध हेम**, प्राकृत अंश, डा. वैद्य द्वारा सम्पादित, पूना 1936

10. एस.पी. पंडित द्वारा सम्पादित, **कुमारपाल चरित** प्रथम संस्करण बम्बई, 1972 ई., द्वितीय संस्करण, डा. पी.एल. वैद्य द्वारा सम्पादित, भंडारकर इंस्टीट्यूट, पूना, 1932

11. **देशीनाममाला**, बम्बई संस्कृत सीरीज ग्रन्थ - 17 भंडारकर इंस्टीट्यूट पूना से प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, 1924 ई.; **छंदोनुशासन**, प्रथम संस्करण बम्बई 1912 ई. अध्याय चार से आठ तक जर्नल बंबई, 1943, 44 में प्रकाशित

सोमप्रभसूरि भी एक जैन पंडित थे। इन्होंने संवत् 1241 में 'कुमारपाल प्रतिबोध'[12] नामक एक गद्यपद्यमय संस्कृत-प्राकृत काव्य लिखा, जिसमें समय समय पर हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल को अनेक प्रकार के उपदेश दिये जाने की कथायें लिखी हैं। यह ग्रन्थ अधिकांश प्राकृत में ही है, बीच-बीच में संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे आये हैं। ऋतु वर्णनों के प्रसंगों में हर्षामोद में नाचती हुई रमणियों के समूहों का उल्लेख, विरह संतप्त अंगराग का उबटन करती हुई युवतियाँ, प्रखरश्मिसूर्य तथा चंदनरस का लेप करने वाले श्रीमन्तों का ग्रीष्म वर्णन में उल्लेख हुआ है। इन विवरणों से उस काल के पूर्ण परिवेश तथा स्त्रियों की स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है।

जैनाचार्य मेरूतुंग द्वारा रचित प्रबन्ध चिन्तामणि[13] में अपभ्रंश के अनेक पद्य मिलते हैं। इस ग्रन्थ में बहुत से पुराने राजाओं के आख्यान संगृहीत

---

12. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **हिन्दी साहित्य का इतिहास** इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, पृ - 27
13. मेरुतुंग कृत **प्रबन्ध चिन्तामणि**, सिन्धी जैन ग्रन्थ माला, शान्तिनिकेतन, बंगाल - 1933

किये गये हैं। विक्रम, मूलराज, मुंज राजाओं से सम्बन्धित प्रसंग इन पद्यों में हैं।[14] इसके अतिरिक्त भोज भीम प्रबंध, तथा कुमारपाल प्रबंध में अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं।

राजेश्वरसूरि कृत 'प्रबन्धकोश'[15] में भी सुभाषित, उपदेश, श्रृंगारात्मक कुछ अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में भी इसी भाँति कुछ अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं। शार्ङ्गधर द्वारा रचित आयुर्वेद का ग्रन्थ तो प्रसिद्ध ही है, साथ ही ये अच्छे कवि और सूत्रधार भी थे। परम्परा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने 'हम्मीर रासो' नामक एक वीरगाथा काव्य की रचना की थी यह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है किन्तु 'प्राकृत-पिंगल सूत्र में उस ग्रन्थ के मूल पद उद्धृत हुये कहे जाते हैं। 'प्राकृत पैंगल'[16] के रचयिता के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप

---

14. **प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश, पुरातन प्रबन्ध संग्रह** ग्रन्थों के विविध प्रबन्धों में जो अपभ्रंश पद्य मिलते हैं उनके आधार पर यह अनुमान करना स्वाभाविक प्रतीत होता है कि ये विभिन्न पद अनेक स्वतन्त्र कृतियों में से लिये गये हैं जो अब उपलब्ध नहीं हैं। मुंज पृथ्वीराज आदि राजाओं से संबंधित स्वतन्त्र अपभ्रंश कृतियों के अस्तित्व की कल्पना उन राजाओं से सम्बन्धित प्राप्त पद्यों के आधार पर सहज ही की जा सकती है।

15. सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, 6 कलकत्ता 1935 ई.

16. **प्राकृत पैंगल** को दो संस्करण हो चुके हैं, एक कलकत्ता से बिब्लियोथिका सीरीज में, कलकत्ता 1900-2 ई. तथा दूसरा बम्बई से प्राकृत टैक्स सौसाइटी से कृति का एक नया संस्करण भी निकला है जिसमें हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है, बनारस - 1959

से ज्ञात नहीं है। उसमें प्राकृत एवं अपभ्रंश छन्दों का व्यापक विवरण है। उसकी रचना तेरह सौ ईसवी सन् या उसके आस-पास हुई। इस ग्रन्थ में राजाओं में काशीराज दिवोदास, कर्ण हम्मीर, चंद्रेश्वर आदि के उल्लेख हुये हैं।[17] सेना और युद्ध, तुरक और हिन्दुओं के युद्धों का भी कुछ पद्यों में संकेत है।[18] प्राचीन भारतीय समाज को उद्‌घाटित करने वाले और भी अनेक जैन ग्रन्थ हैं। जिनमें प्रसिद्ध हैं – जैनाचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थ 'परिशिष्टपर्वन', 'त्रिशष्टिशालाकापुरुष चरित', 'अभिधान चिन्तामणि' इत्यादि, इन ग्रन्थों से तत्कालीन समाज की विविध विधायें दृष्टिगत होती हैं। सोमेश्वर कृत 'रासमाला' और 'कीर्तिकौमुदी' से गुजराती संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है। राजशेखर के 'प्रबन्धकोष' 'काव्यमीमांसा' नामक कृतियों से राजपूतकालीन समाज और धर्म निरूपित होता है।

'संदेश रासक' मुनि जिनविजय द्वारा संपादित बहुत ही महत्वपूर्ण रचना है। यह भाषा काव्य के प्रथम मुस्लिम लेखक की बहुत ही सुन्दर रचना है। अवलोकित काल में प्रचलित दो प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में की है एक तो शिष्ट जनों की अपभ्रंश भाषा जिसका व्याकरण स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने लिखा था। दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश भाषा जो संभवतः चलती

---

17. **प्राकृत पैंगल** 1.70, 72 आदि, कलकत्ता संस्करण

18. **वही** 1.60, 157 आदि

जबान थी। "संदेश रासक"[19] नामक ग्रन्थ इसी प्रकार की अपभ्रंश भाषा में बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में रचित हुआ था। इसके कवि अद्दहमाण या अब्दुल रहमान, प्राकृत अपभ्रंश परम्परा के अच्छे जानकार थे और बीच-बीच में उन्होंने जो प्राकृत गाथायें लिखी हैं, वे उनकी प्राकृत पटुता की सूचना देती हैं। फिर भी उन्होंने अपनी रचना बोलचाल के अधिक नजदीक रखने की ओर अधिक ध्यान दिया है। संदेशरासक दो सौ तेईस पद्यों में समाप्त संदेश काव्य है। तीन प्रक्रमों में कवि ने कृति को विभक्त किया है। प्रथम चालीस पद्यों में मंगलाचरण तथा भूमिकारूप अपनी कृति-रचना के औचित्य का प्रसंग है। मुख्य विषय का प्रारंभ विजयनगर की एक विरहिणी नायिका के वर्णन से होता है वह एक पथिक द्वारा जो सामोरू[20] नगर से आया था और खंभात तीर्थ जा रहा था, अपने पति को संदेश भेजना चाहती है। खंभात में ही उस नायिका का पति रहता था, अतः उस नगर का

---

19. अब्दुल रहमान कृत **संदेश-रासक**, सम्पादक, डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई - 1960 ई., प्रस्तुत संस्करण की विशेषता है-मूल कृति की संस्कृत अवचूरिका (संक्षिप्त टीका) का हिन्दी रूपान्तर दे दिया गया है। आचार्य द्विवेदी ने 'संदेश रासक के विचारणीय पाठ और अर्थ' अध्याय में कुछ कठिन स्थलों पर विचार किया है। जयपुर में प्राप्त एक नई हस्तलिखित प्रति के सम्बन्ध में प्रशंसापूर्ण शब्द कहे हैं। अवचूरिका में कई स्थलों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका है ऐसे स्थलों को स्पष्ट करने की चेष्टा संपादकों ने की है।

20. **सामोरू** नगर का कवि ने विस्तृत वर्णन किया है - **संदेश रासक**-पद्य-42-65

नाम सुनते ही वह भावविहवल होकर पथिक को अपना करुणापूर्ण संदेश कहने लगती है। आश्वासन देता हुआ पथिक उसे धैर्य बंधाता है। संदेश रासक के कवि ने ऋतुवर्णन की परम्परा का उपयोग नायिका के विरह को अधिक प्रगाढ़ बनाने के लिये किया है। प्रत्येक ऋतु से सम्बन्धित नवीन उत्साह, पर्व आदिका कवि ने उल्लेख किया है। एक ओर संयोग अवस्था वालों को जो ऋतुएँ सुख प्रदान करती हैं, दूसरी ओर इस विरोहणी नायिका को वे ऋतुएँ संतप्त करती हैं।[21] अपने दुःख का वर्णन कर वह पथिक को प्रिय वचनों से युक्त संदेश कहने की विनती कर आशीर्वाद देकर उसे विदा करती है। इसी समय दक्षिण दिशा से वह अपने पति को आता हुआ देखती है। हर्ष से वह उल्लसित हो जाती है। पाठकों को मंगल कामना करता हुआ कृतिकार ग्रन्थ को समाप्त करता है।

रचयिता ने अपने संबध में बताया है कि कवि का स्थान मिच्छदेस है जो पश्चिम और पूर्व दोनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है, उसी प्रदेश में मीरसेण आरद्द का पुत्र अद्दहमाण उत्पन्न हुआ जो प्राकृत काव्य रचना, संगीतादि में अत्यन्त निपुण था और उसने संदेश रासक की रचना की।[22] प्रसंगवश कृति में कुछ स्थानों के नाम आये हैं। विरहिणी विजयनगर[23] का निवासिनी थी, पथिक ने अपने आने

---

21. **संदेश रासक** पद्य 66 से 222

22. **संदेश रासक**, प्रथम प्रक्रम, 3, 4

23. **संदेश रासक**, द्वितीय प्रक्रम, विजयनयरहु कावि वररमणि,

तथा जाने के स्थान क्रमशः सामोरू[24] तथा खंभाहत[25] बताये हैं। टीकाकारों ने सामारु को मुख्य स्थान (मुल्तान) तथा खंभाहत को स्तम्भ तीर्थ[26] बताया है। मुनि जिनविजय जी ने टीकाकारों का अनुसरण करते हुये विजयनगर को विक्रमपुर माना है। विक्रमपुर वर्तमान जैसलमेर में एक स्थान का नाम है।[27] अब्दुल रहमान ने बड़ी सहृदयता के साथ हिन्दुओं के तीर्थों, सामाजिक प्रथाओं, उत्सवों स्त्रियों के आभूषणों तथा अन्य अनेक शास्त्रीय तथा लौकिक बातों के उल्लेख किये हैं।[28] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी संदेश रासक को बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं।[29]

विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली में अपनी कृतियों की रचना की। अपभ्रंश में उनकी पूर्ण कृति "कीर्तिलता" प्राप्त हुई है। कीर्तिलता ऐतिहासिक चरित काव्य है। यद्यपि यह पुस्तक भी आश्रयदाता सामयिक राजा की कीर्ति गाने के उद्‌देश्य से ही लिखी गई है और कविजनोचित अलंकृत भाषा में रची गई है तथापि इसमें ऐतिहासिक तथ्य क्ल्पित घटनाओं या संभावनाओं के द्वारा

---

24. **संदेश रासक**, पद्य 42
25. **संदेश रासक**, पद्य 65
26. क्रमशः पद्य 42 तथा 65 की टीकाएं
27. **संदेश-रासक**, प्रस्तावना, पृ - 12
28. भाषाओं, भरतनृत्य, वेद, लक्षणछंद, रामायण, रासक आदि के उल्लेख।
29. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1957, पृ - 45

धूमिल नहीं हो पाया है। कीर्ति सिंह का चरित्र बहुत ही स्पष्ट और उज्ज्वल रूप में चित्रित हुआ है।[30] कृति चार पल्लवों में विभक्त है। विद्यापति की दूसरी कृति 'कीर्तिपताका' है जिसमें कुछ अपभ्रंश पद्य पाये जाते हैं। राजा शिवसिंह का यश प्रस्तुत कृति में वर्णित है। प्रारम्भ में शिव, सरस्वती और गणेश की वंदना है और फिर क्रमशः सज्जनों और दुर्जनों को स्मरण किया गया है।

हिन्दी के बौद्ध और सिद्ध या योग साहित्य की ओर कुछ विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ और गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों के आधार पर उपदेश देने वाले कुछ सिद्ध कवियों की रचनाओं का परिचय मिला। इन सिद्ध कवियों की परम्परा सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक मानी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन कवियों की परम्परा बौद्ध धर्म के विकृत रूप के अन्तर्गत आती है। बौद्ध तान्त्रिक और वामाचारी बिहार-उड़ीसा से आसाम तक फैले हुये थे ये तान्त्रिक योगी सिद्ध कहे जाते थे। जिनकी संख्या ज्योतिरीश्वर कृत वर्णरत्नाकर[31] तथा राहुल सांकृत्यायन [32] के आधार पर चौरासी मानी जाती है।

---

30. **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी,** पृ - 79

31. ज्योतिरीश्वर कृत **वर्णरत्नाकर**, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता 1940

32. तिब्बती साहित्य के अनुसंधान द्वारा उन्होंने सिद्धों की कविता का परिचय प्रकाशित कराया। पहले उनका यह अध्ययन गंगा पुरातत्वांक में प्रकाशित हुआ था, बाद में वही अंश पुरातत्व निबंधावली में **हिन्दी के प्राचीनतम कवि** नाम से प्रकाशित हुआ, प्रयाग - 1937

इनमें सरहपा[33] शबरपा, भुसुकपा, लुइपा विरुपा, डोंबिपा, गुडरिपा, कुम्कुरिपा, कण्गपा, तिलोपा, कामलिपा आदि सिद्धों की कृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं। उस काल में इन सिद्धों में अलौकिक शक्ति मानी जाती थी और नवी-दसवीं शताब्दी में जनता पर उनका काफी प्रभाव था। नालन्दा और विक्रमशिला उनके प्रधान केन्द्र थे। वे संस्कृत के अतिरिक्त प्रायः अपभ्रंश मिश्रित देशज भाषा का प्रयोग करते थे। सिद्धों की अवधारणा थी कि, वेद, उपनिषद, ब्राह्मण जाति-भेद, यज्ञ आदि से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इन सबका उन्होंने घोर खण्डन किया है और परोपकार, दान, दया आदि का उपदेश दिया है। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा लोगों का ध्यान अन्तर्मुखी योग की ओर भी आकर्षित किया। वे विविध प्रकार की यातनापूर्ण क्रिया करते और ईश्वरत्व की भावना प्राप्त कर वाममार्ग ग्रहण करने का उपदेश देते थे। सिद्दों की प्राप्त वाणियों में वज्रयान के सिद्धान्तों का क्रमबद्ध विवेचन नहीं प्राप्त होता और न सभी आधारादि का ही संकेत मिलता है। इन सिद्धों के सैंतालिस चर्यागीत[34] मिलते हैं।

---

33. सिद्ध सरहणद कृत, **दोहा-कोश** राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना द्वारा प्रकाशित - 1957

34. महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने पद्य संग्रह का नाम **'चर्याचर्यविनिश्चय'** निश्चित किया था। डा. शहीदुल्ला ने **आशचर्यचर्याचर्य** नाम उपयुक्त समझा था। चर्यागीति 24, 25 तथा 48 का मूल अपभ्रंश रूप नहीं मिलता, तिब्बती अनुवाद के आधार पर इनका फिर संस्कृत में अनुवाद किया गया है। इस प्रकार कुल चर्याएं पचास थीं।

नाथ साहित्य से सम्बन्धित बौद्धों की वज्रयान शाखा का सम्बन्ध गोरखनाथ के नाथ पंथ से है। भारतीय धर्म-साधना के उथल-पुथल के युग में गोरखनाथ ने भारतीय जीवन उद्‌बुद्ध करने का व्रत लिया था। नाथों की संख्या प्रधानतः नौ मानी जाती है – नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द, सत्यनाथ, गोरखनाथ, चर्पट जलंधर और मलयार्जुन। नाथ पंथ के आदि प्रवर्तक आदिनाथ या स्वयं शिव माने जाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ के कई शिष्य और सिद्ध हुये जिनके प्रभाव से यह मार्ग सारे भारतवर्ष में प्रतिष्ठित हो गया।[35] इन शिष्यों में सबसे प्रधान गोरखनाथ थे। गोरखनाथ ने ही योगमार्ग के अभिनव रूप को प्रतिष्ठित कराया। उनके आविर्भाव के समय भारतीय धर्म-साधना निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी उन्होंने फिर से उसमें नवीन प्राणों का संचार किया। उपलब्ध सामग्री के आधार पर नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास उनका समय माना जाता है। गोरखनाथ के नाम से हिन्दी और संस्कृत में सत्तर के लगभग रचनायें प्राप्त हुई हैं। जिनकी प्रामाणिकता पर डा. बड़थ्वाल, डा. प्रबोध चन्द्र बागची, डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने विचार किया है। किन्तु उनके अध्ययन का यही निष्कर्ष निकलता है कि उनके कुछ ग्रन्थ परवर्ती और सन्देहास्पद हैं। डा. बड़थ्वाल ने गोरखबानी संग्रह[36] में उनकी रचनायें संग्रहीत की हैं। अधिकतर ग्रन्थ संवाद रूप में है। नाथ पंथियों की भाषा पुरानी पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के एक मिश्रित रूप में थी, जिसने

---

35. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य की भूमिका** पृ - 64

36. **गोरखबानी** सम्पादक, डा. पीताम्बरदास बड़थ्वाल प्रयाग - 1942

आगे चलकर सन्त साहित्य (कबीर) की भाषा की नींव रखी।[37] नाथपन्थी योगियों का अक्खड़पन कबीर में पूरी मात्रा में है और साथ ही उनका स्वाभाविक फक्कड़पन मिल गया है।[38]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि अभी तक जो धार्मिक साहित्य उपलब्ध है वह दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच का है। उसमें ब्राह्मण धर्मान्तर्गत वैदिक परम्पराओं का विरोध किया गया है और शास्त्र सम्मत मार्ग का खण्डन किया गया है। सिद्ध-नाथ कवियों ने शिष्ट साहित्य का अनुसरण न कर लोक-साहित्य का अनुसरण करना पसन्द किया। कविता करना उनका ध्येय न होकर सन्देश देना प्रधान ध्येय था।

अपभ्रंश के अन्तिम काल (ईसा की दसवीं शताब्दी के लगभग) के बाद काव्य परम्परा के आधार पर हिन्दी दो शाखाओं में विभिक्त की गई है – डिंगल और पिंगल।[39] राजस्थान में नागर अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी के साहित्य रूप का नाम डिंगल है, जो अनियमित और पिंगल से प्राचीन मानी जाती है। यह भाषा डिंगल या मरू भाषा या मारवाड़ी भाषा के नामों से अभिहित की जाती है। भारत के राजनीतिक इतिहास में यह वह समय था जब मुसलमानों के आक्रमण उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। हर्षवर्द्धन के उपरांत ही साम्राज्य-भावना देश से विलुप्त सी हो गई थी और खण्ड-खण्ड होकर जो गहड़वाल,

---

37. डा. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, **हिन्दी साहित्य का इतिहास** पृ-84

38. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य की भूमिका** पृ-41

39. **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, पृ-86

चौहान, चंदेल और परिहार आदि राजपूत राज्य पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित हो रहे थे, वे अपने प्रभाव की वृद्धि के लिये परस्पर युद्ध किया करते थे। ये युद्ध कभी-कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिये यों ही मोल ले लिये जाते थे, बीच-बीच में मुसलमानों के आक्रमण भी होते रहते थे।[40] इस दशा में काव्य या साहित्य के और भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था उस समय तो केवल वीरगाथाओं की उन्नति सम्भव थी। जो चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता था या रण-क्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था, वही सम्मान पाता था। इस युग से सम्बन्धित जो वीरगाथात्मक प्रतियाँ हमें मिलती हैं, उन्हें 'रासो' कहा जाता है। तासी 'राजसूय' से प. रामचन्द्र शुक्ल "रासायण" से[41] तथा कुछ अन्य विद्वान 'रहस्य' शब्द से रासो की व्युत्पत्ति मानते हैं। रासो का मूल शब्द 'रास' या 'रासक' है।[42] रासक का अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी में 'राउस' शब्द

---

40. दशरथ शर्मा, **अर्ली चौहान डायनेस्टीज**, दिल्ली 1956 पृ-53 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **हिन्दी साहित्य का इतिहास** इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग - पृ - 36; टाड जेम्स, **एनल्स एण्ड एन्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान**, लन्दन-1920, पृ-123

41. **हिन्दी साहित्य का इतिहास** पृ-39

42. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पृ-66

हुआ।[43] राजस्थानी और गुजराती में अनेक रास लिखे गये।

नरपति नाल्ह कवि, विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का समकालिन था। कदाचित् यह राजकवि था। इसने 'बीसलदेव रासो' नामक ग्रन्थ की रचना की, ग्रन्थ का सम्बन्ध अजमेर के चौहान वंश से है।[44] ग्रन्थ में निर्माण-काल इस प्रकार दिया गया है –

बारह सै बहोत्तराँ मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि।
'नाल्ह' रसायण आरंभइ। सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि

बारह सौ बहोत्तर का स्पष्ट अर्थ 1212 है। बहोत्तर शब्द बरहोत्तर, द्वादशोत्तर का रूपान्तर है। अतः 'बारह सौ बहोत्तरों' का अर्थ 'द्वादशोत्तर बारह सै' अर्तात् 1212 होगा। गणना करने पर विक्रम संवत् 1212 में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है। कवि ने अपने रासो में सर्वत्र वर्तमान काल का ही प्रयोग किया है जिससे वह बीसलदेव का समकालीन जान पड़ता है।[45] विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) का समय भी 1220 के आसपास है उसके शिलालेख भी संवत् 1210 और 1220 के प्राप्त हैं। बीसलदेव रासो में चार खंड हैं। यह काव्य लगभग दो हजार चरणों में समाप्त हुआ है। इसकी कथा का सार इस प्रकार है–

खंड एक – मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से साँभर के बीसलदेव का विवाह होना; **खंड दो** – बीसलदेव का राजमती से रुठकर उड़ीसा

---

43. रामसिंह तोमर, **प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य**, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय - 1964 पृ-205

44. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **हिन्दी साहित्य का इतिहास** पृ-41

45. **उपरोक्त**

की ओर प्रस्थान करना तथा वहाँ एक वर्ष रहना; **खंड तीन** – राजमती का विरह वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना तथा **खंड चार** – भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले जाना तथा बीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौड़ लाना।

दिये गये संवत् के विचार से कवि अपने चरितनायक का समसामयिक प्रतीत होता है परन्तु वर्णित घटनायें विचार करने पर बीसलदेव के बहुत पीछे की लिखी हुई जान पड़ती हैं। बीसलदेव से सौ वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहान्त हो चुका था। अतः उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह कवि की कल्पना प्रतीत होती है। उस समय मालवा में भोज नाम का कोई राजा नहीं था। बीसलदेव की एक परमार वंश की रानी थी, यह बात परम्परा से अवश्य प्रसिद्ध चली आती थी, क्योंकि इसका उल्लेख पृथ्वीराज रासो में भी है। इसी बात को लेकर पुस्तक में भोज का नाम रखा हुआ जान पड़ता है। अथवा यह भी सम्भावना है कि धार के परमारों की उपाधि ही भोज रही हो और उस आधार पर कवि ने उसका केवल यह उपाधिसूचक नाम ही दे दिया हो, यह उसका असली नाम न हो। कदाचित् इन्हीं में से किसी की कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह हुआ हो।

अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) बड़े वीर और प्रतापी थे, उन्होंने मुस्लिमों के विरुद्ध अनेक युद्ध किये थे। दिल्ली और हाँसी के प्रदेश इन्हीं ने अपने राज्य में मिलाये थे। इनके वीर चरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव रचित "ललितविग्रहराज नाटक" (संस्कृत) में है जिसका

कुछ अंश बड़ी-बड़ी शिलाओं पर उत्कीर्ण है और राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित है।[46] परन्तु नरपति नाल्ह कृत इस बीसलदेव रासो में न तो उक्त राजा के ऐतिहासिक संघर्षों का वर्णन है और न उसके शौर्य पराक्रम का। श्रृंगार-रस के दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का वर्णन कल्पनाजन्य प्रतीत होता है। इस कृति में व्यवहृत कुछ फारसी, अरबी, तुर्की शब्द भी उल्लेखनीय हैं, जैसे, महल, इनाम, नेजा, ताजनो (ताजियाना) आदि। पुस्तक की भाषा में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है, अतः ये शब्द बाद में जोड़े हुये भी हो सकते हैं और कवि द्वारा व्यवहृत भी। नरपति नाल्ह के समय से पहले ही मुस्लिमों का प्रवेश हो चुका था और वे जीविका हेतु इधर-उधर फैलने लगे थे। अतः ऐसे साधारण शब्दों का प्रचार आश्चर्यजनक नहीं था।

चंदबरदाई (1168-1192 ई.) हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' है। 'रासो' में कवि चन्द ने अपना जीवन वृत्त दिया है जिसके अनुसार वे भट्ट जाति के जगात् नामक गोत्र के थे। उनका जन्म लाहौर में हुआ था और कहा जाता है कि पृथ्वीराज और चन्दविरदाई का जन्म एक ही दिन हुआ था। वे जीवन भर पृथ्वीराज के सखा और सामन्त रहे जिसका प्रमाण रासो में उपलब्ध है।[47]

पृथ्वीराज रासो ढाई हजार पृष्टों का विशाल ग्रन्थ है जिसमें 69 समय (सर्ग या अध्याय) हैं। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को

46. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,** पृ-43

47. हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल** पृ-64

कैद करके गजनी ले गया, तब कुछ दिनों पश्चात कवि चंद भी वहीं गये। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्हण के हाथ में पुस्तक देकर, उसे पूर्ण करने का संकेत किया पृथवीराज रासो में आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रियकुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राज्यस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तार वर्णन है।[48] ग्रन्थ में अजमेर के सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के अनंगपाल (तोमर) की पुत्री कमला के साथ, पृथ्वीराज का जन्म, अनंगपाल की द्वितीय पुत्री सुन्दरी का विवाह कन्नौज के राठौर विजयपाल के साथ, जयचन्द का जन्म, अनंगपाल का पृथ्वीराज को गोद लेना, जयचन्द को बुरा लगना, राजसूय यज्ञ, पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता हरण, पृथ्वीराज का भोग-विलास में लीन होना, शहाबुद्दीन का आक्रमण पृथ्वीराज के अनेक युद्धों और विवाहों तथा आखेटों आदि का वर्णन है।

इस ग्रन्थ में अजमेर व दिल्ली के शासक पृथ्वीराज चौहान एवं कन्नौज के शासक जयचंद के मध्य संघर्ष सम्बन्धों के माध्यम से पूर्ण सामन्तीय परिवेश पर प्रकाश पड़ता है अतः इस काल के परिवेश निर्माण पर इस ग्रन्थ के माध्यम से बहुत सहायता मिलती है। इस ग्रन्थ से यह भी तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि पारस्परिक युद्धों का प्रतिकूल परिणाम इन राज्यों पर पड़ा। उदाहरणार्थ कथानक यह बताता है कि पृथ्वीराज के बल का बहुत कुछ ह्रास तो जयचन्द एवं अन्य राजाओं के साथ युद्ध करते-करते हो चुका था और बड़े सामंत मारे जा चुके थे। उचित अवसर देखकर शहाबुद्दीन ने आक्रमण कर दिया परन्तु पराजित

---

48. चन्दबरदाई कृत **पृथ्वीराज रासो**, चार भाग, सम्पादक, कविराज मोहनसिंह, साहित्य संस्थान, राजस्थान, विश्वविद्यापीठ, उदयपुर (राजस्थान) विक्रम संवत् 2011-2012

हुआ। शहाबुद्दीन बार-बार आक्रमण करता रहा, अंत में पृथ्वीराज परास्त हुये और उन्हें गजनी भेज दिया गया। कुछ समय पश्चात कवि चंद भी गजनी पहुँचे। एक दिन चंद के इशारे पर पृथ्वीराज चौहान ने शब्द भेदी बाण द्वारा शहाबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मारकर मर गये। यह पृथ्वीराज का मुख्य चरित्र है उसके अतिरिक्त बीच-बीच में बहुत से राजाओं के साथ पृथ्वी राज के युद्ध और अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह की कथाएं रासो में उपलब्ध हैं।

चंद ने पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत् 1115 में, दिल्ली गोद जाना 1122 में, कन्नौज जाना 1151 में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध 1158 में लिखा है, परन्तु शिलालेखों और दानपत्रों में जो संवत् उल्लिखित हैं, उनके अनुसार रासो में दिये हुये संवत् ठीक नहीं हैं। अब तक ऐसे दानपत्र या शिलालेख जिनमें पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव (महोबा के राजा परमाल) के नाम आये हैं, इस प्रकार मिले हैं – पृथ्वीराज के चार, जिनके संवत् 1224 और 1244 के बीच में हैं। जयचन्द के बारह, जिनके संवेत् 1224 और 1243 के बीच में हैं। परमर्दिदेव के छह, जिनके संवत् 1223 और 1258 के बीच में है। इनमें से एक संवत् 1239 का है जिसमें पृथ्वीराज और परमर्दिदेव (राजा परमाल) के युद्ध का वर्णन है।[49]

इन संवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फारसी तवारीखों से भी हो जाती है। फारसी इतिहास के अनुसार

---

49. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **हिन्दी साहित्य का इतिहास** पृ-51

शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध 587 हिजरी (विक्रम संवत् 1248, ईसवी सन 1191) में हुआ। अतः पृथ्वीराज के सन्दर्भ में ये संवत् सही प्रतीत होते हैं।

अमीर खुसरो (सन् 1283-1324 ई.) का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशेष महत्व है, क्योंकि (1) उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भिन्न-भिन्न विषय प्रस्तुत कर मनोविनोद और मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत की (2) अपभ्रंश मिश्रित भाषा और डिंगल भाषा के स्थान पर उन्होंने सर्वप्रथम खड़ी बोली और ब्रजभाषा का सफलता पूर्वक प्रयोग किया, एक प्रकार से जनसाधारण में प्रचलित भाषा का प्रयोग किया और अपना महत्व स्थापित किया (3) उनकी रचनाओं से भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों के समन्यवय का पता चलता है। (4) उनकी रचनाओं से लोक-भावनाओं, सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन की स्पष्ट जानकारी प्राप्त होती है।[50] वे निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे और उनका सम्बन्ध गयासुद्दीन बलवन से लेकर अलाउद्दीन और मुबारकशाह तक कई राजदरबारों से रहा। उन्होंने प्रारम्भिक तुर्की वंश के पतन से लेकर तुगलक वंश के प्रारम्भ होने तक का समय देखा था। उनका रचना-काल तेरहवीं शताब्दी के लगभग अन्त में माना जाता है। उनकी मृत्यु 1324 ई. में हुई। अमीर खुसरों की हिन्दी रचनाओं में उक्तिवैचित्र्य की प्रधानता मिलती है। उनकी कुछ पहेलियाँ, कविता-कौमुदी, भाग – 1 (रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित एवं नवनीत प्रकाशन, बम्बई द्वारा प्रकाशित - 1954) में

---

50. श्री सुरेन्द्र तिवारी, **अमीर खुसरो**, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश - पृ-63

संगृहीत है। साथ ही उनकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाये हैं – देवल रानी खिज्र खाँ, नूह-सिपहिर, मतलाउल-अनवार, हश्त-बहिश्त आदि।[51] हमारे आलोच्यकाल में एतिहासिक पुरूषों के नाम से समबद्ध कई काव्य, नाटक और चंपू आदि मिले हैं। महाकवि बाणकृत 'हर्षचरित' भी चरितप्रधान इतिवृत्तात्मक ग्रन्थ है। बाण का अभिप्राय घटनाओं का यथारूप लेखन नहीं है, अपितु अपने नायक हर्ष द्वारा एक विशिष्ट लक्ष्य की उपलब्धि है। हर्ष के पूर्वज पुण्यभूति को भाग्य की देवी से वर प्राप्त हुआ था कि वह एक स्वतन्त्र राजवंश की स्थापना करेगा जिसमें हर्ष नामक सम्राट होगा और वह स्वयं उसकी सेवा में रहेगी। बाण ने युद्ध के विवरण में कोई रुचि नहीं प्रदर्शित की है तथा केवल हर्ष द्वारा अपनी बहन राज्यश्री की प्राप्ति तथा तदनन्तर उसके द्वारा राज्य-प्राप्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। अपने विवरण में संभवतः सत्य से दूर हुये बिना ही बाण अपने कथानक को काव्य-शैली में प्रस्तुत कर सके हैं।[52]

---

51. अमीर खुसरो कृत **देवल-रानी खिज्र खाँ**, अलीगढ़-1917; **नूह-सिपहेर**, मुहम्मद वाहिद मिर्जा, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता **मतला-उन-अनवार** (दो भागों में) लखनऊ- 1884; **हश्त-बहिश्त** सम्पादक, मौलाना सैयद सुलेमान अशरफ, अलीगढ़-1918

52. **इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त**, सम्पादक, गोविन्द चन्द्र पाण्डे, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ-76

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पद्मगुप्त ने मालवा के परमार शासक सिन्धुराज से सम्बन्धित 'नवसाहसांकचरित' नामक एक काव्य की रचना की।[53] यद्यपि यह ग्रन्थ सत्य-घटनाओं पर आधारित है तथापि इसे प्रेम-कथा में परिवर्तित करने का प्रयास किया गया है। राजा एवं नाग-कन्या शशिप्रभा के प्रणय को वर्णित किया गया है। यह ग्रन्थ नायक की पूर्वज-परम्परा के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचनायें प्रदान करता है। परमारों को राजपूत कहा गया है तथा काव्य के ग्यारहवें सर्ग में सिन्धुराज को उसके कुल की उत्पत्ति की कथा सुनाई गई है। यह घटना वैदिक काल में अर्बुद पर्वत पर घटित हुई। विश्वमित्र, जो पहले क्षत्रिय थे और बाद में ऋषि बने, उनके द्वारा वशिष्ठ की कामधेनु अपहृत कर ली गई थी। वशिष्ठ ने याज्ञिक अग्नि में आहुति डाली जिससे एक योद्धा उद्भूत हुआ। इसने गाय को पुनः प्राप्त कर लिया और वशिष्ठ ने उसे परमार (शत्रु का सहारक) संज्ञा प्रदान की। इसी से इस कुल के अन्य राजा उत्पन्न हुये।[54]

परवर्ती चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ से सम्बद्ध (ग्यारहवीं शताब्दी) एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'विक्रमांकदेव चरित' है जिसकी रचना बिल्हण ने की। बिल्हण भार्गव कुल की एक शाखा (सारस्वत) से सम्बद्ध था तथा कुछ चालुक्य शासक स्वयं को आंगिरस कुल की शाखा (हारीत) से सम्बद्ध करते थे। विक्रमादित्य ने अपने ज्येष्ठ भ्राता से सिंहासन को छीन कर स्वयं राज्याधिकार हस्तगत किया था। विल्हण ने अपने काव्य में विक्रमादित्य षष्ठ के इस कृत्य के औचित्य को

---

53. **इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त**, पृ- 77

54. गोविन्द चन्द्र पाण्डे, **इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त**, पृ-77

स्थापित करने का प्रयास किया है। कवि ने विक्रमादित्य को शिव का प्रियपात्र बनाया तथा यह कहा कि उसका बड़ा भाई सोमेश्वर दुष्ट शासक था अतः विक्रमादित्य ने ईश्वरीय आदेश तथा राज्य की सुरक्षा हेतु सोमेश्वर का वध किया। वस्तुतः इसे एक धार्मिक इतिहास लेखन का स्वरूप कहा जा सकता है जिसमें घटनाओं का निश्चयन दैवी नियति द्वारा होता है कर्मों द्वारा नहीं। चालुक्यों की उत्पत्ति में भी दैवी इच्छा थी उन्हें ब्रह्मा से उत्पन्न तथा मूलतः अयोध्या में शासन-रत कहा गया है। ब्रह्मा से उनकी उत्पत्ति संभवतः इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि ये मूलतः ब्राह्मण थे जिन्होंने बाद में क्षत्रिय वृत्ति धारण कर ली।[55]

कल्हण विरचित राजतरंगिणी एक शासनवंशीय इतिवृत्त है जिसे पूर्ववर्त्ती इतिवृत्तों, प्राचीन लेखों एवं राजकीय प्रलेखों के आधार पर लिखा गया है।[56] कल्हण विल्हण की अपेक्षा अधिक संतुलित इतिवृत्तकार है। वह प्रारम्भ से लेकर अपने समय तक का काश्मीर का वृहद् इतिहास लिखना चाहते थे। कल्हण ब्राह्मण थे तथा सम्भवतः भार्गव कुल की सारस्वत शाखा से संबद्ध थे। वे एक मन्त्री के पुत्र थे और इस प्रकार राजनीतिक मामलों तथा राजनीतिज्ञों के चरित्र से भली-भाँति परिचित थे। राजतंरगिणी किसी एक शासनवंश का इतिहास न होकर कश्मीर का सामान्य इतिहास है। उनका विवरण कश्मीर की उत्पत्ति से प्रारम्भ होता है जिसे पुराणों में उल्लिखित मनु वैवस्वत की परम्पराओं से जोड़ा गया है। कल्हण का विवरण विक्रमादित्य द्वितीय के समय से अधिक विश्वसनीय प्रतीत होने लगता

---

55. **इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त**, पृ-78

56. यू.एन. घोषाल, **स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर** कलकत्ता-1957, अध्याय-4 एवं 5

है। विक्रमादित्य ने मातृगुप्त को सिंहासन पर बिठाया था वस्तुतः मातृगुप्त के समय से ही कश्मीर का स्वतन्त्र इतिहास प्रारम्भ होता है, इसके पूर्व कश्मीर कुषाण साम्राज्य तथा उससे पहले मौर्य साम्राज्य का अंग था। मातृगुप्त तथा उसके उत्तराधिकारियों के विवरण के पश्चात कश्मीर पर हूण आधिपत्य का उल्लेख मिलता है।[57]

कल्हण ने अपने इतिहास-लेखन में अन्य स्रोतों-प्रलेखों, अभिलेखों, मुद्राओं, दानपत्रों तथा प्राचीन स्मारकों का समीक्षात्मक बुद्धि का व्यवहार करते हुये उपयोग किया। उसने इस आदर्श को स्थापित किया कि इतिहासकार को सर्वथा निष्पक्ष होना चाहिये। उन्होंने स्वयं कहा है कि केवल वही इतिहासकार प्रशंसा का पात्र है जो एक दण्डाधीश के समान पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त है।[58] वह न केवल ऐतिहासिक पात्रों का विस्तारपूर्ण निरूपण प्रस्तुत करता है, अपितु उनकी वैदेशिक नीतियों एवं प्रशासन इत्यादि की भी चर्चा करता है। ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में आधारहीन किवदन्तियों एवं कथाओं की उपेक्षा करते हुये वह एक समीक्षात्मक दृष्टि-सम्पन्न इतिहासकार के रूप में उपस्थित होता है।[59]

जयानक ने सपालदक्ष देश (उत्तरी राजस्थान) के शासक पृथ्वीराज तृतीय से सम्बद्ध एक काव्य 'पृथ्वीराजविजय' की रचना लगभग 1192 ई. में की। जयानक एक कश्मीरी ब्राह्मण थे और सम्भवतः भार्गव कुलोत्पन्न थे। उन्होंने पृथ्वीराज को राम का अवतार माना है और इस प्रकार उसे सूर्यवंश से सम्बद्ध करता है। पृथ्वी पर उसके अवतरण का प्रमुख प्रयोजन तुर्कों का विनाश था। जयानक ने

---

57. **इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त**, गोविन्द चन्द्र पाण्डे, पृ-80

58. कल्हण कृत **राजतरंगिणी**, एम.ए. स्टीन, दो भाग-1900, 1, 7

59. **राजतरंगिणी**, 1, 309-17, 7, 1991-95; 8.224-33

पृथ्वीराज के तुर्कों पर विजय (1191 ई.) का विवरण प्रस्तुत किया है, परन्तु यह निर्णयात्मक युद्ध नहीं था क्योंकि उसके बाद शीघ्र ही तुर्कों ने पुनः आक्रमण किया और युद्ध में पृथ्वीराज पराजित हुये। ऐसा प्रतीत होता है कि जयानक अपने अपूर्ण काव्य को लेकर कश्मीर चला गया जहाँ पन्द्रहवीं शताब्दी में जोनराज ने इस पर एक टीका लिखी। जयानक ने काव्य के कई सर्गों में चाहमानों के पूर्ववर्ती इतिहास का भी विवरण दिया है। मुख्य कथावस्तु यह है कि तुर्कों ने आक्रमण करके मन्दिरों व पूजा स्थलों का विध्वंस किया अतः ब्रह्मा ने विष्णु से अवतार लेने की प्रार्थना की। विष्णु ने प्रथम चाहमान को उत्पन्न किया जिससे चाहमान वंश उद्भूत हुआ। सातवीं शताब्दी से जयानक का इतिहास अधिक प्रामाणिक होने लगता है तथा अन्य स्रोतों एवं अभिलेखों से उसकी सूचनाओं का समर्थन होता है। संपूर्ण ग्रन्थ काव्यात्मक शैली में हैं जिसमें नायक संयोगिता के रूप में भाग्य देवी को प्राप्त करने का प्रयास करता है और सफल भी होता।[60] पृथ्वीराज विजय के अनुसार पृथ्वीराज सोमेश्वर और उसकी रानी कर्पूर देवी के पुत्र थे। कर्पूरदेवी चेदिदेश के राजा की कन्या थीं। पृथ्वीराज को बाल्यावस्था में सिंहासन मिला था और राज्य का संचालन उनकी माता कर्पूर देवी कदम्बवास नामक मन्त्री की सहायता से करती थीं। पृथ्वीराज विजय में उल्लिखित संवत् तथा घटनायें ऐतिहासिक खोज के अनुसार उचित प्रतीत होती है। इस प्रकार जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय प्रामाणिक और समसामयिक रचना प्रतीत होती है।

ऐतिहासिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक साहित्यिक कृतियों की रचना भी समय-समय पर की गई जिनसे तत्कालीन समाज की गतिविधियाँ उद्घाटित होती है। गुणाढ्य कृत 'वृहत्कथा' का उल्लेख अनेक लेखकों ने किया किन्तु यह मूल ग्रन्थ

---

60. **इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त**, पृ-82

अनुपलब्ध है। ग्यारहवीं शताब्दी में रचित क्षेमेन्द्र के 'वृहत्कथामंजरी', सोमदेव के 'कथासरित्सागर' तथा बुद्धस्वामी के 'वृहत्कथाश्लोक संग्रह' में वृहत्कथा ग्रन्थ की कहानियाँ संगृहीत हैं।[61] साथ ही सोड्ढल की 'उदयसुन्दरी-कथा' (ग्यारहवीं शताब्दी) धनपाल कृत 'तिलकमंजरी' (ग्यारहवीं शताब्दी), 'कथाकोषप्रकरण' (विक्रम संवत 1108), 'कथाकोष' (दसवी शती), सिद्धार्षि कृत 'उपमिति-भाव-प्रपंच-कथा' (906 ई.), 'समराइच्चकहा', 'कुवलयमाला कथा' इत्यादि अन्य कृतियाँ हैं जो पूर्वमध्यकालीन सामाजिक अध्ययन हेतु महत्वपूर्ण सूचनायें प्रदान करती हैं।[62] प्राकृत भाषा में रचित एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ गाथासप्तशती[63] है। प्राकृत के मुक्तक पद्यों के किसी संग्रह की प्रशंसा बाण ने भी की है।[64] इस समय जो कृति प्राप्त है उसमें 700 प्राकृत पद्य मिलते हैं। एक पद्य में कहा गया है कि कवि वत्सल हाल ने कोटि अलंकृत गाथाओं में से सात सौ को संगृहीत किया।[65] गाथासप्तशती के पद्य नीति, सुभाषित, लोकोक्तियों प्रकृति, गामवधूओं आदि से सम्बन्ध रखते हैं। गाथासप्तशती के अनेक पद्य परवर्ती रचनाओं में भी उद्धृत मिलते हैं।

---

61. हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पृ-61

62. **बी.एन.एस. यादव**, पृ-11-12

63. **गाथासप्तशती**-का सम्पादन प्रशस्त भूमिका के साथ वेबर ने किया था, लिपजिंग 1870, 1881

64. **हर्षचरित** प्रथम उच्छवास पद्य-13 में सातवाहन द्वारा सुभाषितों को एकत्र किये जाने का उल्लेख है।

65. **गाथासप्तशती** काव्यमाला संस्करण, बम्बई 1938, 1.3

सामाजिक इतिहास के निरूपण में धर्मशास्त्रीय निबन्धों का भी महत्व है। पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों में देवष्णभट्ट की स्मृतिचन्द्रिका[66], लक्ष्मीधर की कृत्यकल्पतरू[67] जीमूत वाहन कृत दाय भाग[68] माहवाचार्य की पाराशरमाधव[69] नामक कृतियाँ धर्मशास्त्र के इतिहास में अमर हैं। धर्मशास्त्रों के अध्ययन हेतु काणे कृत धर्मशास्त्र का इतिहास[70] एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। विभिन्न स्मृतियों, टीकाओं और भाष्यों का भी पूर्वमध्यकालीन सामाजिक इतिहास के निर्माण में अभूतपूर्व योगदान है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, कात्यायन आदि स्मृतियाँ प्राचीन हैं, जिन पर कालान्तर में टिप्पणियाँ लिखि गई – मनुस्मृति पर मेघातिथि[71] और कुल्लुकभट्ट[72] की टीकायें हैं। जो तत्कालीन जीवन के विविध पक्षों को प्रतिपादित करती है। विश्वरूप[73]

---

66. देवष्णभट्ट कृत **स्मृतिचन्द्रिका**, एल श्रीनिवासचार्य, मैसूर- 1914
67. लक्ष्मीधर कृत **कृत्यकल्पतरू** गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ोदा
68. जीमूतवाहन कृत **दायभाग**, सिद्धेश्वर प्रेस कलकत्ता-1893
69. माहवाचार्य कृत **पाराशरमाधव**, एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता
70. काणे कृत **धर्मशास्त्र का इतिहास** , 5 भाग, भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टूटीट्यूट, पूना
71. **मनु स्मृति** मेघातिथि की टीका सहित, कलकत्ता 1932
72. **मनु स्मृति** कुल्लूक भट्ट की टीका सहित, बम्बई-1946
73. **विश्वरूप**, याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, त्रिवेन्द्रम

विज्ञोनश्वर[74] और अपरार्क[75] ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य लिखे। स्मृतियों के समान ये टीकायें एवं भाष्य भी सामाजिक जीवन का विस्तृत विवेचन करते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी कृतियों का भी प्रयोग शोध में किया गया है जो अवलोकित काल के कुछ समय पूर्व की अथवा बाद की हैं। ज्योतिरीश्वर कृत 'वर्णरत्नाकर'[76], उत्तर बिहार के मिथिला साहित्य का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है परन्तु यह ग्रन्थ मूल रूप में अनुपलब्ध है। उसकी रचना सम्भवतः चौदहवीं शताब्दी ईस्वी के प्रथमार्द्ध में हुई होगी। विद्यापति ठाकुर (सन् 1350-1450) की "विद्यापति की पदावली"[77] तत्युगीन सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। 'ढोला मारू रा दुहा'[78] राजस्थान के ढोला और मारवाणी के प्रेम कथा सम्बन्धी गीतों का

---

74. **विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा**, याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य बम्बई-1905

75. **अपरार्क** याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना – 1903-4

76. ज्योतिरीश्वर कृत **वर्णरत्नाकर**, सम्पा. सुनील कुमार चटर्जी एवं बबुआ मिश्र रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता - 1940

77. विद्यापति ठाकुर कृत **विद्यापति की पदावली** सम्पा. रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी हिन्दी पुस्तक भंडार, लहेरियासराय तथा **विद्यापति की पदावली** सम्पा. बसन्त कुमार माथुर, भारतीय भाषा भवन, दिल्ली- 1952

78. **ढोला मारू रा दुहा** सम्पा. रामसिंह सूर्यकरण पारेश्व एवं नरोत्तम स्वामी, काशी संवत् 2011

संग्रह है। इस प्रसिद्ध कृति के लेखक का नाम अज्ञात है पर सम्भावना ऐसी है कि इसकी रचना ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य किसी समय हुई। यह कृति वास्तव में राजस्थान के समसामयिक जीवन के बारे में सूचनाओं का अनमोल संग्रह है। मौलाना दाउद दलमई एक सूफी कवि थे। वे अमीर खुसरो के समसामयिक थे। उनकी अत्युकृष्ट रुमानी रचना 'चन्दायन' है इस कृति से बिहार एवं उत्तर-प्रदेश के सामाजिक आर्थिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।[79] इसी प्रकार 'रास और रासान्वयी काव्य' अपभ्रंश एवं राजस्थानी कृतियों का संग्रह है और समीक्षाधीन अवधि के सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालता है।[80]

समकालीन अन्य ग्रन्थो में भोज कृत 'युक्तिकल्पतरु' (ग्यारहवीं शताब्दी) तथा समराङ्गणसूत्रधार जो कि वास्तुशास्त्र पर आधारित है, जानकारी के महत्वपूर्ण स्त्रोत हैं।[81] भुवनदेव कृत 'अपराजिपृच्छा' भी बारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है।[82] सोमेश्वर कृत 'मानसोल्लास' (ग्यारहवीं शताब्दी) समकालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालता है।[83] यादव प्रकाश कृत 'वैजयन्ती'[84] (ग्यारहवीं

---

79. **चन्दायन** डा. परमेश्वरी लाल गुप्त हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर-1964
80. **रास और रसान्वयी काव्य** सम्पादक डा. दशरथ ओझा एवं डा. दशरथ शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी संवत् 2016
81. भोज कृत **समराङ्गणसूत्रधार** गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ोदा-1924
82. भुवनदेव कृत **अपराजितपृच्छा,** गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज 1950
83. सोमेश्वर कृत **मानसोल्लास-** दोभाग गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज-1926
84. यादव प्रकाश कृत **वैजयन्ती** सम्पादक, गुस्ताव ओपर्ट, मद्रास 1893

शताब्दी) दामोदरगुप्त कृत 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण[85], 'लेखपद्धति'[86] इत्यादि इस युग से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। नीतियों पर आधारित ग्रन्थ शुक्रनीति एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है परन्तु इस ग्रन्थ की तिथि अत्यन्त विवादग्रस्त है। गुस्ताव ओपर्ट जिन्होंने इस ग्रन्थ का सम्पादन (मद्रास 1882) किया है इसे चतुर्थ शताब्दी ईसवी की रचना माना है।[87] वी.एस. अग्रवाल ने इसे गुप्त काल से सम्बन्धित माना है।[88] के.पी. जायसवाल[89] एवं अल्तेकर[90] ने इसे आठवी-शताब्दी में रचित कहा है। इस ग्रन्थ में तोप और बारुद के उल्लेखों के आधार पर कीथ[91] इसे उत्तरवर्ती मध्यकाल की रचना स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि कुछ विद्वानों[92] ने इसे उन्नीसवीं शताब्दी की रचना भी माना है। यद्यपि इस ग्रन्थ में किसी एक काल से सम्बन्धित जानकारी नहीं है तथापि इसमें पूर्वमध्यकाल से सम्बन्धित कुछ सामग्री अवश्य उपलब्ध होती है। विवेच्ययुग की एक प्रमुख विशेषता के रूप में तत्युगीन सामन्तवादी परिवेश

---

85. दामोदरपंडित कृत **उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण** भारतीय विद्या भवन बम्बई-1953

86. **लेखपद्धति**, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ोदा- 1925

87. **शुक्रनीति**, प्रस्तावना, पृ-VIII

88. वी.एस. अग्रवाल, **हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन**, पटना, 1953

89. बेनी प्रसाद, **स्टेट इन एन्शियेन्ट इंडिया**, इलाहाबाद-1928 पृ-486

90. ए.एस. अल्तेकर, **स्टेट एण्ड गर्वमेन्ट इन एन्शियेन्ट इंडिया**, बनारस-1949, पृ-12

91. **कीथ, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर**, आक्फोर्ड-1953, पृ-464

92. लल्लन जी गोपाल, **बुलेटिन ऑफ दि स्कूल ऑफ ओरिएण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज**, यूनिवर्सिटी ऑफ लन्दन, भाग-XXV, पृ-184, 193, 194

का उल्लेख किया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सामन्तीय परम्परा का वर्णन मिलता है, उदाहरणार्थ-सामन्त, महासामन्त, माण्डलिक[93] इत्यादि।

अवलोकित काल के विदेशी यात्रियों के विवरण उस काल के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के पक्षों की सूक्ष्म एवं मूल-प्राप्त सूचना प्रदान करते हैं। यद्यपि भारतीय परम्परा और आचार-विचार से अपरिचित होने के कारण कहीं-कहीं पर वे चिर-पारम्परिक रीतियों के आन्तरिक महत्व एवं उनके उद्देश्यों को पूर्ण रुपेण समझ नहीं पाए हैं। लेकिन फिर भी उनके विवरण ऐतिहासिक महत्व के हैं। भारत का अरब देशों से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध आठवीं सदी से प्रारम्भ हुआ। मुस्लिम लेखक और यात्री भारतीय विधाओं और विषयों को अनुदित करने लगे। इब्न-खुर्दाज्बा (नवीं सदी) नामक अरब लेखक ने भारतीय समाज और व्यापारिक मार्गों की चर्चा अपनी पुस्तक 'किताबुल मसालिक वल ममालिक' में की है। सुलेमान अरब प्रदेश का यात्री था, जिसने इराक से चीन तक की यात्रा की थी। उसने भारतीय सामाजिक आचार-विचार, रहन-सहन और रीति-रिवाज को 'सिलसिततुत्तवारीख' नामक कृति में विवृत किया है।[94] अल्बेरूनी नामक अरब यात्री ने भारतीय समाज, धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित 1030 ई. में 'तारिखुलहिन्द' या 'तहकीके हिन्द' नामक एक वृहत् ग्रन्थ की रचना की। वह गजन के शासक महमूद गजनी का दरबारी लेखक था। उसने इतिहास, ज्योतिष, धर्म आदि विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना की। उसकी पुस्तक में विभिन्न भारतीय वर्णों, जातियों, आश्रमों, संस्कारों, विवाहों, रीति-रिवाजों के अतिरिक्त हिन्दू धर्म, न्याय, भूगोल,

---

93. **शुक्रनीति** अनुवाद, बी.के. सरकार, इलाहाबाद-1914, पृ-188

94. जयशंकर मिश्र, **प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास**, पृ-10

ज्योतिष, गणित, रसायन आदि की भी विशदतापूर्वक चर्चा की गई है।[95] भारतीय वेद, वेदांग, पुराण छन्द, व्याकरण, ज्योतिष आदि विभिन्न विषयों के ग्रन्थों से वह परिचित था। अतः उसके ग्रन्थ से पूर्वमध्ययुगीन समाज का चित्रण होता है। इसके साथ ही इलियट एवं डाउसन[96] द्वारा संगृहीत विवरण भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था एवं धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। मार्को पोलो (तेरहवीं शताब्दी) के विवरण गुजरात एवं बंगाल की आर्थिक स्थिति से अवगत कराते हैं।[97] इब्न-बतूता के यात्रा विवरण[98] भी भारतीय समाज एवं सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों की सूचना प्रदान करने में सहायक हैं।

---

95. **अल्बेरूनीज इंडिया** दो भागों में, अनुवादक, एडवर्ड-सी. सचाऊ, नई दिल्ली-1964

96. इलियट एण्ड डाउसन, **दि हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज तोल्ड बाई इट्स ओन हिस्तोरियन्स** (आठ भागो में) लन्दन 1867

97. **दि ट्रैवल्स ऑफ मार्को पोलो**, सम्पादक-ई. डेनिसन रॉस तथा इलीन पावर, अनुवाद, प्रो. आल्डो रिसी, लन्दन-1931

98. **इब्नबतूताज ट्रैवल्स इन इण्डिया एण्ड अफ्रीका** एच.ए. आर. गिब, रौंटलेज एण्ड संस लिमिटेड, ब्राडवे हाउस, लन्दन-1929

आठवाँ अध्याय

उपसंहार

जैसा कि उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति के उद्‌भव एवं विकास में नारी न केवल केन्द्रीय भूमिका का निर्वाह करती है अपितु किसी भी राष्ट्र की संस्कृति का मुख्य मापदण्ड भी नारी की स्थिति ही रही है, क्योंकि वही सांस्कृतिक धरोहर की मूल-वाहिका मानी जाती है। समाजशास्त्रियों ने भी उचित ही कहा है कि समाजीकरण का पहला पाठ बच्चा अपनी माँ की गोद में ही पढ़ता है। प्राचीन काल में भी बावजूद अपनी पराधीनता के स्त्रियों के समाज में एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। प्राचीन हिन्दू व्यवहार-विधि सृष्टा मनु ने जहाँ एक ओर उनकी पराधीनता की ओर इंगित किया है वहीं पर समाज में उनकी केन्द्रीय भूमिका तथा बराबरी के दर्जे पर भी बल दिया है। मनु के अनुसार नारी-सम्मान के बिना न तो धार्मिक अनुष्ठानों का प्रतिफल प्राप्त होता है, और न ही उसे क्लान्त रखकर कुटुम्ब समृद्धि कर सकता है, अपितु वह घर जहाँ स्त्रियों की समुचित प्रतिष्ठा नहीं होती वह शाप का भागी होता है। मुस्लिम आगमन के साथ ही अवलोकित काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में कुछ परिवर्तन के चिन्ह परिलक्षित होने लगते हैं, यद्यपि कुरान के स्पष्ट निर्देशानुसार मुस्लिम समाज में भी स्त्री को एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। समभवतः स्त्रियों की दशा में अवनति के लिये उत्तरदायी तत्व राजनीतिक अस्थिरता एवं सामाजिक संकीर्णता ही मुख्य थे।

जहाँ तक वैदिक युग में नारी की स्थिति का प्रश्न है, उसका स्थान अपने घर में साम्राज्ञी के सदृश था जहाँ घर के अन्य सदस्यों को निर्देशित करने का भी उसे अधिकार प्राप्त था उसके बिना पुरुष अपूर्ण ही माना जाता था, वह भी पुरुषों के समान शिक्षा की अधिकारिणी थी। पुत्री को उपनयन, वेदाध्ययन तथा यज्ञ सम्पादन का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। वे भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई अपनी शिक्षा पूर्ण करती थी। वे दर्शन व तर्कशास्त्र में निपुण थी। उन्हीं में से अनेक विदुषी स्त्रियों ने ऋग्वेद की प्रसिद्ध ऋचाओं की रचना की। किन्तु उत्तरवैदिक काल में उन्हें यज्ञ के अधिकार से वंचित कर दिया गया किन्तु लालन-पालन तथा शिक्षा में उनकी कोई उपेक्षा नहीं की गई उन्हें उपनयन का भी अधिकार प्राप्त था तथा साधारणतया वे सोलह वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहकर शिक्षित होती थी, उन्हें स्वयं अपने लिये वर ढूँढने का अधिकार भी प्राप्त थे। सामाजिक-धार्मिक कृत्यों में पत्नी पति के समकक्ष मानी जाती थी। यज्ञ एवं धार्मिक अनुष्ठानों में उसकी उपस्थिति अपरिहार्य थी। यद्यपि यह स्थिति ब्राह्मण रचना काल में भी देखने को मिलती है किंतु इस काल में धार्मिक क्रिया विधि-विधानों की जटिलता के कारण धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न कराने का अधिकार पुरुष पुरोहितों को ही प्राप्त हो गया। इस प्रकार शनैः शनैः स्त्री का कार्यक्षेत्र सीमित होने लगा।

हिन्दू समाज में प्राचीन काल से बहुविवाह की प्रथा रही है, जिसके उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त होते हैं, किन्तु सम्पूर्ण वैदिक कालीन साहित्य से यह भी सुस्पष्ट है कि स्त्रियों को भी पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त था। इस काल में परदा प्रथा का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता, वे मुक्त रूप में सभा-समितियों, उत्सवों, मेलों में भाग लेने के लिये अधिकृत थीं, यही नहीं कभी-कभी वे अपने

सम्पत्ति विषयक अधिकार के लिये न्यायालय भी जाती थीं। वैदिक साहित्य में अविवाहित कन्या को पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी के रूप में उल्लिखित किया गया है। विवाह के अवसर पर पिता के घर से प्राप्त धन पर उसके पूर्ण अधिकार का संकेत 'स्त्रीधन' के सम्बोधन से प्राप्त होता है।

उपनिषदों के काल तक भी स्त्रियों को वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन तथा आध्यात्मिक विषयों पर विवाद का अधिकार प्राप्त था, सूत्र काल में भी कन्याओं का उपनयन किया जाता था तथा उनकी कुशलता के लिए प्रार्थना किये जाने के भी उल्लेख हमें मिलते हैं। बौद्ध युग में भी शिक्षित और विदुषी स्त्रियों के उल्लेख हैं। अध्यापन कार्य में संलग्न स्त्रियाँ उपाध्याया कहलाती थीं। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार गुणवती पुत्री पुत्र से श्रेष्ठ समझीं जाती थीं। नारी शिक्षा के अन्तर्गत आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। उन्हें ललित कलाओं में भी प्रशिक्षण दिये जाने के उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं। किन्तु कालांतर में उनकी स्थिति में अवनति दृष्टिगोचर होती है तथा परिवार में पुत्र ही आकर्षण का केन्द्र होने लगा। भगवत् गीता में तो स्त्री को शूद्र के समकक्ष माने जाने के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। पंचतंत्र में उसके जन्म को पिता के लिए चिन्ताओं का जन्म कहा गया है। तथापि अभिजात वर्ग की कन्याओं को गुप्तकाल में संगीत, नृत्य, चित्रकला, ललित कलाओं आदि में प्रशिक्षित किये जाने के उल्लेख मिलते हैं।

वास्तव में मनु का काल स्त्रियों की स्थिति के सन्दर्भ में वास्तविक संक्रमण का काल था। इस काल के उत्तरार्ध में अल्प आयु में ही कन्या के विवाह पर जोर दिया जाने लगा। दूसरी सदी ई. पू. तक कन्याओं का उपनयन

व्यवहारतः बन्द हो चुका था विवाह के अवसर पर उपनयन संस्कार भी सम्पन्न कर दिया जाता था। मनु के अनुसार चूँकि पति ही कन्या का आचार्य था और गृहस्थी के कार्य ही स्त्री के लिये दैनिक धार्मिक अनुष्ठान के सदृश थे, अतः विवाह के साथ ही उपनयन का संप्रक्तिकरण उचित ही था।

धर्मसूत्रकारों को हम स्त्रियों के प्रति प्रतिष्ठापूर्वक एवं न्यायोचित व्यवहार करने का परामर्श देते हुए पाते हैं इसी काल में स्त्रियोचित प्रायश्चित के प्रावधानों के निरन्तर उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा स्त्रियाँ अपने भूलों के प्रायश्चित सुलभता से कर सकती थीं। विवाह की आयु कम होने के कारण जब पति को आचार्य के समकक्ष मान लिया गया तभी से स्त्री को शारीरिक दण्ड एवं परित्याग का अधिकार भी उसे प्राप्त हो गया। समाज में नैतिकता बनाये रखने के आधार पर तीन सौ ईसा पूर्व के बाद के धर्मशास्त्रकारों ने नियोग प्रथा का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया और इसी के परिणामस्वरूप 600 ई.। के पश्चात् यह प्रथा पूर्णतः समाप्त हो गई। इसी काल से विधवा के पुनर्विवाह का भी विरोध प्रारम्भ हो गया और लगभग चार सौ ईस्वी से शनैः शनैः सती प्रथा लोकप्रिय होने लगी। इसी काल में मन्दिरों में देवदासियों को रखने की प्रथा का प्रचलन प्रारम्भ हो चुका था।

पॉच सौ ई. से लगभग नवीं शती तक स्त्रियों की स्थिति में निरन्तर ह्रास होने लगा। इस काल में पुत्र को परिवार के सुख का प्रतीक और पुत्री को उसके दुःख का मूल कहा गया। अल्पायु के विवाह के चलते स्त्री शिक्षा पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा अपितु स्त्रियों की शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्य अभिजात वर्ग तक ही सीमति रह गया। सती प्रथा भी उत्तर भारत के राजकीय घरानों तक

सीमित थी इस काल में गणिका आदर और प्रशंसा की पात्र थी, अतः वेश्यावृत्ति को सामाजिक अनुमति प्रदान की गयी। साथ ही इस युग में स्त्रियों के साम्पात्तिक अधिकारों में और अधिक वृद्धि होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

इस पृष्ठभूमि से आगे का अध्ययन, तुलनात्मक होते ही स्त्रियों की स्थिति के बदलते स्तर और उन्हें प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियों को परिलक्षित कर सकेगा, ऐसी आशा है। वैदिक कालीन समाज में पुत्री के जन्म पर दुखित होने का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। किन्तु पूर्वमध्यकाल के सामन्ती परिवेश में परिवर्तित हो रही राजनीतिक, एवं आर्थिक परिस्थितियों में पुत्री का जन्म परिवार के लिये कष्टदायक माना जाने लगा। पूर्वमध्यकालीन सामाजिक जीवन आडम्बरपूर्ण होता जा रहा था। विधवा-विवाह का निषेध था, बाल-विवाह एवं सती प्रथा जैसी प्रथायें दृढ़ हो रही थी। इस्लामी प्रभाव और स्त्रियों की सुरक्षा की आवश्यकता ने परदा-प्रथा जैसी प्रथाओं को जन्म दिया, परिणास्वरूप स्त्रियों पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाने लगे। साथ ही तत्युगीन युद्ध के वातावरण में पुत्र का जन्म निस्संदेह पुत्री जन्म से अधिक महत्वपूर्ण हो चुका था। बाह्य आक्रमणकारियों के सम्पर्क में आने के कारण, विलासिता की प्रवृत्ति बढ़ने के कारण तथा अन्य विशेष राजनीतिक परिस्थितियों में कन्या के अल्पवय विवाह का सर्वव्यापी प्रचलन पूर्वमध्ययुग में हो चुका था। एक और बड़ा परिवर्तन जो दसवीं शताब्दी ईस्वी में दिखने लगता है तथा जो स्त्रियों की बदलती परिस्थितियों का द्योतक है वह है परदा प्रथा का प्रचलन। वैदिक काल के सह शिक्षा के वातावरण में तो इसका प्रचलन कदापि सम्भव नहीं था। कालिदास के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि बड़ों के सम्मान के चलते प्रायः स्त्रियाँ उनके समक्ष जाकर अवगुंठन कर लेती थीं। दसवीं सदी के अरब लेखक अबूजैद के सन्दर्भ से यह पुष्ट होता है कि भारतीय

रानियाँ बिना किसी आवरण के राजसभा में उपस्थित होती थीं। मुस्लिम राज्यों की स्थापना तथा इन बाह्य आक्रमणकारियों से अपनी स्त्रियों को सुरक्षित रखने के चलते और साथ ही साथ मुस्लिम संस्कृति के प्रत्यक्ष प्रभाव स्वरूप भी परदा प्रथा शनैः शनैः समाज में स्वीकृत होकर अनिवार्य होने लगी। भारतीय कृषक एवं कामकाजी महिलाओं के सन्दर्भ में हमें परदे तथा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। स्त्रियों के आवरण वस्त्रों में दुपट्टे, चादर, ओढ़नी आदि के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। स्त्रियों के आवरण तथा सुरक्षा के कारण ही अभिजात वर्गों में स्त्रियों के आवागमन में पालकी, डोली, हिंडोला आदि का प्रयोग प्रारम्भ हुआ इसी प्रकार स्थापत्य में भी इसके प्रमाण प्राप्त होते हैं। जहाँ स्त्रियों के लिये एक पृथक भवन अथवा भवन के पृथक कक्ष में वास करने का सन्दर्भ प्राप्त होता है।

जहाँ तक विवाह का प्रश्न है आठों प्रकार के विवाह के उल्लेख के बावजूद भी गान्धर्व विवाह सिर्फ क्षत्रियों के लिये अनुज्ञात प्रतीत होता है। स्वयंवर के आयोजनों के उल्लेख हमें इस काल के साहित्य मे उपलब्ध हैं। जो इस काल में कन्या के वरान्वेषण स्वतन्त्रता के परिचायक हैं इस काल में कन्याओं के अपहरण के पश्चात् उनके साथ किये गये विवाह के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो राक्षस या गन्धर्व विवाह की कोटि में रखे जा सकते हैं। अल्पायु में विवाह के चलते विवाह संरक्षकों द्वारा निर्धारित होने पर अनेक प्रकार की सीमायें स्वाभाविक रूप से स्थापित हो गई। एक ही गोत्र, प्रवर और पिण्ड में विवाह करना वर्जित हो गया था हालाँकि इस काल के साहित्य में अन्तर्जातीय विवाह के उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं किन्तु अनुलोम विवाह के साथ ही इस प्रकार के विवाह बहुत ही सीमित होने लगे थे, इसीलिये उनके इतने कम उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं। अलबेरूनी ने सम्भवतः पूर्व मध्ययुगीन स्मृतिकार देवल के आधार पर यह कहा है कि किसी

भी व्यक्ति की पत्नियों की संख्या उसकी जाति पर निर्भर करती थी देवल के अनुसार शूद्र एक वैश्य, दो क्षत्रिय, तीन, ब्राह्मण चार और राजा को यथेच्छ विवाह करने की अनुमति प्राप्त है किन्तु बहुविवाह प्रथा समृद्ध लोगों में ही प्रचलित थी जो एकाधिक पत्नियों को रखने में समर्थ थे। बहुविवाह प्रथा के चलते पारिवारिक, सामाजिक जीवन के तनावों और जटिलताओं का वर्णन समकालीन साहित्य में पर्याप्त रूप में हमें प्राप्त होता है। प्रारम्भ में विवाह के साथ-साथ दहेज दान स्वरूप प्रदान किया जाता था किन्तु पूर्वमध्ययुगीन सामन्ती परिवेश के कारण दहेज लेना व देना विवाह, सूत्र में बँध रहे दो परिवारों के सामाजिक स्तर के निरूपण का मानदण्ड बन गया अतः इस काल में दहेज प्रथा सर्वमान्य हो गई। विवेच्ययुगीन साहित्य के सन्दर्भों से इसके दो स्वरूपों की जानकारी प्राप्त होती है पहले को 'श्रीफल', 'पान', अथवा 'तिलक' के नाम से जाना जाता था तथा दूसरे को 'जौतुक' अथवा 'दहेज' कहा जाता था। दहेज के अन्तर्गत बहुमूल्य रत्न, आभूषण, स्थावर सम्पत्ति, घोड़े, हाथी, रथ, अनुचर, उपचारिकायें, विलास एवं जीवन की आवश्यकताओं की सामग्रियाँ सम्मिलित होती थीं।

ईसा के पूर्व भारतीय समाज में विशेष एवं सुस्पष्ट परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद की भी व्यवस्था थी। इसी प्रकार मुस्लिम कानून एवं रिवाज के अनुसार विशेष सीमाओं सहित विशेष परिस्थितियों में विवाह विच्छेद का प्रावधान था किन्तु पूर्व मध्ययुगीन समाज में सामाजिक रूढ़िवादिता के चलते धर्मशास्त्रकारों द्वारा विवाह को एक पवित्र संस्कार घोषित करके विवाह-विच्छेद की सम्भावनाओं को समाप्त कर दिया गया। अतः अल्बेरूनी ने सत्य ही लिखा है कि ''पति-पत्नी का सम्बन्ध विच्छेद केवल मृत्यु द्वारा ही होता था क्योंकि उनमें विवाह विच्छेद की प्रथा नहीं थी''।

स्त्रियों में भी माता का स्थान बिल्कुल प्रारम्भिक काल से सर्वोच्च ही माना गया। पूर्व मध्यकाल में भी परिवार में उनका सम्मान और आदर मर्यादायुक्त और आदर्शात्मक था। पिता की तुलना में सन्तान को जन्म देने के कारण पूर्व मध्ययुगीन समाज में माता की महिमा अधिक सुस्थापित थी और उसके लिये यहाँ तक उल्लेख प्राप्त होता है यदि माता विष भी दे तो उसका साथ नहीं छोड़ना चाहिये। युद्ध और वीरता के माहौल में वीर प्रसविनी होने के कारण भी माता का स्थान परिवार में पिता से श्रेष्ठ माना जाता था। विवेच्ययुगीन साहित्यकारों द्वारा यह स्पष्टतः स्वीकार किया गया है कि प्रसूति की वेदना तथा शिशु के लालन पालन में होने वाले कष्ट एवं बलिदानों के ऋण सन्तान नहीं चुकी सकती अतः परिवार एवं समाज में माता का स्थान निस्सन्देह सर्वोच्च है। सास के रूप में भी उनकी स्थिति कमोवेश वैसे ही समस्त अधिकारों वाली थी। माता के पश्चात् स्त्री की स्थिति को समझने के लिये पत्नी के रूप में उसकी भूमिका और समाज में उसके स्थान का अध्ययन भी आवश्यक है। इस काल में पत्नी को घर की मर्यादा, धर्म अर्थ और काम की संचालिका माना जाता था। पत्नी पुरुष की जीवन संगिनी होती थी अतः हमें प्रत्येक प्रकार पति की सेवा करना उसका धर्म था। समकालीन साहित्य में धर्मपरायण पत्नियों को प्रशंसित करके उनकी तुलना देवियों तक से की गई है। विभिन्न प्रकार के राजकीय धार्मिक उत्सव, त्योहार तथा दान में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। पत्नी के अधिकार राज्य द्वारा भी संरक्षित थे पति के अत्याचार से बचने के लिये वह राज्य से प्रार्थना कर सकती थी, दूसरी तरफ पत्नी के भरण-पोषण का पूर्ण उत्तरदायित्व पति पर था, साथ ही परित्यक्ता पत्नी के रहने और भोजन का प्रबन्ध भी पति को ही करना पड़ता था और यदि पति पतिव्रता पत्नी को अकारण ही छोड़ दे तो राज्य की

ओर से दण्ड का भी प्रावधान था। यदि पति की मृत्यु बिना पुत्र के ही हो जाये तो पत्नी पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी होती थी और यदि पत्नी भी जीवित न हो तो पुत्री पिता की समस्त सम्पत्ति प्राप्त करती थी।

इसी प्रकार पूर्वमध्ययुगीन समाज में विधवा स्त्री को स्थिति के अध्ययन से इस काल की नारियों की सामान्य स्थिति का बोध हो सकता है। हिन्दू समाज में नारी के लिये पति की मृत्यु के बाद दो प्रमुख कर्त्तव्य निर्देशित थे। जिनमें से किसी एक का अनुसरण करना विधवा स्त्री के लिये वांछनीय था। एक तो पति के साथ सहमरण तथा अनुमरण करना, (सती होना) और दूसरा ब्रह्मचर्य का अनुपालन करते हेए शेष जीवन व्यतीत करना। अवलोकित काल के धर्मशास्त्रकारों ने विधवा के रूप में नारी के लिये अनेक कठोर सामाजिक प्रतिबन्ध, कठोर नियम व व्रत निर्दिष्ट कर दिये थे। यही नहीं संयम और प्रतिबन्ध के जीवन का सफलतापूर्वक निर्वहन न कर सकने पर राजा विधवा स्त्री को उसके घर से निकाल भी सकता था। मंगल उत्सवों पर उपस्थित होने का उसे अधिकार नहीं था। इस काल में नियोग प्रथा न केवल समाप्त हो गई, अपितु उसे पशुधर्म कहकर सम्बोधित किया गया। अतः इस युग में विधवा स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं प्राप्त था, यहाँ तक कि बाल-विधवा के पुनर्विवाह का भी विरोध किया जाने लगा और वे भी कठोर सामाजिक नियमों का पालन करती हुई प्रतिबन्धित जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य थी। इस काल में विधवा का सम्पत्ति विषयक अधिकार स्वीकार किया गया। पूर्वमध्यकाल में विधवाओं के साम्पत्तिक अधिकारों में कुछ और वृद्धि होती दिखाई देती है जब उसे निःसन्तान, मृत और विभक्त परिवार के पुरुष के सम्पूर्ण धन को प्राप्त करने का अधिकार दिया गया किन्तु इस काल के साहित्य के अनुशीलन से यह भी स्पष्ट होता है कि विधवा स्त्री का यह साम्पत्तिक अधिकार मात्र उक्त सम्पत्ति के भोग तक ही सीमित था क्योंकि

अपनी इच्छा से पति की सम्पत्ति को बेचने या गिरवी रखने या दान देने का किसी प्रकार का अधिकार उसे प्राप्त नहीं था।

साहित्य एवं कला में किसी भी युग की नारी की वेशभूषा एवं आभूषण का जो वर्णन प्राप्त होता है उससे प्रत्येक वर्ग की नारी की सामाजिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। भारत में विभिन्न ऋतुओं के अनुसार ही वस्त्र धारण किये जाते थे। ग्रीष्म काल में स्त्रियाँ दुकूल से निर्मित हल्की साड़ी तथा बसंत ऋतु में केसरिया साड़ी व लाल कंचुक वस्त्र धारण करती थी। अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अनुरूप ही स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न वस्त्र धारण करती थी। कुलीनों और सम्पन्न स्त्रियों के वस्त्रों का स्तर सामान्य वर्ग की स्त्रियों के वस्त्रों के स्तर से भिन्न हुआ करता था। अभिजात वर्ग की महिलायें विभिन्न आकार-प्रकार के रंग-बिरंगे, कढ़े हुए, सुन्दर वस्त्र धारण करती थीं। विवेच्युगीन साहित्य में बल्क, फाल, कौशेय, रांकव आदि वस्त्रों के प्रकार भी उल्लिखित है। साथ ही विभिन्न राज्यों में निर्मित कुछ विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख भी साहित्य में उपलब्ध है जैसे दुकूल पुण्ड्रदेश अर्थात् बंगाल से बनकर आता था। साड़ी, अंगिया (कंचुकी) और लहंगा नामक वस्त्र तत्ययुगीन स्त्रियों में विशेष लोकप्रिय थे। भारत के विभिन्न प्रदेशों में पहनी जाने वाली साड़ी के विभिन्न रूपों का वर्णन भी इस युग के साहित्यिक ग्रन्थों में मिलता है। फुँदिया, कसनिया, हटांगी, चोली, इत्यादि शरीर के ऊपरी भाग में धारण किये जाने वाले भारतीय स्त्रियों के प्रचलित परिधान थे। इस युग में लहँगा तथा घाघरा स्त्रियों के अत्यन्त लोकप्रिय था, घाघरा विशेषतः मुस्लिम स्त्रियों में अधिक प्रचलित था। आवरण वस्त्र के रूप में उत्तरीय आधुनिक ओढ़नी की ही भाँति प्रयुक्त होता था, और महिलाओं की वेशभूषा का अनिवार्य अंग बन चुका था। उच्च वर्गीय स्त्रियाँ घर से बाहर जाते समय ओढ़नी, चुनरी या दुपट्टे का प्रयोग अवश्य करती थी। विवेच्ययुग में परदा प्रथा का पालन

सम्पन्न मुस्लिम महिलाओं में दृढ़ता से होता था तथा उत्तर भारत की अभिजात वर्ग की महिलाओं में एक संयतमार्गी, आंशिक परदे का प्रचलन था इसे घूँघट कहा जाता था इसमें केवल मुख को छिपाया जाता था। पूर्वमध्यकालीन साहित्य में पैरों में चमाऊ अथवा जूते धारण करने का उल्लेख मिलता है, अतः यह धारणा गलत सिद्ध होती है कि जूतों का प्रचलन इस युग में नहीं था।

अपने सौन्दर्य में वृद्धि हेतु स्त्रियाँ अनेक प्रकार के आभूषण धारण करती थीं। सिर से पाँव तक शरीर के प्रत्येक अंग को आभूषणों से सुसज्जित करना हिन्दू स्त्रियों की सामान्य दुर्बलता थी। बाल्यावस्था से ही भारतीय स्त्रियाँ आभूषण पहनने की अभ्यस्त होती थीं, अत्यन्त कम आयु में ही उनके कान छेद दिये जाते थे। रत्नों में मणि, मरकत, पद्मराग, लोहितक, मुक्ता, प्रवाल, पुष्पराग, वैदूर्य, महानील, वज्र (हीरा) स्फटिक, सूर्यकान्त तथा चन्द्रकान्त का उल्लेख समकालीन साहित्य में यत्र-तत्र मिलता है। शीश पर धारण किये जाने वाले आभूषणों में किरीट, मौलि, पट्ट, मुकुट, और कोटीर आदि इस युग में विशेष प्रचलित थे। शीशफूल और शीशभूषण नामक अलंकार माँग की सौन्दर्य वृद्धि धारण किये जाते थे। इसके अतिरिक्त मस्तक पर गुम्बज के आकार का गहना 'बोर' भी पहना जाता था। मस्तक पर बिन्दी तथा टिकुली लगाई जाती थी तथा राजपूत स्त्रियाँ भौहों की सौन्दर्य वृद्धि हेतु एक विशेष प्रकार का आभूषण 'सोहाली' भी धारण करती थी। कानों में धारण किये जाने वाले कर्ण-आभूषणों में कर्णफूल सर्वाधिक लोकप्रिय था, इसके अतिरिक्त तलवट्टी, बाली, झुमका, ताटंक, खूँट, कुण्डल इत्यादि चिरपरिचित कर्ण-आभूषणों का उल्लेख साहित्य में प्राप्त होता है। अवलोकित काल की स्त्रियाँ नाक को भी विविध प्रकार के कलात्मक आभूषणों से अलंकृत करती थीं। नकफूली, बेसर, बेसनी, बुलाक, नकमोती, नथ, तिलफूल, चंद्रगुन, गजमोती

इत्यादि नाक में धारण करने वाले अलंकारों का उल्लेख तत्युगीन साहित्य में मिलता है। पूर्वमध्ययुगीन महिलाओं द्वारा नाक में धारण किये जाने वाले आभूषणों के सन्दर्भ में यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि नाक के आभूषण यथा 'नथ' या 'नथुनी' तथा अन्य नाक के आभूषण मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव के परिणामस्वरूप ईस्वी सन् एक हजार में अथवा इसी तिथि के आसपास भारतीय जीवन व संस्कृति में प्रचलित हुये। पूर्वकालीन संस्कृत साहित्य एवं शब्दकोशों में नथ का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय सभ्यता का संस्कृत साहित्य इस आभूषण से परिचित नहीं था। विभिन्न प्रकार के ग्रीवाभूषणों का प्रयोग पूर्व मध्ययुगीन स्त्रियों द्वारा अत्यन्त चाव से किया जाता था। कण्ठ के आभूषणों में एकावली, कोष्ठिकाहार, हारयष्टि, मौक्तिकदाम आदि विशिष्ट अलंकार थे। गले में धारण किये जाने वाले अन्य आभूषणों में सिकड़ी, हार, मोहनमाला, हँसली, कण्ठी, मुक्तहार, गल्पोति तथा विद्रूम माला का उल्लेख भी प्रायः समकालीन साहित्य में मिलता है। वस्तुतः ग्रीवाभूषण सभी अलंकारों में प्रधान था। अवलोकित काल की स्त्रियाँ अपनी भुजाओं व हाथों को अलंकृत करने हेतु विभिन्न प्रकार के हस्त-अलंकारों का प्रयोग करती थीं जिनमें भुजबन्ध, कलाई में चूड़ियाँ, वलय, हस्तफूल और ऊँगलियों मे विभिन्न प्रकार की अंगूठियों आदि का विवरण विवेच्ययुगीन साहित्य में उपलब्ध होता है। भुजबन्ध को इस युग के साहित्य में केयूर की संज्ञा प्रदान की गई है। सलोनी नामक एक अन्य हस्त अलंकार का भी उल्लेख मिलता है। साहित्य के वर्णनानुसार सलोनी टाड बाजूबन्द के समान स्त्रियों की बाहुओं को अलंकृत करने वाला आभूषण था। बाहुओं के अन्य आभूषणों में बाहुती, बरया अथवा वलया, अंगद तथा बाहुरखा अथवा बोरखा उल्लेखनीय है। कलाई को सुशोभित करने वाले विविध अलंकारों में कंकण, हथपूर, चूड़े, चूड़ी तथा वलय का उल्लेख मिलता है। हथपूर से तात्पर्य पाँच जंजारों वाले उस वलय

से है जो करमूल पर पहना जाता था। इसकी प्रत्येक जंजीर अंगूठियों के साथ बँधी होती है। पूर्वमध्ययुग में दसों ऊँगलियों में अँगूठी धारण करना वैभव व सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता था। अंगुली के अन्य अलंकारों में उर्मिला, अंगुलीयक, आरसी, विति, अंगुरी आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। स्त्रियों में कटि-प्रदेश को अलंकृत करने वाले आभूषणों के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। काँची, मेखला, रशना आदि प्रमुख कीट-आभूषणों के साथ ही छुद्रघंटी, किनकिनी एवं घर्घरमालिका जैसे अलंकारों का वर्णन भी अवलोकित काल के साहित्य में उपलब्ध है। पदाभूषणों में पाजेब, पायल, नूपुर, झांझर, घुँघरू आदि स्त्रियों के अत्यन्त प्रचलित चरणाभूषण थे।

पूर्वमध्यकालीन साहित्य में झंकार करने वाली पायल को पादहँसिका भी कहा गया है। चूड़ा पिण्डलियों पर धारण किया जाता था इसे पादचूड़ भी कहा जाता था। अनबट तथा बिछुआ विवाहित महिलाओं के अत्यन्त लोकप्रिय आभूषण थे। इनके अतिरिक्त मंजीर, हिंजीरक, तुलाकोटि और हंसक आदि अलंकारों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार विवेच्ययुगीन स्त्रियाँ प्रायः सिर से पाँव तक कलात्मक आभूषण पहनती थीं। श्रंगार एवं सौन्दर्य प्रतीक होने के साथ ही विभिन्न आभूषण हिन्दू स्त्री के लिये सौभाग्य एवं सुहाग के द्योतक भी माने जाते रहे हैं, निस्संदेह दुर्भाग्यवश यदि वह विधवा हो जाती तभी अपने अलंकारों का परित्याग करती है।

सौन्दर्य तथा शारीरिक लावण्य में वृद्धि हेतु स्त्रियाँ विभिन्न प्रसाधनों का प्रयोग सदैव से करती रही हैं। कालान्तर में प्रसाधन एक कला बन गई और प्रसाधन कला में दक्ष स्त्री को सैरन्ध्री कहा जाता था। विवेच्ययुगीन स्त्रियाँ

सोलह श्रृंगार से भली-भाँति परिचित थीं। षोडश श्रृंगार में मज्जन, स्नान, वस्त्र, पत्रावली रचना, सिन्दूर, तिलक, कुण्डल, अञ्जन, ओष्ठ-सिंगार, कुसुमगंध, कपोल पर तिल लगाना, गले में हार पहनना, कंचुकी पहनना, कमर में छुद्रघंटिका पहनना, तथा पैरों में पायल पहनना की गणना होती थी। स्वयं को आकर्षक बनाने के निमित्त स्त्रियाँ गोरोचन, कुंकुम, सुगन्धित कस्तूरी विलेपनों तथा चंदन लेप का प्रयोग करती थी। श्रृंगार-सज्जा से पूर्व सुगन्धित पदार्थ जैसे मृगमद व कर्पूर आदि से जल को सुवासित कर स्नान किया जाता था। अभिजात वर्ग की स्त्रियाँ शरीर को धूपों से सुवासित करतीं तथा सुगन्धियों का प्रयोग करती थीं। केशों के सुरुचिपूर्ण विन्यास द्वारा सौन्दर्य में वृद्धि करना स्त्रियों को सदैव से प्रिय रहा है। केश-विन्यास की कला में तत्युगीन स्त्रियाँ पर्याप्त निपुण थीं। धनिक वर्ग की स्त्रियों के केश दासियाँ प्रसाधित करती थीं, इन दासियों को केशकारिणी कहा जाता था। केशों को विभिन्न प्रकार के सुगन्धित तेलों से सुवासित कर, कलात्मक ढंग से गूँथकर स्त्रियाँ अपनी केशराशि की वेणियाँ बनाती थीं। केशों को पुष्पों से सुशोभित किया जाता था साथ ही केशों को स्वर्ण तथा चाँदी से निर्मित चन्द्रिकाओं से भी अलंकृत किया जाता था। हिन्दू विवाहित स्त्रियों में माँग में सिन्दूर भरना अत्यन्त शुभ माना जाता है अतः स्त्रियाँ अपनी माँग सिन्दूर एवं मोतियों से अलंकृत करती थीं। मस्तक पर तिलक-रचना नारी श्रृंगार का एक प्रमुख अंग है, जो शोभा एवं मंगल के साथ सौभाग्य एवं सुहाग का भी प्रतीक है। बिन्दी अथवा तिलक कस्तूरी, चंदन एवं कुंकुम आदि से अंकित किया जाता था। समकालीन साहित्य में चन्दन, गोरोचन, कस्तूरी और घनसार द्वारा कपोल चित्र चित्रित करने का भी उल्लेख मिलता है। स्त्रियाँ अपनी सौन्दर्य वृद्धि हेतु नेत्रों एवं भौहों में शलाका द्वारा सुरमा और अंजन अथवा काजल लगाया करती थीं। अपने दाँतों एवं ओष्ठ को रंगने के लिए सम्पन्न स्त्रियाँ पान

का सेवन करती थीं। साथ ही मोम और अलक्तक के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है। तांबूल का डिब्बा रखने वाली दासियों को ताम्बूलकरंकवाहिनी कहा जाता था। स्त्रियाँ हाथ-पाँव को रंजित करने के लिए मेहंदी का प्रयोग करती थीं। पैरों एवं एड़ियों के श्रृंगार हेतु जावक, महावर तथा आलता आदि द्रव्यों का प्रयोग करने का प्रचलन था। दर्पण स्त्रियों के श्रृंगार विधि का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग था। मूर्तिकला में स्त्रियों को बायें हाथ में दर्पण लेकर दाहिने हाथ से श्रृंगार करने में व्यस्त अंकित किया गया है। पुष्प अपनी कोमलता, सुगंध एवं सुन्दरता के कारण सदैव से आकर्षित करते रहे हैं स्त्रियाँ विविध प्रकार के पुष्प आभूषणों द्वारा स्वयं को अलंकृत करती थी। सम्भवतः उच्च वर्ग की स्त्रियों के आभूषण बहुमूल्य धातु स्वर्ण मुक्ता-मणियों आदि से निर्मित किये जाते थे और सामान्य वर्ग की स्त्रियाँ पुष्पों के द्वारा निर्मित विभिन्न कलात्मक आभूषणों को पहन कर अपने सौन्दर्य को द्विगुणित करने का प्रयास करती थीं। पूर्वमध्ययुगीन साहित्यिक रचनाओं में गणिकाओं की श्रृंगार-विधियों का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार विवेचन से यह स्पष्ट है कि तत्युगीन स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के वस्त्र, आभूषण, श्रृंगार एवं प्रसाधनों के प्रयोग द्वारा अपने प्राकृतिक सौन्दर्य को द्विगुणित करने का प्रयास करती थी।

किसी भी समाज के अध्ययन के लिए, उसके संस्कारों का अध्ययन भीअनिवार्य होता है, क्योंकि संस्कारों से समाज की आस्था का भान होता है। हिन्दू समाज में संस्कारों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है जिनके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन को उन्नत, परिष्कृत एवं सुसंस्कृत बनाता है। संस्कारों के क्रमिक रूप जन्म से पहले ही प्रारम्भ होकर मनुष्य की मृत्यु तक निरन्तर बने रहते हैं। संस्कारों की संख्या के विषय में यद्यपि धर्मशास्त्रकार एकमत नहीं है तथापि अधिकांश व्यवस्थाकार संस्कारों की संख्या, सोलह मानते हैं – गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन,

जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूणाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह एवं अंत्येष्टि। वस्तुतः समाज में जितने संस्कारों का पालन किया गया वे ही अधिक प्रचलित हुये, अतः संस्कारों की संख्या उनकी मान्यता पर ही निर्भर थी। गर्भाधान हिन्दू संस्कृति में सम्पन्न होने वाला प्रथम संस्कार है विवाहोपरान्त स्त्री का गर्भवती होना ही गर्भाधान है। बारहवीं शती तक साहित्य में इस संस्कार को सम्पन्न होने का उल्लेख है अलबेरुनी ने भी इस संस्कार का विस्तृत वर्णन किया है। कालान्तर में इस संस्कार का प्रचलन मन्द हो गया और अन्त में समाप्त हो गया। पुत्रसन्तानोत्पत्ती के निमित्त पुंसवन नामक संस्कार का आरोपण होता था। पूर्णमध्ययुगीन साहित्य में इस संस्कार के उल्लेख प्राप्य है। इसी प्रकार सीमन्तोन्नयन नामक संस्कार का मूल उद्देश्य यह था कि स्त्री स्वस्थ एवं प्रसन्न रहकर वीर पुत्रों को जन्म दे। पुत्र जन्म के समय एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कार जातकर्म सम्पन्न होता था, जिससे कि अनिष्टकारी शक्तियों का नवजात शिशु पर कोई प्रभाव न पड़े। अल्बेरूनी ने जातकर्म को तीसरा यज्ञ कहा है। सन्तान को नाम प्रदान करना भी एक संस्कार माना गया जिसे नामकरण संस्कार कहा गया । वस्तुतः व्यवस्थाकारों द्वारा निर्धारित सोलह प्रमुख अनुष्ठानों में से कुछ संस्कारों का ही पालन व्यवहार में होता है और वे ही समाज में प्रचलित रहे वैदिक युगीन बालिकाओं की शिक्षा का प्रारम्भ जिस उपनयन संस्कार द्वारा होता था कालान्तर में स्मृतिकारों ने उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा कन्या के विवाह को ही उसका उपनयन संस्कार घोषित कर दिया। अतः इस युग से ही कन्या के समस्त संस्कार लुप्त हो गये केवल विवाह संस्कार ही शेष रह गया। विवाह हिन्दू समाज का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक, धार्मिक संस्कार है। समाज की सत्ता, संरक्षण एवं वृद्धि इसी पर निर्भर है। गृह-यज्ञ विवाह संस्कार की सम्पन्नता से ही प्रारम्भ होता है।

अतः विवाह समस्त संस्कारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और गौरवशाली माना जाता है। विवाह के अन्तर्गत वर-वधू की विभिन्न योग्यतायें और गुण, गोत्र और वर्ण आदि का विचार किया जाता था। विवाह-क्रिया की सम्पन्नता के समय वाग्दान, वर-वरण, कन्यादान, विवाह होम, पाणिग्रहण, चतुर्थी कर्म आदि का विधान था। विवाह संस्कार से सम्बन्धित आचार और विधियाँ समय के साथ विभिन्न रीति-रिवाजों को अपने में समाहित करके लोक-प्रतिष्ठित हुई। धर्म के अनुपालन, याज्ञिक कार्य, सन्तानोत्पत्ति, वंशोत्थान, गार्हस्थ्य तथा पितरों के लिए पिण्डदान आदि के निमित्त विवाह आवश्यक माना गया है। मनुष्य के जीवन का अन्तिम संस्कार अत्यंष्टि संस्कार था, जिसे हिन्दू धर्म में पर्याप्त महत्व प्रदान किया गया था अवलोकित काल के साहित्य से यह आभासित होता है कि सती नारी और शौर्यपूर्ण पुरुष के देहावसान पर मंगल कार्य करना अभीष्ट माना जाता था। हिन्दू महिलाओं को मृत्यु पश्चात् चिता पर जलाने की प्रथा थी तथा उनका भी अंत्येष्टि संस्कार किया जाता था। विधवा स्त्री का सती होना, अर्थात् पति की मृत्यु के पश्चात् पति की चिता पर जलकर भस्म हो जाना, यह प्रथा ऐतिहासिक युग में प्रारम्भ हुई एवं पूर्वमध्यकाल के आगमन तक इस प्रथा ने समाज में अपनी जड़ें अत्यन्त दृढ़ कर ली थी। यथार्थ में सती प्रथा इस युग में वैधव्य दुःख से त्राण पाने का साधन बन चुका था। नियोग प्रथा का समाज से विलोप होने तथा पातिव्रत्य की उदात्त कल्पना के कारण विधवा स्त्री के लिये 'सती' जैसी क्रूर प्रथा का जन्म हुआ। कुछ स्मृतिकारों ने इस धारणा का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया कि जो विधवा स्त्री अपने पति की चिता पर भस्म हो जाती है वह स्वर्ग में अनन्त सुख प्राप्त करती है। यह भी विश्वास दिलाया जाने लगा कि सती होने के पश्चात् पत्नी का पति से पुनर्मिलन होता है। विवेच्ययुगीन समाज में जो विधवा स्त्री अपने पति के साथ सती नहीं होती थी

उसे परिवार एवं समाज में तिरस्कृत माना जाता था। सती होने के दो रूप होते थे। पहला सहगमन या अन्वारोहण तथा दूसरा-अनुमरण। पति की मृत्यु पर पति के शव के साथ जल जाने को सहगमन कहा गया है तथा अनुमरण उसे कहा गया है जब पति की मृत्यु की किसी अन्य स्थान पर होने पर उसकी भस्म, पगड़ी या पादुका लेकर पत्नी अग्नि में प्रवेश कर प्राणों का उत्सर्ग करती है। सती होने के पूर्व स्त्री के सम्मान में विविध प्रकार के विधि-विधान तथा प्रयोजन सम्पन्न होते थे जिससे वह इस लोक को त्यागकर पुनः अपने पति से पुनर्मिलन कर सके तथा उसे पति-वियोग न सहना पड़े। सती प्रथा के भाँति ही भयानक परन्तु इससे अधिक आहत एक और प्रथा तत्युगीन समाज में प्रचलित थी जिसे जौहर कहा जाता था। यह प्रथा मुख्यतः वीर राजपूत घरानों में ही अधिक प्रचलित थी। ये राजपूत सरदार जब युद्ध में अपनी पराजय को सम्मुख प्रस्तुत देखते थे तो सामान्यतः अपनी महिलाओं को भूमिस्थ घेरे के अन्दर बन्दकर उसमें आग लगा देते थे और तब वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए मृत्यु का आलिंगन करने हेतु आगे बढ़ते थे।

आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भरता प्राप्त करने हेतु पूर्व मध्ययुगीन स्त्रियाँ विभिन्न जीविका अपनाती थीं। गृहस्थ कार्यों के अतिरिक्त कृषि कार्य में सहायता, प्रदान करना, सिलाई करना, टोकरी बुनना, कढ़ाई करना इत्यादि ऐसे कार्य थे जिनके माध्यम से महिलायें अपने परिवार को कुछ आर्थिक सहायता प्रदान करती थी। इसके अतिरिक्त धनार्जन करने वाली स्त्रियों के अन्तर्गत गणिकायें. देवदासियाँ, वारांगनायें, सेवावृत्ति में संलग्न दासियाँ, ग्वालिन, नाऊन तथा वारवनिताओं का भी उल्लेख किया जा सकता है। समीक्षाधीन अवधि में समाज में गणिकाओं की संख्या बहुत अधिक थी। विशिष्ट अवसरों पर इन्हें मनोरंजन एवं नृत्य-गान हेतु आमन्त्रित किया जाता

था। उस काल की यह विशेषता थी कि गणिकाओं के व्यवसाय के हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था ये गणिकायें सौन्दर्य से परिपूर्ण एवं चौसठ कलाओं में निष्णात होती थीं। राजदरबारों में इनकी कला का सम्मान किया जाता था। अल्बेरूनी के अनुसार शासक वर्ग एवं अभिजात वर्ग ने इस प्रथा को विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया था, क्योंकि इस व्यवसाय से राज्य को कर के रूप में प्रचुर आय होती थी। ईश्वर की पूजा-आराधना उन्हें प्रसन्न रखने तथा देवमन्दिर को गुंजायमान रखने के लिये मन्दिरों में नर्तकियों का होना आवश्यक है इस विचारधारा ने पूर्व मध्ययुग तक आकर काफी जोर पकड़ लिया था, जिसके परिणामस्वरूप देवदासी वर्ग की उत्पत्ति हुई। इनके नृत्य के लिए मन्दिरों में नट-मण्डप निर्मित होने लगे। तत्युगीन प्रायः सभी विशाल मन्दिर देवदासियों से परिपूर्ण होते थे। यद्यपि हिन्दू समाज के सभी वर्गों ने देवदासी प्रथा को मान्यता नहीं प्रदान की थी, ब्राह्मण एवं सन्यासी वर्ग मन्दिरों में नर्तकियों को रखे जाने का कट्टर विरोधी था, किन्तु विरोधों के पश्चात् भी शासक वर्ग के प्रश्रय में यह प्रथा पूर्व मध्ययुग में अत्यन्त प्रचलित हुई। पूर्व मध्ययुगीन समाज में स्त्रियों का एक वर्ग ऐसा था, जिनका कार्य था उच्चवर्गों की परिचर्या करना। राजपरिवारों और धनिकों के वैभव वर्णन में सहस्रों दासियों का उल्लेख मिलता है। स्नान, वस्त्र, प्रसाधन, शय्या, आसन आदि कार्यों की पूरी जानकारी परिचारिकाओं को होती थी तथा केशविन्यास, माल्यग्रन्थन चन्दनविलेपन आदि अंगराज बनाना, इन समस्त कलाओं में वे निपुण होती थीं। सम्पत्ति के रूप में दासियों का आदान-प्रदान भी होता था। कन्या के दहेज में तथा शत्रुओं की हस्तगत सम्पत्ति में दासियाँ भी सम्मिलित होती थीं। दासियों को धात्री, परिचारिका, प्रेष्या, भुजिष्या, दूती आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने स्त्रियों के सम्पत्ति विषयक अधिकार की विस्तृत विवेचना

करते हुये उसके इस स्वत्व को स्वीकार किया है। पूर्वमध्ययुगीन व्यवस्थाकारों ने पुत्री के पक्ष में अपने विचार प्रस्तुत किये तथा कन्या को भी पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी स्वीकार किया। परन्तु अधिकांश धर्मशास्त्रकारों ने पुत्र के अभाव में ही पुत्री को परिवार की सम्पत्ति का अधिकारी माना है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत पति एवं पत्नी दोनों को पारिवारिक सम्पत्ति का संयुक्त स्वामी माना जाता था। पूर्वमध्ययुगीन व्यवस्थाकारों के अनुसार पत्नी के भरण-पोषण का पूर्ण उत्तरदायित्व पति पर था यहाँ तक कि परित्यक्ता पत्नी के प्रति भी पति का यह कर्त्तव्य था कि वह उसके भरण-पोषण का पूर्ण प्रबन्ध करे। यदि कोई पति अपनी पतिव्रता पत्नी को अकारण त्याग दे तो उसके लिये राज्य की ओर से दण्ड की व्यवस्था थी। समीक्षाधीन अवधि में स्त्री-धन की परिभाषा अत्यन्त व्यापक हो गई तथा इसका क्षेत्र और अधिक विस्तृत कर दिया गया। उत्तराधिकार में प्राप्त धन, खरीदी हुई सम्पत्ति, बँटवारे में प्राप्त सम्पत्ति, स्नेहियों से प्राप्त धन इत्यादि पर स्त्री का पूर्ण स्वत्व स्वीकार कर लिया गया। स्त्रीधन का दुरूपयोग करने वाले के लिये दण्ड का भी विधान स्थापित किया गया। पुत्री को माता के स्त्री धन का उत्तराधिकारिणी माना गया यदि पुत्री विवाहित हो तो उसे समान भाग प्रदान करने का निर्देश दिया गया। विवेच्ययुग में विधवा स्त्री के साम्पत्तिक अधिकारों में भी अधिक वृद्धि हुई, तथा पुत्र के अभाव में विभक्त परिवार के पुरुष के सम्पूर्ण धन को एक पतिव्रता विधवा स्त्री को प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया। यद्यपि इस युग में विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार तो प्राप्त हो गया परन्तु उसे अपने पतिकी सम्पत्ति को बेचने, गिरवी रखने या किसी को दाने देने का अधिकार नहीं दिया गया। भारतीय दण्ड व्यवस्था के अन्तर्गत विविध अपराधों से सम्बन्धित मुकदमों

के फैसले हेतु न्यायालयों की समुचित व्यवस्था थी। सामान्य नियम यह था कि स्त्रियों को मारा नहीं जाता था। वे अवध्य थीं। स्मृतिकारों ने पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर कम दण्ड की व्यवस्था भी की थी। एक ही प्रकार के अपराध में पुरुष की अपेक्षा स्त्री को आधा दण्ड दिया जाता था।

अवलोकित काल के साहित्य से यह आभासित होता है इस युग में स्त्रियों की स्वतंत्रता पर किंचित प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे किन्तु उसके आमोद-प्रमोद तथा मनोरंजन की पर्याप्त व्यवस्था थी। विभिन्न धार्मिक त्यौहारों, उत्सवों, उद्यान क्रीड़ा, झूला, नृत्य, संगीत तथा सामाजिक एवं धार्मिक परिचर्चा में स्त्रियाँ भाग लेती थीं। हिन्दुओं के धार्मिक त्यौहार प्रायः सभी महत्वपूर्ण ऋतुओं में सम्पन्न होते थे और महिलाओं एवं बच्चों द्वारा विशेष उल्लास से मनाये जाते थे। सबसे महत्वपूर्ण त्यौहारों के रूप में बसन्त पंचमी, होली, दीपावली, शिवरात्रि, एकादशी आदि का विस्तृत वर्णन इस युग के साहित्य में उपलब्ध होता है। विवाह, स्वयंवर एवं अन्य सुखद प्रसंगों पर उत्सवों का आयोजन होता था एवं स्त्रियाँ वस्त्र-आभूषणों से सुसज्जित होकर नृत्य गीतादि कार्यक्रमों में भाग लेती थी। साहित्य में वर्णित कन्दुक-क्रीड़ा, जल क्रीड़ा, दोलाकेलि, गुड़ियों का खेल, कथा कहानी एवं पशु-पक्षी विनोद इत्यादि, विवेच्ययुगीन स्त्रियों के मनोरंजन के अन्य लोकप्रिय माध्यम थे। चित्रकला, नृत्य एवं संगीत इत्यादि विभिन्न कलाओं में स्त्रियाँ पर्याप्त निपुण होती थीं। और ये स्त्री शिक्षा के अनिवार्य अंग बन चुके थे। नृत्यांगनाओं की उपस्थिति से पूर्व मध्ययुगीन राजदरबारों की शोभा में वृद्धि होती थी तथा संगीत एवं नृत्य कला को यथोचित सम्मान भी प्रदान किया जाता था। वैदिक युग में स्त्री शिक्षा

अत्यन्त संतोषजनक स्थिति में थी किन्तु पूर्वमध्ययुग तक आकर नारी शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध हो चुका था। परदा प्रथा, बाल-विवाह तथा अन्य सामाजिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों के बन्धनों के कारण स्त्री शिक्षा की प्रगति में अवरोध उपस्थित हुआ, परन्तु अभिजात वर्ग की महिलायें घर पर ही निजी शिक्षकों द्वारा शिक्षा प्राप्त करती थीं। इन स्त्रियों को व्यवहारिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक, धर्मशास्त्र एवं गृहविज्ञान सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। इस युग की प्रमुख विदुषी स्त्रियों एवं कावियित्रियों में रेवा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाही, वृद्धवही, शशिप्रभा, शिलोभट्टारिका, अवन्तिसुन्दरी, विजयानक, सुभद्रा, सीता भारती, मरूला, इन्दुलेखा, मोरिखा एवं विज्ञा इत्यादि के उल्लेख समकालीन साहित्य में प्राप्य है। पूर्व मध्ययुगीन राजनीतिक क्षेत्र में सामान्य वर्ग की स्त्रियों को प्रवेश का कोई अवसर उपलब्ध नहीं था केवल राजपरिवारों की ही स्त्रियाँ इसमें भाग लेती थीं। इस युग में राजपूत कन्याओं को अश्वारोहण, अस्त्र-शस्त्र संचालन विधि तथा राजनीति व राज्य में सम्बन्धित प्रत्येक पक्ष के ज्ञान हेतु विशेष शिक्षा प्रदान की जाती थी। शासन संचालन में स्त्रियों ने राजनीतिक बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था। इन रानियों में सुगंधा एवं दिद्दा, सोमल देवी, अक्का देवी और भैला देवी आदि विशेष प्रसिद्ध थीं। रानियाँ युद्ध क्षेत्र में भी वीरता का प्रदर्शन करती थीं। दाहिर की बहन रानीबाई, कुमारदेवी, रानी कर्णावती एवं जवाहिर बाई इत्यादि अनेक ऐसी वीर एवं कर्मठ रानियों के उदाहरण तत्युगीन साहित्य में प्राप्त होते हैं, जिन्होंने मातृ-भूमि की रक्षा हेतु युद्ध किया एवं कुशलतापूर्वक शासन-संचालन भी किया। स्त्रियाँ सदैव से ही पुरुषों की अपेक्षा धर्म के प्रति अधिक आकृष्ट थीं। धार्मिक क्रिया-विधियों तथा ईश्वर में उन्हें अपार श्रद्धा थी। शक्ति रूप में नारी की उपासना ने विभिन्न देवियों का सृजन

किया। पूर्वममध्यकाल में नारी को मोक्ष का मार्ग मानकर तान्त्रिक साधनों में प्रवृत्ति द्वारा सिद्धि तथा मुक्ति को कामोपभोग द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया गया। अवलोकित काल के साहित्य से यह ज्ञात होता है कि इस युग में शक्ति पूजा अत्यन्त प्रचलित हो चुकी थी तथा सृष्टि, पालन और संहार-कत्री के रूप में शक्ति की आराधना होने लगी।

साहित्य को समाज का वास्तविक प्रतिबिम्ब माना जाता है। साहित्य के माध्यम से किसी समाज के विचार, परम्परा, विश्वास, कार्य और लक्ष्य की सीधी अभिव्यक्ति होती है। ईसा की दसवीं शती से लेकर तेरहवीं शती तक बौद्ध एवं जैन धर्म प्रधान साहित्य के साथ ऐतिहासिक ग्रन्थ तथा इतिहास एवं साहित्य दोनों की विधाओं से संयुक्त अनेकानेक ग्रन्थों की रचना की गई जिनसे भारतीय समाज और संस्कृति पर विपुल प्रकाश पड़ता है।

प्राथमिक स्रोत

अग्निपुराण – संपादक राजेन्द्रलाल मिश्र, बिब्लियोथिका इंडिका, 1876

अथर्ववेद – सम्पादक आर. रौथ एवं डब्ल्यू. डी. ह्विटने, बर्लिन 1856; संपादक श्रीपाद शर्मा, औंधनगर – 1938

आदिपुराण – आचार्य जिनसेन कृत, दो भाग, भारतीय जनपीठ, काशी – 1951

आइने-अकबरी – अबुल फजल कृत, रॉयल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता – 1948

आपस्तम्ब ग्रह्यसूत्र – सुदर्शनाचार्य की टीका सहित, मैसूर गर्वमेन्ट संस्कृत लाइब्रेरी सीरीज

आपस्तम्ब धर्मसूत्र – सम्पादक – बुलर, बम्बई – 1932

आश्वलायन ग्रह्यसूत्र – नारायण की टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई – 1894

अर्थशास्त्र – कौटिल्य कृत, सम्पादक आर. शामशास्त्री मैसूर – 1919

अभिधानचिन्तामणि – हेमचन्द्र कृत, अभिधान संग्रह में संगृहीत, दो भाग, निर्णय सागर प्रेस बम्बई शक – 1818; चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी – 1964

अभिधान रत्नमाला – हलायुध कृत सम्पादक, जयशंकर जोशी वाराणसी शक – 1979

आर्य मंजूश्रीमूलकल्प – सम्पादक – टी गनपति शास्त्री, गर्वमेन्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम – 1920

ऐतरेय आरण्यक – सम्पादक – कीथ, ऑक्सफोर्ड – 1909

ऐतरेय ब्रह्मण – षडगुरूशिष्य कृत सुखप्रदावृत्ति सहित, त्रावणकोर विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम

बोधिसत्वदानकल्पलता – क्षेमन्द्र कृत, दो भाग, बिब्लयोथिका इंडिया, 1888

बृहदारण्यक पुराण – सम्पादक, एच. शास्त्री, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, 1891

बृहस्पति स्मृति – गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज – 1941

बृहत्कथा मंजरी – क्षेमेन्द्र कृत, सम्पादक-महामहोपाध्याय पंडित शिवदत एवं काशीनाथ पाडुंरंग परब, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई परब, निर्णय सागर प्रेम, बम्बई – 1931

बौधायन धर्मसूत्र – काशी संस्कृत सीरीज, – 1934

ब्रह्म पुराण – आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज – 1894

छान्दोग्य उपनिषद – सम्पा. – ओ. बोटलिंक, लिपजिंग, – 1899

चंदायन – मौलाना दाऊद दलभई कृत, सम्पादक – डा० परमेश्वरी लाल गुप्त, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, प्रथम संस्करण – 1964

दशकुमार चरित – दण्डिन कृत, सम्पा.एम. आर. काले, ओरिएण्टल पब्लिशिंग कम्पनी बम्बई –1917

दायभाग – जीमूतवाहन कृत, द्वतीय संस्करण सिद्धेश्वर प्रेस, कलकत्ता – 1893

देशीनाममाला – हेमचन्द्र कृत, सम्पा. आर. पिशेल द्वितीय संस्करण, बम्बई संस्कृत सारीज संख्या – XVII, 1938

द्वयाश्रय महाकाव्य – हेमचन्द्र कृत, दो भाग बम्बई संस्कृत सारीज – 1915, 1921

देवल स्मृति – आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना

दीघ निकाय – सम्पा. रीज़ डेविड्स एवं ई. कारपेन्टर, लन्दन 1890-1911, हिन्दी अनुवाद-राहुल सांकृत्यायन

देवल रानी खिज्र खाँ – अमीर खुसरो कृत, अलीगढ़ – 1917

ढोला मारू रा दुहा – सम्पा. रामसिंह सूर्यकरण पारेख एवं नरोत्तम स्वामी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, द्वितीय संस्करण संवत् – 2011, सारनाथ वाराणसी – 1936

गौतम धर्मसूत्र – अनुवादक – यू.सी. पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ – 1966

गोभिल गृह्य सूत्र – बिब्लियोथिका इंडिका सीरीज

गोरखवाणी – गोरखनाथ कृत, सम्पादक डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, तृतीय संस्करण, विक्रम संवत – 2017

हर्षचरित – बाणभट्ट कृत, सम्पादक – पी. वी. काणे बम्बई – 1918; ईश्वरचन्द विद्यासागर, कलकत्ता – 1883; फ्यूहरर, बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सोसायटी, सीरीज संख्या – LXVI; अनुवाद काबेल और थॉमस, रॉयल एशियाटिक सोसायटी – 1897

हश्त-बहिश्त – अमीर खुसरो कृत, सम्पा. मौलाना सैयद सुलेमान अशरफ-अलीगढ़ – 1918

हरिवंश पुराण – सम्पा. आर. किंजहडेकर पूना – 1936

जातक – सम्पादक-फाउसबोल्स, सात भाग, लन्दन 1877-97 अनुवाद ई.बी. कावेल

कादम्बरी – बाणभट्ट कृत, निर्णय सागर प्रेस – 1948

कर्पूरमंजरी – राजशेखर कृत, सम्पा. स्टेनकोनो, हावर्ड यूनिवर्सिटी – 1901

कथाकोष प्रकरण – जिनेश्वर सूरी कृत, भारतीय विद्या भवन, बम्बई – 1949

कथासरित्सागर – सोमदेव कृत, सम्पा. पंडित दुर्गाप्रसाद व काशीनाथ पांडुरंग निर्णय सागर प्रेस, बम्बई – 1930; अनुवाद टॉने, जे. सायर लिमिटेड लन्दन; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना – 1960

काव्यमीमांसा – राजशेखर कृत, सम्पा. – सी.डी. दलाल एवं आर. ए. शास्त्री, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ोदा – 1934

कीर्तिकौमुदी – सोमेश्वर कृत, सम्पा. ए.वी. कथावटे, गर्वमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, बम्बई – 1883

कुमार पाल प्रतिबोध – सोमप्रभ कृत, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज संख्या XIV, 1920

कुमारपाल चरित – हेमचन्द्र कृत, सम्पा. शंकर पांडुरंग पण्डित, भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना – 1936

कात्यायन स्मृति – संपादक – नारायणचन्द्र बन्दोपाध्याय कलकत्ता – 1917

कुमार संभव – कालिदास कृत, निर्णय सागर प्रेस बम्बई – 1927

कामन्दक नीतिसार – संपा – आर. मित्र, बिब्लियोथिका इंडिका – 1884

कुट्टनीमतम् – दामोदरगुप्त कृत, सम्पा – एम. कौल कलकत्ता – 1944, अनुवाद ई. पायस, मैथर्स, लन्दन

किरानुस-सा-दैन – अमीर खुसरो कृत, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, मार्च – 1871

कीर्तिलता – विद्यापति ठाकुर कृत, सम्पा. वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रकाशक-साहित्य सदन चिरगाँव (झांसी) – 1962

लेखपद्धति – गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज – 1925

लटकमेलक – शंखधर कृत, निर्णय सागर प्रेस – 1889

लैला-मझनूँ – अमीर खुसरो कृत, नवल किशोर प्रेस, तृतीय संस्करण, दिसम्बर – 1880

महाभारत – नीलकंठ की टीका सहित, पूना – 1929-33 अनुवाद – एम.एन. दत्त, कलकत्ता – 1895-1905

महापुराण (आदि पुराण) – आचार्य जिनसेन कृत, दो भाग भारतीय जनपीठ, काशी – 1951

मानसोल्लास – सोमेश्वर कृत दो भाग, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज – 1926, 1939

मत्स्य पुराण – आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना – 1907

कविता कौमुदी – अमीर खुसरो कृत, संपा – रामनरेश त्रिपाठी, नवनीत प्रकाशन, बम्बई अष्टम संस्करण – 1954

मिताक्षरा	– विज्ञानेश्वर कृत (याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य) निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1909; सेक्रेड बुक्स ऑफ दि हिन्दू सीरीज, इलाहाबाद – 1918
मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ	– अनुवाद भूपेन्द्र नाथ दत्त, रामकृष्ण वेदान्त मठ, कलकत्ता – 1944
मैत्रायणी संहिता	– संपादक – वान सैचरेडर, लिपजिंग – 1881-86
मालविकाग्नि मित्रम्	– कालिदास कृत, संपादक – पी.एस. साने एवं जी गोडबोले, बम्बई – 1950
मनुस्मृति	– संपा. – जौली, लन्दन 1887; कुल्लूक भट्ट की टीका सहित, बम्बई 1946
मनुस्मृति	– मेघातिथि की टीका सहित, सम्पादक – जी.एन. झा एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल – 1932;
मार्कण्डेय पुराण	– सम्पादक – के.एम. बनर्जी, बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता – 1862
महाभाष्य	– पतंजलि कृत, सम्पादक कीलहार्न – 3 खण्ड, बम्बई
मतला-उल-अनवार	– अमीर खुसरो कृत, दो भागों में, लखनऊ – 1884, पुनः वही, प्रकाशक मुर्तजाबाई प्रेस, दिल्ली
नैषधीय चरित	– श्री हर्ष कृत, निर्णय सागर प्रेस 1933; अनुवाद के.के. हाण्डक्यू, पंजाब ओरिएण्टल सीरीज, संख्या XXIII, 1934
नारद स्मृति	– संपादक, कलकत्ता – 1885 एवं अनुवाक, जौली, आक्सफोर्ड – 1889

नवसाहसांक चरित – पद्मगुप्त कृत, बम्बई संस्कृत सीरीज संख्या LIII, 1895

नूह-सिपेहर – अमीर खुसरो कृत, सम्पा. मुहम्मद वाहिद मिर्जा, पब्लिश्ड फॉर दि इस्लामिक रिसर्च एसोशिएशन, प्रकाशक, ज्योफ्रे कम्बरलेज (आई.आर.ए. सीरीज न. 12) ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस कलकत्ता – 1950

पद्म पुराण – सृष्टि कांड, सम्पा. बी.एन. मांडलिक, चार भाग आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना – 1894

पाराशर धर्म संहिता – माध्वाचार्य की टीका सहित, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता

पारस्कर गृह्य सूत्र – गुजराती प्रेस संस्करण – 1917

परिशिष्टपर्वन – हेमचन्द्र कृत, सम्पा. एच. जैकोबी कलकत्ता – 1863

प्रबन्ध चिन्तामणि – मेरुतुंग कृत, सम्पादक जिनविजय मुनि शान्तिनिकेतन – 1933 अनुवाद सी.एच. टॉनवे कलकत्ता – 1901

प्रभावक्क चरित – प्रभचन्द्र सूरि कृत, निर्णय सागर प्रेस – 1909; सिंगही जैन सीरीज, अहमदाबाद, कलकत्ता – 1940

प्रबोध चन्द्रोदय – कृष्ण मिश्रा कृत, संपादक के. एस. शास्त्री, गर्वमेन्ट पब्लिकेशन त्रिवेन्द्रम – 1936

प्राकृत पैंगलम – सम्पादक – डा. भोलाशंकर व्यास, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी वाराणसी – 1959

प्राकृत व्याकरण – हेमचन्द्र कृत, बम्बई – 1905

पृथ्वीराज रासो – चन्दबरदाई कृत, चार भाग, सम्पादक कविराज मोहनसिंह, साहित्य संस्थान विश्वविद्यापीठ उदयपुर, राजस्थान, विक्रम संवत् – 2011-2012

पृथ्वीराज विजय – जयानक कृत, सम्पादक जी.एच. झा एवं चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अजमेर – 1941

प्रजापति स्मृति – (स्मृतिनाम समुच्चय में) सम्पादक – वी.जी. अपाटे, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना – 1929

पुरातन प्रबन्ध संग्रह – संपादक जिनविजय मुनि, कलकत्ता – 1926

परमाल रासो – संपादक डा. श्याम सुन्दर दास

रास और रसान्वयी काव्य – संपा. – डा. दशरथ ओझा एवं दशरथ शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, वाराणसी, सं – 2016

रघुवंश – कालिदास कृत, सम्पादक - काशीनाथ पांडुरंग परब, बम्बई – 1882

राजतरंगिणी – कल्हण कृत, सम्पादक - एम.ए. स्टीन बम्बई – 1892, अनुवादक एम.ए. स्टीन, वेंस्टमिंस्टर 1900; अनुवादक आर.एस. पंडित, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद – 1935; सम्पादक, दुर्गा प्रसाद, बम्बई 1892-6; पंडित पुस्तकालय काशी – 1960

रामचरित – संध्याकर नन्दीकृत, संपादक - एच.पी. शास्त्री, कलकत्ता – 1910

ऋग्वेद – संपादक, मैक्समूलर, द्वितीय संस्करण – 1890-92, वैदिक संशोधन मंडल, पूना-चार भाग

समराइच्चकहा – हरिभद्र सूरी कृत, सम्पादक एच. जैकोबी, कलकत्ता – 1926

समरांगड़सूत्रधार – भोज कृत, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज संख्या XXV, 1924

सन्देश रासक – अब्दुल रहमान कृत, सम्पादक, हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, प्रथम संस्करण – 1960

स्कन्द पुराण – वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई

स्मृति-चन्द्रिका – देवष्णभट्ट कृत, संस्कार काण्ड, अहिंका काण्ड, व्यवहार कांड, अशोक कांड श्रद्धा कांड, संपादक, एल श्रीनिवासचार्य मैसूर –1914

स्मृतिनाम समुच्चय – आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, संख्या 48, 1905

सुभाषित रत्नकोष – सम्पादक – डी.डी. कोसाम्बी एवं वी.वी. गोखले, हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस – 1957

शुक्रनीति – अनुवाद, बी.के. सरकार, पाणिनी ऑफिस, इलाहाबाद 1914; शुक्रनीति शास्त्र कलकत्ता – 1882

शतपथ ब्राह्मण – सम्पादक – ए. वेबर लन्दन 1885 अनुवाद – जे. एगलिंग, ऑक्सफोर्ड 1892-1900; अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय वाराणसी संवत् – 1994-97

संस्कार प्रकाश – चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

सुत्त निपात – संपादक – ऐंडरसन एवं स्मिथ, लन्दन 1948; राहुल सांकृत्यायन रंगून – 1937

त्रिशष्ठि-शलाका पुरुष-चरित	–	हेमचन्द्र कृत, अनुवाद, एच.एम. जानसन, दो भाग, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज संख्या (LI (1931) एवं LXXVII (1937)
तैत्तिरीय ब्राह्मण	–	संपादक – आर. मित्रा, कलकत्ता – 1815
तैत्तिरीय संहिता	–	संपादक – ए. वेबर, बर्लिन 1871-72 माधव की टीका सहित, कलकत्ता
तिलकमंजरी	–	धनपाल कृत, निर्णय सागर प्रेस बम्बई – 1903
उदय सुंदरी कथा	–	सोड्ढल कृत, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज संख्या XI, 1920
उक्ति-व्यक्ति प्रकरण	–	दामोदरपंडित कृत, सम्पादक-जिनविजय मुनि, बम्बई – 1953
उपमिति-भव-प्रपंच कथा	–	सिद्धर्षि कृत, संपादक पी. पैटरसन, कलकत्ता – 1899
वैजयन्ती	–	यादव प्रकाश कृत, सम्पादक-गुस्ताव ओपर्ट, गर्वमेन्ट प्रेस, मद्रास – 1893
वामन पुराण	–	वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई – 1929
वर्ण रत्नाकर	–	ज्योतिरीश्वर कवि शेखराचार्य कृत सम्पादक – सुनील कुमार चटर्जी एवं बबुआ मिश्र, एशियाटिक सोसायटी बंगाल – 1940
विक्रमांकदेव चरित	–	बिल्हण कृत, सम्पादक – जी. बुलर बम्बई संस्कृत सीरीज संख्या XIV, 1875

वीरमित्रोदय – मित्र मिश्र, चार भाग, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस – 1913

वीसलदेव रासो – नरपति नाल्ह कृत, सम्पादक माता प्रसाद गुप्त एवं अगरचन्द नाहटा हिन्दी परिषद्, विश्व विद्यापीठ प्रयाग, 1953

विष्णु पुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर

विष्णु धर्मोत्तर पुराण – वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई – 1912

विविध रत्नाकर – चण्डेश्वर कृत बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता – 1887

वराह पुराण – संपादक हृषिकेश शास्त्री, बिब्लियोथिका इंडिका कलकत्ता – 1893

वाजसनेयी संहिता – सम्पादक – ए. वेबर, लन्दन – 1852

वशिष्ठ धर्मसूत्र – संपादक – ए. फ्यूहरर बम्बई – 1916

वायु पुराण – संपादक – आर.एल. मित्र, दो भाग बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता – 1880

विष्णु स्मृति – नन्दपण्डित कृत टीका के उद्धरणों सहित, सम्पादक जे. जॉली, बिब्लियोथिका इंडिका कलकत्ता – 1881

विश्वरूप – याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, त्रिवेन्द्रम

विनय-पिटक – अनुवाद रीज़ डेविड्स, आक्सफोर्ड, 1881-85 हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ – 1935

विद्यापति की पदावली – विद्यापति ठाकुर, सम्पादक श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, प्रकाशक – हिन्दी पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, प्रथम

संस्करण – 1892; सम्पादक वसन्त कुमार माथुर, प्रकाशक – भारतीय भाषा भवन दिल्ली – 1952

यशस्तिलक चम्पू-महाकाव्य – सोमदेव कृत, सम्पादन एवं अनुवाद – सुन्दर लाल शास्त्री वाराणसी – 1960

याज्ञवल्क्य स्मृति – अपरार्क की टीका सहित, दो भाग सम्पादक – हरि नारायण आपटे आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़ संख्या 46, पूना – 1903-4

याज्ञवल्क्य स्मृति – वीरमित्रोदय और मिताक्षरा टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ बनारस – 1930

युक्ति-कल्प-तरु – भोज कृत, सम्पादन – ईश्वर चन्द शास्त्री, कलकत्ता – 1917

प्रारम्भिक मुस्लिम विद्वानों, विदेशी यात्रियों के वृतान्त, आदि

(1) अलबेरूनी का भारत – अनुवाद रजनीकान्त शर्मा, सचाऊ कृत अंग्रेजी अनुवाद से अनुदित

(2) अबूरेहान अलबेरूनी – अलबेरूनी इंडिया (दो भागों में) अनुवाद – डा. एडवर्ड सी सचाऊ, प्रकाशक एस. चाँद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली प्रथम भारतीय पुनर्मुद्रण – 1964

(3) इब्नबतूता – (i) वायजेज डी इब्नबतूता (तुहफतन नज़र फी घराइबुल अमसर वा अजायबुल अफसार) टेक्स्ट ऐरेबी अकम्पेन इ्यन ट्रैडुक्सन पार सी. डिफ्रेमरी एट, डा. बी. आर. सैंगुइनेत्ती 4 टोम्स (पेरिस) 1914

– (ii) दि रेहला ऑफ इब्नबतूता, सटिप्पणी अनुवादकर्त्ता, डा. मेंहदी हुसैन, ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट बड़ोदा – 1953

– (iii) ट्रवेल्स ऑफ इब्नबतूता, अनुवादक – रेवरेन्ड सैमुएल ली लन्दन – 1829

(4) बील एस. – लाइफ ऑफ दि हुयेन सांग, लन्दन – 1911, चाइनीज एकाउन्ट्स ऑफ इंडिया, सुशील गुप्ता लिमिटेड, कलकत्ता – 1958

(5) इलियट एच. एम. एवं डाउसन जे. – हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड वाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, 8 भाग लन्दन – 1866-77, भाग दो का अलीगढ़ संस्करण एम. हबीब की प्रस्तावना के साथ, अलीगढ़ – 1952

(6) गिल्स एच. ए. – दि ट्रैवेल्स ऑफ फाहियान अथवा रिकार्ड ऑफ बुद्धिस्ट किंगडम्स, कैम्ब्रिज – 1923

(7) रेनाडॉट ई. – एन्शियेन्ट एकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया एण्ड चाइना बाइ टू मोहम्मडन ट्रेवलर्स, लन्दन

(8) वार्ट्स टी. – ऑन यूवान च्वांग ट्रेवेल्स इन इंडिया, सम्पादन टी. डब्ल्यू. रिज डेविड्स एवं एस. डब्ल्यू. बुशेल दो भाग, लन्दन 1904 एवं 1905

(9) यूल सर हेनरी – द बुक ऑफ सर मार्को पोलो अनुवादक एवं सम्पादक – सर हेनरी यूल, दो भाग, लन्दन 1903,
तृतीय संस्करण – हेनरी कार्डियर, दो भाग
लन्दन –1920

पुरातात्विक स्रोत

अग्रवाल वी. एस. – दि हेरिटेज ऑफ इंडियन आर्ट, पब्लिकेशन डिवीजन मिनिस्ट्री ऑफ इन्फारमेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग, गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया 1976

बनर्जी जे. एन. – डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, कलकत्ता 1959

भद्रसाली एन. के. – आइक्नोग्राफी ऑफ बुद्धिस्ट एण्ड ब्राह्मनीकल स्कल्पचर्स इन ढाका म्यूजियम, कलकत्ता 1958

भण्डारकर डी. आर. – लिस्ट ऑफ दि इंस्क्रिप्शंस ऑफ नार्दन इंडिया, परिशिष्ट एपिग्राफिया इंडिका – XIX–XXIII

गोपीनाथ राव – एलिमेंट्स ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी मद्रास – 1914

कनिंघम ए. – क्वायंस ऑफ मेडिवल इंडिया फ्राम दि सेवेंथ सेन्चुरी टू मोहम्मडन कॉनक्वेस्ट लन्दन – 1994

मिराशी वी. वी. – इंस्क्रिप्शंस ऑफ दि कल्चूरि चेदिइरा, कॉरपस इंस्क्रिप्शंस इंडिक्वेरम, वोल्यूम IV, दो भाग

मजूमदार एन. जी. – इंस्क्रिप्शंस ऑफ बंगाल, वोल्यूम III बरेन्द्र रिसर्च सोसायटी, बंगाल 1954

पैटरसन पी. – ए कलेक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इंस्क्रिप्शंस, भावनगर आर्कियोलॉजिकल डिपार्टमेन्ट, भावनगर – 1905

सरकार डी. सी. – सलेक्ट इंस्क्रिप्शंस बियरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, भाग – I कलकत्ता – 1942

स्मिथ बी. – केटलाग आफ दि क्वायंस इन दी इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता

हिन्दी साहित्येतिहास सन्दर्भ ग्रन्थ

हिन्दी साहित्य का आदिकाल – डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, राष्ट्रभाषा परिषद् – 1952

हिन्दी साहित्य की भूमिका – डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई – 1948

हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी – 1945

अपभ्रंश काव्ययत्री – लालचन्द्र भगवानदास गाँधी, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा

आधुनिक हिन्दी का आदिकाल – श्री नारायण चतुर्वेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद – 1973

हिन्दी साहित्य का इतिहास – डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, ग्यारहवाँ संस्करण – 1974

हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास – सम्पादक – डा. राजबली पाण्डेय नागरी प्रचारिणी सभा – संवत – 2017

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – डा. रामकुमार वर्मा, तृतीय संस्करण – 1954

हिन्दी रासो काव्य परम्परा – डा. सुमन राजे, ग्रन्थम रामबाग कानपुर – 1973

हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका – मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल – 1973

हिन्दी वीर काव्य संग्रह – सम्पादक – गणेश प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद 1956

हिन्दी साहित्य	– डा. श्यामसुन्दर दास, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद
प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका	– डा. रामजी उपाध्याय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद – 1966
प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा हिन्दी साहित्य पर प्रभाव	– रामसिंह तोमर, हिन्दी परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय – 1963
प्राकृत साहित्य का इतिहास ई. पू. 500 से 1800 ई. तक	– डा. जगदीश जैन, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी – 1961
रासो साहित्य विमर्श	– डा. माता प्रसाद गुप्त, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद 1962
राजस्थान के पिंगल साहित्य का इतिहास	– डा. मोतीलाल मेनारिया, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई – 1958
वीर-काव्य	– सम्पादक – उदयनारायण तिवारी, प्रकाशक – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद संवत् – 2005

सहायक स्रोत-हिन्दी ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेवशरण – हर्षचरित का एक सांस्कृतिक अध्ययन पटना – 1953

अग्रवाल, वासुदेवशरण – कादम्बरी का सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी – 1958

अलबेरूनी का भारत – अनुवादक, सन्तराम, प्रकाशक इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग – 1924

अलबेरुनी का भारत – अनुवादक, रजनीकान्त शर्मा, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, 492 मालवीय नगर, इलाहाबाद 1967

अल्लामा अब्दुल्लाह यूसुफ अली – व्याख्याता, मध्यकालीन भारत की सामाजिक और आर्थिक अवस्था हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग – 1929

आचार्य प्रसन्न कुमार – भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

अत्रिवेद विद्यालंकार – प्राचीन भारत के प्रसाधन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी – 1958

दुबे, सत्यमित्र – मनु की समाज व्यवस्था, किताब महल प्रथम संस्करण – 1964

द्विवेदी हजारी प्रसाद – नाथ सम्प्रदाय, इलाहाबाद – 1950

द्विवेदी हजारी प्रसाद – नाथ सिद्धों की वाणियाँ, नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रथम संस्करण संवत् – 2014

द्विवेदी हजारी प्रसाद – प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई

डा. हुसैन यूसुफ – मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति (एक झलक) अनुवादक

डा. मुहम्मद उमर, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

मेहता उमाशंकर – मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा – 1963

मोतीचन्द्र – प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भारती भण्डार, प्रयाग संवत् – 2007

मिश्र उमेश – विद्यापति ठाकुर, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद 1949

डा. मुकर्जी राधाकमल – भारतीय संस्कृति और कला, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली

मिश्र जयशंकर – ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी – 1968

नदवी एस. एस. – अरब भारत के सम्बन्ध, इलाहाबाद – 1930

ओझा जी. एच. – राजपूताना का इतिहास, भाग-एक अजमेर–1937

ओझा जी. एच. – मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (600-1200 ई) हिन्दुस्तानी एकेडमी – 1951

पाण्डेय राजबली – हिन्दू संस्कार, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

पाण्डेय ए. बी. – पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, कानपुर – 1954

पाण्डेय विमलचन्द्र – भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडमी उत्तर प्रदेश इलाहाबाद प्रथम संस्करण – 1960

राय मन्थन – प्राचीन भारतीय मनोरंजन, भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद

रिजवी सैयद अतहर अब्बास – आदि तुर्क कालीन भारत (1206 ई. – 1290 ई.) हिस्ट्री डिपार्टमेन्ट अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़ – 1956

डा. शर्मा राजपाल – हिन्दी वीर काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, आदर्श साहित्य प्रकाशन दिल्ली

डा. साहू किशोरी प्रसाद – मध्यकालीन उत्तर भारतीय सामाजिक जीवन के कुछ पक्ष, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना – 1981

शर्मा रामशरण – पूर्वकालीन भारतीय समाज तथा अर्थव्यवस्था पर प्रकाश, दिल्ली – 1977

शर्मा रामशरण – पूर्व मध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन, दिल्ली

तिवारी सुरेन्द्र – अमीर खुसरो, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

त्रिपाठी चन्द्रबली – भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास, प्रथम संस्करण – 1936

डा. त्रिवेदी विपिन बिहारी – चन्द्रबरदाई और उनका काव्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

उपाध्याय रामजी – प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका लोकभारती प्रकाशन – 1966

डा. उपाध्याय भगवतशरण – भारतीय संस्कृति के स्रोत, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस – 1973

सहायक स्रोत-अंग्रेजी

अल्तेकर एस. एस. – दि पोजीशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, द्वितीय संस्करण – 1959

अल्तेकर, ए. एस. – एजूकेशन इन एन्शियेन्ट इंडिया, नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स बनारस, तृतीय संस्करण – 1948

अल्तेकर, ए. एस. – राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स पूना – 1934

अल्तेकर, ए. एस. – स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियेन्ट इंडिया, बनारस – 1949

आयंगर, के. वी. आर. – हिन्दू विव्यू ऑफ लाइफ एकार्डिंग टू धर्मशास्त्र, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा – 1932

अशरफ, के. एम. – लाइफ एण्ड कंडीशन ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान नई दिल्ली – 1959

अजीज अहमद – पोलिटिकल हिस्ट्री एण्ड इन्स्टीट्यूशन ऑफ दि अर्ली टर्किश एम्पायर ऑफ देहली, लाहौर – 1949

अजीज अहमद – स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन दि इण्डियन एन्वायरमेन्ट, कैलेरेन्डन प्रेस आक्सफोर्ड – 1964

अहलूवालिया, एम. एस. – मुस्लिम एक्सपेन्शन इन राजस्थान, दिल्ली – 1978

बाशम ए. एल. – दि वन्डर दैट वाज इंडिया, फोन्टाना – 1971

बाशम ए. एल. – स्टडीज इन एन्शियेन्ट हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता 1964

भण्डारकर, आर. जी. – वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम, पूना – 1929, हिन्दी अनुवाद, डा. माहेश्वरी प्रसाद, बनारस – 1967

भट्टाचार्या, एच. डी. – सम्पादक, दि कल्चरल हेरिटेड ऑफ इंडिया, वोल्यूम III, कलकत्ता 1953, वोल्यूम IV, 1956

बोस, एन. एस. – हिस्ट्री ऑफ चन्देल्स कलकत्ता – 1956

ब्रजभूषण जमीला – इण्डियन ज्वेलरी, ऑरनामेन्ट्स एण्ड डेकोरेटिव डिजाइन्स, तारपोरेवाला, सन्स एण्ड कम्पनी लिमिटेड, बम्बई

बट्स आर. एफ. – ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन, न्यूयार्क – 1947

बोस शिवचन्द्र – दि हिन्दूज ऐज दे आर, कलकत्ता 1881

बेवेरिज हेनरी – ए कम्प्रिहेन्सिव इस्ट्री ऑफ इन्डिया तीन भागों में, लन्दन

भट्टाचार्या, जोगेन्द्रनाथ – हिन्दू कास्ट्म एण्ड सेक्ट्स, थक्कर स्पिंक एण्ड कम्पनी कलकत्ता 1989

बनर्जी, जी. डी. – हिन्दू लॉ ऑफ स्त्रीधन, कलकत्ता – 1923

बेदर सी. – वुमैन इन एन्शियेन्ट इन्डिया, अनुवाद – मेरी ई. आर. मार्टिन, वाराणसी – 1964

बनर्जी, ए. सी. – दि स्टेट सोसायटी इन नार्दर्न इंडिया, कलकत्ता – 1982

भट्टाचार्या, वी. – दि स्पिरिट ऑफ इंडियन कल्चर, दिल्ली – 1980

बहादुर, के. पी. – कास्ट, ट्राइब एण्ड कल्चर ऑफ एन्शियेन्ट इंडिया, 1978

भार्गव, के. डी. – ए सर्वे ऑफ इस्लामिक कल्चर एण्ड इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद 1961

चन्द तारा – इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर, इलाहाबाद – 1963

चौधरी, जी. सी. – पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दन इंडिया फ्राम जैन सोर्सेस (650 ई. – 1300 ई.) अमृतसर – 1963

चौधरी, जे. डी. – कन्ट्रीब्यूशन ऑफ वीमेन टू संस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता – 1948

चौधरी, एस. बी. – एथनिक सेटेलमेन्ट्स इन एन्शियेन्ट इंडिया, कलकत्ता – 1955

चटर्जी, एस. के. – भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, दिल्ली एवं बम्बई – 1954

कोरिंगटन, के. दी. बी. – मेडविल इंडियन स्कल्पचर, लन्दन 1927

क्रुक विलियम – रिलीजन एण्ड फोकलोर ऑफ नार्दन इंडिया, न्यू दिल्ली

कूपर ई. – दि हरम एण्ड द परदा, टी. फिशर अनविन लिमिटेड कलकत्ता – 1915

चोपड़ा, प्राण नाथ – सम आस्पेक्ट्स ऑफ सोशल लाइफ ड्यूरिंग मुगल एज, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा प्रथम संसकरण – 1963

चकलधर, एच. सी. – सोशल लाइफ इन एन्शियेन्ट इंडिया कलकत्ता – 1929

दास, एस. के. – दि एजूकेशनल सिस्टम ऑफ दि एन्शियेन्ट हिन्दूज, कलकत्ता – 1930

दफ्तरी, के. एल. – दि सोशल इंस्ट्रीट्यूट इन एन्शियेन्ट, इंडिया, नागपुर – 1947

दूबॉयस, अब्बे जे. ए. – हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड सेरेमानिज, कैलेरेन्डन प्रेस ऑक्सफोर्ड – 1897

दत्त, भूपेन्द्रनाथ – स्टडीज इन इण्डियन सोशल पॉलिटि कलकत्ता, प्रथम बार प्रकाशित – 1944

दत्त, भूपेन्द्रनाथ – हिन्दू लॉ ऑफ इन्हेरिटेन्स कलकत्ता, 1957

द्विवेदी, हजारी प्रसाद – मध्यकालीन धर्म सदन, इलाहाबाद – 1952

दत्त, आर. सी. – लेटर हिन्दू सिविलाइजेशन – 500 से 1200 ई. चतुर्थ संस्करण कलकत्ता 1965.

डे, यू. एन. – सम आस्पेक्ट्स ऑफ मेडिवल इंडियन हिस्ट्री, दिल्ली – 1971

डे. यू. एन. – मेडविल मालवा, दिल्ली – 1965

हेग डब्ल्यू. – कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जिल्द तीन, 1928

दासगुप्ता तथा दे एस. के. – हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर कलकत्ता – 1947

दत्त, एन. के. – ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इंडिया, दो भाग कलकत्ता 1965

इंजेल्स एफ. – दि ओरिजिन ऑफ दि फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी एण्ड दि स्टेट, मॉस्को – 1952

इलियट चार्ल्स – हिन्दूज्म एण्ड बुद्धिज्म, दो भाग, लन्दन 1921

एलफिस्टोन, माउन्टस्टुअर्ट – दि हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (दि हिन्दू एण्ड मोहम्मडन पीरियड्स) जॉन मर्रे लन्दन चतुर्थ संस्करण 1957

फरक्यूहर जे. एन. – आउटलाइन ऑफ रिलीजियस लिटरेचर ऑफ इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस – 1921

फ्यूलर ए. – द शर्की आर्किटेक्चर ऑफ जौनपुर, वाराणसी – 1971

फरक्यूहर जे. एन. – माडर्न रेलिजियस मूवमेंट्स इन इंडिया, लन्दन – 1924

फिक आर. – सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ इस्टर्न इंडिया, कलकत्ता – 1920

गांगुली, डी. सी. – हिस्ट्री ऑफ परमार डायनेस्टी, ढाका – 1993

घोषाल, यू. एन. – स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता – 1917

घोषाल, यू. एन. – ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पब्लिक लाइफ, बम्बई – 1966

गांगुली, ओ. सी. – दि आर्ट ऑफ दि चन्देल्स, कलकत्ता 1957

गोपाल एल. – दि इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दन इंडिया, वाराणसी – 1965

घुरये, जी. एस. – कास्ट एण्ड क्लास इन इंडिया, द्वितीय संस्करण, बम्बई 1957

घुरये, जी. एस. – सोशल टेन्शन इन इंडिया, बम्बई 1968

घुरये, जी. एस. – कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन बम्बई 1961

घुरये, जी. एस. – इंडियन कास्ट्यूम्स, पापुलर बुक डिपो बम्बई –1951

गोड, पी. के. – स्टडीज इन इंडियन लिटररी हिस्ट्री बम्बई –1953

ग्रियर्सन जी. ए. – दि माडर्न बर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान, कलकत्ता 1889

ग्रियर्सन जी. एस. – स्टडीज इन मेडिकल इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर इलाहाबाद – 1966

गुप्ता, एस. पी. – कास्ट्यूम्स, टेक्सटाइल्स, कॉस्मेटिक्स एण्ड कॉफ्योर इन एन्शियेन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, दिल्ली – 1973

हबीबुल्लाह, ए. बी. एम. – दि फाउन्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, इलाहाबाद – 1976

हबीब मुहम्मद – हजरत अमरी खुसरो ऑफ देलही, बम्बई – 1927

हबीब मुहम्मद एवं के. ए. निजामी – ए कॉम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पाँच भाग, बम्बई – 1970

हार्डी पी. – हिस्टोरियन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, लन्दन – 1966

हेग डब्ल्यू. – दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया तीन भाग, कैम्ब्रिज – 1928

हित्ती पी. के. – दि अरब्स – ए शॉर्ट हिस्ट्री, लन्दन – 1948

हार्नर आई. बी. – वुमैन अंडर प्रिमिटेव बुद्धिज्म दिल्ली – 1975

होपकिन्स, एडवर्ड डब्ल्यू. – दि सोशल एण्ड मिलिटरी पोजीशन ऑफ रूलिंग कास्ट इन एन्शियेन्ट इंडिया, वाराणसी – 1972

हुसैन युसुफ – ग्लिम्पसेज ऑफ मेडिवल इंडियन कल्चर, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई – 1972

हटन, जे. एच. – कास्ट इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन, चतुर्थ संस्करण 1963

हैवेल, ई. बी. – दि हिस्ट्री ऑफ आर्यन रूल इन इण्डिया, जार्ज जी. हैरेप एण्ड कम्पनी लिमिटेड लन्दन – 1918

होदीवाला एस. – स्टडीज इन इण्डो मुस्लिम हिस्ट्री, बम्बई – 1939

हण्डीक्यू के. के. – यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर जिवाराजा जैन ग्रन्थमाला, संख्या – 2 1940

हजारा, आर. सी. – पौराणिक रिकॉर्ड्स आफ हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, कलकत्ता संस्कृत कालेज रिसर्च सीरीज

हुसैन यूसुफ – इण्डो–मुस्लिम पॉलिटी, शिमला – 1971

इन्द्रा प्रोफेसर – दि स्टेट्स ऑफ वुमैन इन एन्शियेन्ट इण्डिया, बनारस – 1955

जिंदल, के. के. – ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर इलाहाबाद– 1955

जाफर, एस. एम. – एजूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया, प्रकाशक एन. मुहम्मद सादिक खाँ, पेशावर – 1936

जाफर, एस. एम. – सम कल्चरल आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पेशावर 1939

जायसवाल, के. पी. – हिन्दू पॉलिटी कलकत्ता – 1924, द्वितीय संस्करण, बंगलोर – 1943

जौली जे. – हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम्स, कलकत्ता – 1928

काणे, पी. वी. – हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पांच भाग भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना – 1930

काँटावाला, जी. के. – कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम दि मत्स्य पुराण, बड़ोदा – 1964

कीथ, ए. बी. – ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, ऑक्सफोर्ड – 1953

कोसाम्बी, डी. डी. – एन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, बम्बई – 1956

कोसाम्बी, डी. डी. – एन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, बम्बई – 1956

कोसाम्बी, डी. डी – दि कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑफ एन्शियेन्ट इंडिया, इन हिस्टोरिकल आउटलुक, दिल्ली – 1975

किदवई, शेख एम. एन. – वुमेन अन्डर डिफरेन्ट सोशल एण्ड रिलीजियस लॉज – दिल्ली – 1976

की. एफ. ई. – एन्शियेन्ट इंडियन एजुकेशन, हम्फेरी मिलफोर्ड, लन्दन 1918

की. एफ. ई. – इण्डियन एजुकेशन इन एन्शियेन्ट एण्ड लेटर टाइम्स, डॅडली ब्रदर्स, किंग्सवे, लन्दन 1938

की. एफ. ई. – ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर (दि हेरिटेज ऑफ इण्डिया सीरीज) रसेल स्ट्रीट कलकत्ता – 1933

कुमारस्वामी, ए. के. – सती, लन्दन – 1913

लाल, किशोरी शरण – स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री, रंजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली – 1966

लूनिया, बी. एन. – इवौल्यूशन ऑफ इण्डियन कल्चर, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा, चतुर्थ संस्करण – 1967

लूनिया, बी. एन. – सम हिस्टोरियन्स ऑफ मेडिवल इंडिया, आगरा, प्रथम संस्करण 1969

लेनपूल, स्टेनले – मेडिवल इण्डिया अण्डर मोहम्मडन रूल (712–1764 ई.) भाग –I, कलकत्ता 1951

लॉ, एन. एन. – स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता – 1925

लतीफ, अब्दुल सैयद – एन आउटलाइन ऑफ दि कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, हैदराबाद – 1958

मजूमदार, ए. के. – चालुक्याज ऑफ गुजरात, बम्बई – 1956

मजूमदार, डी. एन. – रेसेज एण्ड कल्चर ऑफ इण्डिया बम्बई – 1961

मजूमदार, आर. सी. – कारपोरेट लाइफ इन एन्शियेन्ट इण्डिया, कलकत्ता – 1922

मजूमदार, आर. सी. – सम्पादक दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल भारतीय विद्या भवन, बम्बई – 1957

मजूमदार, आर. सी. – दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी बम्बई – 1953

मजूमदार, आर. सी. – दि एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई – 1955

मजूमदार, आर. सी. एवं माध्वानन्द – ग्रेट वुमैन ऑफ इण्डिया, अल्मोड़ा 1953

मजूमदार, बी. पी. – दि सोशियो एकोनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया (11 वीं. एवं 12 वीं शताब्दी), कलकत्ता – 1960

मिराशी, वी. वी. – कल्चूरि नरेश और उनका शासन काल भोपाल, विक्रम संवत् – 2002

मुकर्जी, आर. के. – एन्शियेन्ट इंडियन एजूकेशन लन्दन – 1951

मुजीब, एम. – दि इण्डियन मुस्लिम, लन्दन – 1967

मुकर्जी, राधा कमल – दि इण्डियन स्कीम ऑफ लाइफ बम्बई – 1951

मुंशी, के. एम. – ग्लोरी दैड वाज गुर्जर देश, भाग दो बम्बई – 1955

मुंशी, के. एम. – सोमनाथ, बम्बई – 1952

मुकर्जी, सन्ध्या – सम आस्पेक्ट्स ऑफ सोशल लाइफ इन एन्शियेन्ट इण्डिया, इलाहाबाद 1976

मेनन, इन्दू एम. – स्टेट्स ऑफ मुस्लिम वुमैन इन इण्डिया, दिल्ली – 1981

मिराशी, वी. वी. – इन्सक्रिप्शंस ऑफ दि क्यूरिचेदि इरा – 1955

मूलर, एफ. मैक्स – सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट (भाग – 25) दि लॉज ऑफ मनु (मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद) आक्सफोर्ड 1886

मूलर, एफ. मैक्स. – सेलेक्टेड एजेज ऑफ लैगवेज माइथोलाजी एण्ड रिलीजन, भाग–I लौंगमेन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, लन्दन 1881

मजुमदार, आर. सी. एवं पुसालकर, ए. डी. – दि वैदिक एज, बम्बई 1955

मलिक, एम. सी. – इण्डियन सिविलाइजेशन, शिमला – 1968

मुकर्जी, आर. के. – एन्शियेन्ट इण्डिया, इलाहाबाद – 1956

मेयर्स, एडवर्ड डी. – एजूकेशन इन दि पर्सपेक्टिव ऑफ हिस्ट्री, लन्दन – 1963

नादवी, एस. एम. – अरब भारत के सम्बन्ध, इलाहाबाद 1930

नाग, कालिदास – ग्रेटर इण्डिया, बम्बई – 1960

नेगी, जे. एस. – सम इण्डोलॉजिकल स्टडीज, भाग – I इलाहाबाद 1966

नियोजी, रोमा – हिस्ट्री ऑफ चन्देल डायनेस्टी, कलकत्ता 1959

निजामी, के. ए. – सम ऑस्पेक्ट्स ऑफ रिलीजन एण्ड पोलिटिक्स इन इण्डिया ड्यूरिंग दि 13th सेन्चुरी, एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई –1961

निजामी, के. ए. – ऑन हिस्ट्री एण्ड हिस्टोरियन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, दिल्ली 1983

ओझा, डा. पी. एन. – आस्पेक्ट्स ऑफ मेडिवल इण्डियन कल्चर, पुस्तक भवन राँची – 1961

ओझा, पी. एन. – नार्थ इण्डियन सोशल लाइफ, दिल्ली 1975

पाण्डेय, ए. पी. – हिस्ट्री ऑफ बुन्देलखण्ड अण्डर दि चन्देल्स, डी. फिल. थीसिस इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

पाण्डेय, ए. बी. – सोसायटी एण्ड गवर्नमेन्ट इन मेडिवल इण्डिया, इलाहाबाद – 1965

पाण्डेय, आर. बी. – हिन्दू संस्कार, बनारस – 1949

पार्जिटर, एफ. ई. – एन्शियेन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, लन्दन – 1922

पाठक, वी. एस. – एन्शियेन्ट हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस – 1966

प्रभु, पी. एच. – हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, बम्बई 1954

पूल, जान एच. – फेमस वीमेन ऑफ इण्डिया, कलकत्ता 1954

पी. एल. रावत – हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एजूकेशन आगरा – 1956

प्रभाकर, मनोहर – कल्चरल हेरिटेज ऑफ राजस्थान, जयपुर – 1972

प्रसाद, बेनी – स्टेट इन एन्शियेन्ट इंडिया, इलाहाबाद 1928

प्रकाश, बुद्ध – स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन आगरा – 1962

प्रकाश, बुद्ध – आस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन आगरा – 1965

रे, एच. सी. – डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया भाग – 2 कलकत्ता – 1936

राधाकृष्णन, एस. – रिलीजन एण्ड सोसायटी, लन्दन – 1966

राशिद, ए. – सोसायटी एण्ड कल्चर इन मेडिवल इण्डिया, कलकत्ता – 1969

राबर्ट्स, राबर्ट – दि सोशल लॉज ऑफ कुरान, दिल्ली 1978

शास्त्री, ए. एम. ए. – आउटलाइन्स ऑफ दि इस्लामिक कल्चर, बंगलौर – 1938

श्रीवास्तव, डा. आशीर्वादी, लाल – मेडिवल इण्डियन कल्चर, आगरा प्रथम संस्करण – 1964

सरकार, सर जदुनाथ – इण्डिया थ्रू दि एजेज, प्रकाशक – एम सी. सरकार एण्ड सन्स, कलकत्ता 1950

सरकार, बी. के. – दि फोक एलिमेन्ट इन हिन्दू कल्चर, लन्दन – 1917

शास्त्री, के. ए. नीलकण्ठ – दि चोलाज, भाग दो मद्रास यूनिवर्सिटी सीरीज संख्या – 10, 1937

शास्त्री, शकुन्तला राव – वुमैन इन सेक्रेड लॉज, बम्बई – 1953

सेन, बी. सी. – सम हिस्टोरिकल आस्पेक्ट्स ऑफ दि इंस्क्रिप्शंस ऑफ बंगाल, कलकत्ता – 1942

स्मिथ, बी. ए. – दि ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड द्वितीय संस्करण – 1923

सेन, असीत कुमार – पीपुल एण्ड पॉलिटिक्स इन अरली मेडिवल इण्डिया (1206-1398) कलकत्ता – 1963

शर्मा, बी. एन. – सोशल लाइफ इन नार्दन इण्डिया (ई. 600 से 1000) दिल्ली – 1966

शर्मा, दशरथ – अर्ली चौहान डायनेस्टी, दिल्ली – 1959

शर्मा, दशरथ – राजस्थान थ्रू दि एजेज, भाग-एक बीकानेर – 1966

शर्मा, दशरथ – लेक्चर्स ऑन राजपूत हिस्ट्री एण्ड कल्चर, दिल्ली – 1970

शर्मा, आर. एस. – इण्डियन फ्यूडिलिज्म, कलकत्ता – 1965

शर्मा, आर. एस. – लाइट ऑन अर्ली इंडियन सोसायटी एण्ड इकोनॉमी, बम्बई – 1966

सिंह, आर. बी. – दि हिस्ट्री ऑफ चाहमान्स, वाराणसी 1064

सरकार, डी. सी. – एपिग्राफिक ग्लॉसरी, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली – 1966

सरकार, डी. सी. – इंडियन एपिग्राफी, मोतीलाल बनारसी दास 1965

स्मिथ, वी. ए. – दि आर्ट ऑफ इण्डिया एण्ड सिलोन ऑक्सफोर्ड – 1911

श्रीवास्तव, ए. एल. – मेडिवल इंडियन कल्चर, आगरा –1964

शर्मा, ब्रज नारायण – सोशल लाइफ इन नार्दन इंडिया, दिल्ली 1966

सोमानी, रामवल्लभ – हिस्ट्री ऑफ मेवाड़, जयपुर – 1976

थापर, रोमीला – एन्शियेन्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, दिल्ली – 1978

टॉड, जेम्स – एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान, भाग – एक व दो, लन्दन 1950

त्रिपाठी, आर. पी. – सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्टेशन, इलाहाबाद – 1978

टाइटस, एम. टी. – इण्डियन इस्लाम, लन्दन 1930 मद्रास – 1938

टायनबी, आरनल्ड – एन हिस्टोरियन्स एप्रोच टू रिलीजन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस – 1956

त्रिपाठी, आर. एस. – हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, बनारस – 1937

थॉमस, पी. – इण्डियन वीमेन थ्रू दि एजेज, एशिया पब्लिशिंग हाउस – बम्बई – 1964

ठाकुर, उपेन्द्र – सम आस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर – 1974

उपाध्याय, वी. – दि सोशियो रिलीजियस कन्डीशन्स ऑफ नार्दन इण्डिया (700-1200 ई.) वाराणसी – 1964

उदगाँवकर, पद्मा बी. – दि पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ नार्दन इण्डिया ड्यूरिंग मेडिवल टाइम्स (750 से 1200 ई.) दिल्ली – 1969

वेंकटेश्वर, एस. वी. – इण्डियन कल्चर थ्रू दि एजेज भाग एक, लौंगमेन्स – 1928

वैद्य, सी. वी. – हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया तीन खण्डों में, पूना 1921

विद्याभूषण, सतीशचन्द्र – हिस्ट्री ऑफ दि मेडिवल स्कूल ऑफ इण्डियन लॉजिक, कलकत्ता यूनिवर्सिटी – 1909

विंटरनित्ज, एम. – हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर तीन भागों में, भाग एक, अनुवादक सुभद्रा झा, मोतीलाल बनारसी दास – 1963

यूसुफ, अली ए. – मेडिवल इण्डिया सोशियो एण्ड इकोनॉमिक कण्डीशन्स, लन्दन 1932

यादव, बी. एन. एस. – सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इंडिया इन ट्वेल्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद – 1973

जैदी, सैयद एम. एच. – पोजीशन ऑफ वुमैन अन्डर इस्लाम – कलकत्ता – 1935

जर्नल तथा रिपोर्ट

(1) इण्डियन कल्चर

(2) इण्डियन आर्काइब्स

(3) इण्डियन एन्टिक्वेरी

(4) अध्ययन, इलाहाबाद

(5) एनल्स ऑफ दि भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना

(6) इलाहाबाद यूनिवर्सिटीज स्टडीज

(7) जर्नल ऑफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट

(8) जर्नल ऑफ दि न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया

(9) जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई शाखा

(10) जर्नल ऑफ अलीगढ़ हिस्टोरिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट

(11) इंडियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली

(12) जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री

(13) जर्नल ऑफ उत्तर प्रदेश हिस्टोरिकल सोसायटी

(14) मेडिवल इण्डियन क्वाटर्ली भाग-तीन

(15) मुस्लिम यूनिवर्सिटी जर्नल, मार्च 1943,
भाग – I, अक्टूबर 1938 भाग 5, संख्या – 2

(16) प्रोसीडिंग्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस – 1946, पटना

(17) दि मुस्लिम रिव्यू

(18) एनुअल रिपोर्ट ऑफ राजपूताना म्यूजियम, अजमेर

(19) एप्रिग्राफिका इंडिका – भाग – I, ix, xviii, xx, xxii

(20) एन्शियेन्ट इंडिया, बुलेटिन ऑफ आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया

(21) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी

(22) राजस्थान भारती

(23) हिन्दी अनुशीलन

(24) हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

शोध प्रबन्ध

(1) बी. एन. एस. यादव – सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन दि ट्वेल्थ सेन्चुरी (प्रकाशित) सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद – 1973

(2) गौरी रानी बनर्जी – सम आस्पेक्ट्स ऑफ दि पोजीशन ऑफ वुमैन इन ऐन्शियेन्ट इंडिया, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी – 1942